मूल्य
प्रति खण्ड रु० 75 00
सम्पूर्ण सैट रु० 600 00

द्वितीय संस्करण
मार्च, 1983

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्रा लि
8 नेताजी सुभाष मार्ग,
नयी दिल्ली - 110 002

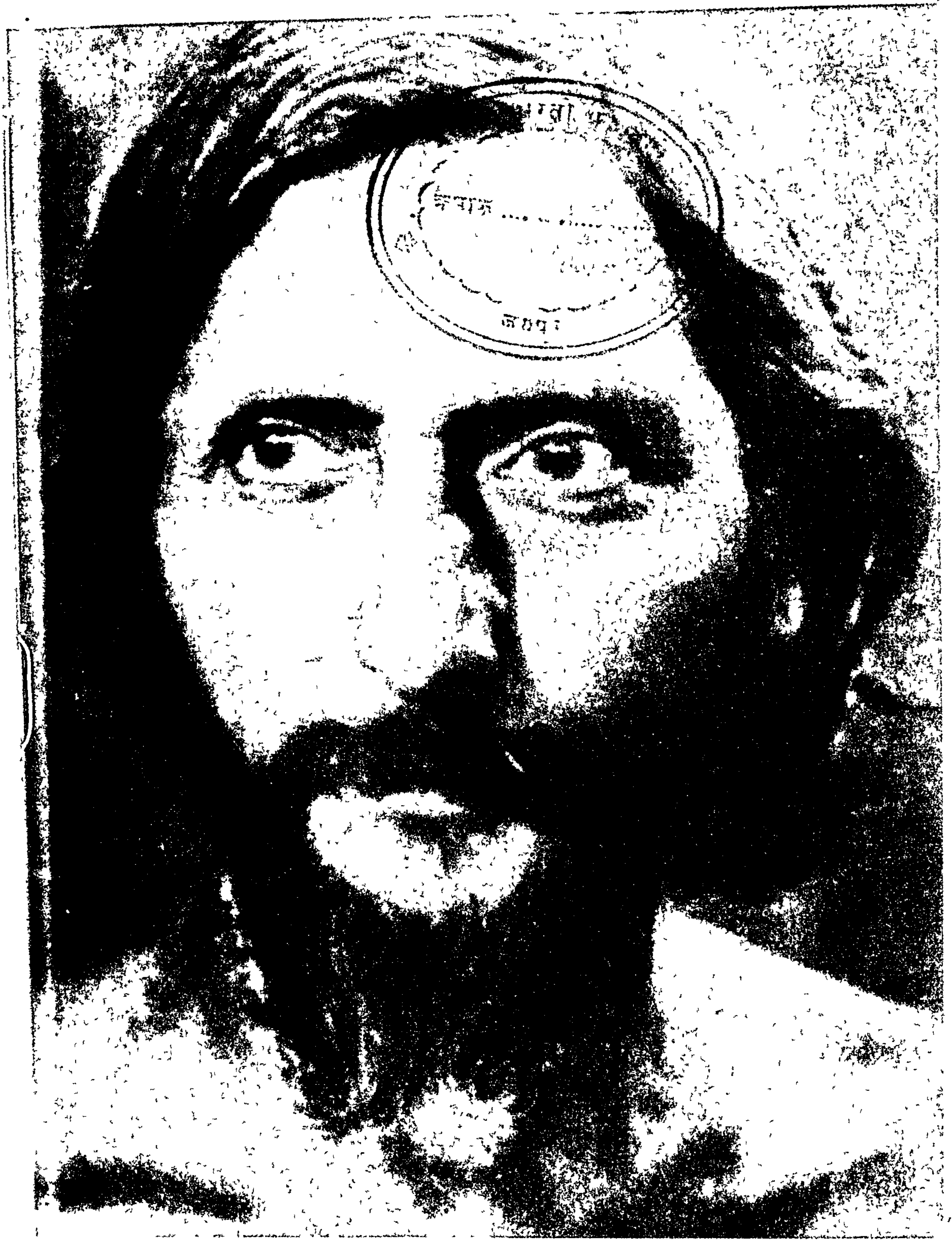
मुद्रक
रुचिका प्रिन्टर्स
नवीन शाहदरा
दिल्ली - 110 032

आवरण तथा
प्रारम्भिक पृष्ठ .
प्रभात आफसेट प्रेस,
दरियागज, नयी दिल्ली

कला-पक्ष
आवरण के लिए
निराला का रेखाकन
हरिपाल त्यागी

कला - सयोजना
चाँद चौधरी

NIRALA
RACHANAVALI
Collected Works of
Suryakant Tripathi 'Nirala'









1941

श्री अमृतलाल नागर के साथ



साहित्यकार संसद, रसूलाबाद मे
महादेवी वर्मा और इलाचन्द्र जोशी के साथ

आभार

निराला रचनावली प्रकाशित हो रही है, यह राजकमल के लिए गौरव की बात है। जिस प्रकार महाकवि की जीवन-यात्रा संघर्षपूर्ण रही, उसी प्रकार इस **रचनावली** के प्रकाशन मे तरह-तरह की कठिनाइयाँ और बाधाएँ सामने आयी। किन्तु बड़े धैर्य के साथ हमने सभी कठिनाइयो को हल किया और इसके प्रकाशन में सभी निराला-प्रेमियो का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग हमें मिला।

रचनावली में भारती भण्डार, इलाहाबाद, की आठ पुस्तकें [गीतिका, अनामिका, तुलसीदास, आराधना, सुकुल की बीवी, प्रबन्ध-प्रतिमा, निरुपमा और अपरा], निराला प्रकाशन, दारागंज, इलाहाबाद, की चार पुस्तकें [प्रभावती, बिल्लेसुर बकरिहा, चोटी की पकड़ और चतुरी चमार] तथा लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, की आठ पुस्तकें [अर्चना, बेला, नये पत्ते, कुकुरमुत्ता, अणिमा, देवी, काले कारनामे और रवीन्द्र-कविता-कानन] संकलित की गयी है और इन संस्थाओं ने अपनी पुस्तकें **रचनावली** मे संकलित करने की सहर्ष अनुमति दी है। यह स्वस्थ परम्परा हिन्दी-प्रकाशन के लिए स्वागत-योग्य है।

रचनावली में जिन चित्रो का उपयोग किया गया है वे हमें सर्वश्री अमृतलाल नागर, ओंकार शरद, अजितकुमार, नेमिचन्द्र जैन, रामकृष्ण त्रिपाठी तथा इण्डियन आर्ट स्टूडियो देहरादून के श्री नवीन नौटियाल से प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त श्री बरुआ द्वारा सम्पादित 'महाकवि निराला अभिनन्दन ग्रन्थ' से भी कई चित्र लिये गये हैं।

रचनावली के पत्रोंवाले खण्ड में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की पुस्तक 'निराला के पत्र' से महाकवि द्वारा शास्त्रीजी को लिखे गये पत्र संकलित हुए है। श्री सोहनलाल भार्गव, लखनऊ, ने स्वर्गीय श्री दुलारेलाल भार्गव के नाम लिखे गये पत्र और श्री रामकृष्ण त्रिपाठी, इलाहाबाद, ने अपने नाम लिखे गये पत्र, जो 'निराला की साहित्य साधना' के तीसरे खण्ड में संकलित हैं, **रचनावली** में संकलित करने की सहर्ष अनुमति दी।

उपरोक्त सभी संस्थाओं और महानुभावों तथा परोक्ष रूप से सहायक होनेवाले अन्य व्यक्तियों के हम आभारी है। उनके सहयोग से ही यह स्वप्न साकार हुआ है।

19 जनवरी, '8३ — शीला सन्धू

दूसरा खण्ड

जैसा कि **रचनावली** के खण्ड एक की भूमिका में कहा जा चुका है, उसके प्रस्तुत खण्ड में निराला-काव्य के दूसरे और तीसरे चरणो की कविताएं सकलित की गयी हैं।

दूसरे चरण मे निराला की जो कविता-पुस्तकें प्रकाशित हुईं, वे है: **कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला और नये पत्ते**। **कुकुरमुत्ता** का प्रथम सस्करण युग-मन्दिर, उन्नाव से निकला था। पुस्तक मे प्रकाशन-वर्ष का उल्लेख नही है। निराला ने जो छोटी-सी भूमिका दी है उसके नीचे 4जून, 1942 की तिथि अकित है। इससे यह तो अनुमान लगाया जा सकता है कि यह पुस्तक उक्त तिथि के पहले नही निकली, पर यह नही कि वह उसके तुरत वाद निकली। निराला ने 3 जनवरी, 1943 को आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को पत्र मे लिखा था—"**विल्लेसुर वकरिहा** और **कुकुरमुत्ता** पुस्तकें निकल चुकी है।" (**निराला के पत्र**) उन्होने पुन: 13 मार्च, 1943 को उन्हे जो पत्र लिखा, उसमें उन्हें यह सूचना दी कि **विल्लेसुर वकरिहा** दो-एक रोज में निकल जायगी, **कुकुरमुत्ता**-संग्रह भी प्रेस चला गया है।" (उपर्युक्त) इससे यह स्पष्ट है कि **कुकुरमुत्ता** 1943 के मार्च के मध्य तक छपकर वाहर नही आया था। वह उस वर्ष की गर्मियो मे प्रकाशित हुआ होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। **कुकुरमुत्ता** के इस सस्करण मे 'कुकुरमुत्ता' के अलावा सात और कविताएँ थी। उन कावताओ के शीर्षक है · 'गर्म पकौडी', 'प्रेम-संगीत', 'रानी और कानी', 'खजोहरा', 'मास्को डायलाग्ज', 'स्फटिक-शिला' और 'खेल'। जिस तरह की उलझन **कुकुरमुत्ता** के प्रथम संस्करण के प्रकाशन-काल को लेकर है, वहुत कुछ उसी तरह की उलझन उसके द्वितीय सस्करण के प्रकाशन-काल को लेकर भी है। कई जगह इस तरह का उल्लेख मिलता है कि द्वितीय संस्करण श्री राष्ट्रभाषा विद्यालय, काशी से जुलाई, 1948 मे निकला था। यह विचित्र वात है कि 16 फरवरी, 1945 को ही निराला एक पत्र में डा. रामविलास शर्मा को लिखते हैं कि "कुकुरमुत्ते को फिर से सँवारा है। छप रहा है। अव की अकेला है।" [साहित्य-साधना (3)] इसी तरह वे 7 फरवरी, 1946 को शास्त्री-जी को भी लिखते हैं कि "**कुकुरमुत्ता** संशोधित निकल रहा है। छप चुका है।" (**निराला के पत्र**) उनका एक दूसरा पत्र शास्त्रीजी के ही नाम 25 जून, 1948 का लिखा हुआ है, जिसमें उन्होने उनसे यह कहा है कि "**कुकुरमुत्ता** संशोधित अव फार्म-रूप छपने को है।" (उपर्युक्त) द्वितीय संस्करण मे निराला ने जो भूमिका दी है उसमे 8 जुलाई, 1948 की तिथि दी गयी है। इन सवसे यह अनुमान होता है कि शास्त्रीजी के नाम लिखे गये दूसरे पत्र में उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह सही है और **कुकुरमुत्ता** का द्वितीय संस्करण जुलाई, 1948 में ही प्रकाशित हुआ होगा। इस संस्करण की विशेषता यह थी कि इसमें मे वाकी सात कविताएँ निकाल दी गयी थीं और 'कुकुरमत्ता' शीर्षक कविता को फिर से सँवारा गया था। इस कविता को सँवारने मे निराला काफी पहले से लगे हुए थे, यह डा. शर्मा के नाम लिखे गये उनके पत्र से संकेतित है।

अणिमा के प्रकाशन-काल को लेकर विशेष झंझट नही है। यह पुस्तक भी युग-मन्दिर, उन्नाव ने ही प्रकाशित हुई थी। प्रकाशन-वर्ष इसमें भी नही दिया गया है, सिर्फ निराला ने भूमिका मे 1 अगस्त, 1943 की तिथि दी है। इससे पता चलता है कि यह पुस्तक उस तिथि के वाद ही निकली होगी। 28 अगस्त, 1943 को निराला ने पत्र मे शास्त्रीजी को लिखा था कि "मेरी **अणिमा** निकल गयी।" (उपर्युक्त) 17 सितम्बर, 1943 को उन्होने पुन: उन्हें लिखा कि "**अणिमा** दुर्भाग्य से अब तक दफ्तरी के यहाँ से नहीं निकली। छप चुकी है। सुना है, कोई दुर्घटना उसके यहाँ हो गयी है। दो-चार रोज में आ जायगी।" (उपर्युक्त) इन तथ्यो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि **अणिमा** का वास्तविक प्रकाशन-काल 1943 के सितम्बर का उत्तरार्द्ध है।

वेला प्रथम वार जनवरी, 1946 मे हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स, शाहगंज, इलाहावाद, से प्रकाशित हुई। इसकी भूमिका के नीचे निराला ने 15 जनवरी, 1943 की तिथि दी है, जिसमे वर्ष निश्चित रूप से गलत है। हमारा खयाल है कि प्रेस की गलती से '४६' की जगह '४३' छप गया है। कारण यह कि निराला के पत्रो से यह संकेत मिलता है कि **वेला** के प्रकाशन का प्रसंग 1945 ई. से पहले नहीं उपस्थित होता। 16 फरवरी, 1945 को उन्होंने डा. शर्मा को लिखा था: "वेला एक पुस्तिका इधर के गीतों की निकाल रहा हूँ। कुल मैटर **नये पत्ते** को छोड़कर हिन्दी के लिए जा चुका।" [साहित्य-साधना (3)] 13 जनवरी, 1946 को उन्होने पुन: लिखा: "**वेला** गीतो और ग़ज़लों का संग्रह है, 80 अस्सी गीत + ग़ज़लें (आधे-आधे) अब तक छप चुके है। मुमकिन 100 पूरे हों या दूसरे संग्रह में जायँ—नरगिस मे, जिसमें सिर्फ गजलें होंगी।" (उपर्युक्त) इससे कई बातों का पता चलता है। एक तो यह कि **वेला** की पाण्डुलिपि प्रेस में देने के बाद भी वे उसमें नये गीत और गजलें जोडते रहे। दूसरी बात यह कि वे वाद मे **नरगिस** नाम से सिर्फ गज़लो का संग्रह निकालने की बात सोच रहे थे, जो कि पूरी नही हुई। इस पत्र से जो तीसरी बात मालूम होती है, वह यह कि 13 जनवरी, 1946 तक **वेला** की अस्सी रचनाएँ छप चुकी थीं (उसमें कुल पंचानवे रचनाएँ संकलित है), लेकिन वह अभी छपकर बाहर नही आयी थी। 4 फरवरी, 1946 को निराला शास्त्रीजी को लिखते है: "**वेला** के पूरे फार्म 95 गीतो के, भूमिका के साथ भेज चुके हैं। किताब भी बँध गयी। किसी किसी को उपहार दिया जा चुका। अभी पूरी प्रतियाँ नही मिलीं।" (**निराला के पत्र**) इससे साफ हो जाता है कि **वेला** की भूमिका के नीचे जो '१९४३' छपा हुआ है वह गलत है, उसे '१९४६' होना चाहिए, और यह पुस्तक 1946 की जनवरी के अन्त मे निकली।

अणिमा के वाद निराला **काँटा** नाम से अपनी नयी कविताओ का संग्रह प्रकाशित करना चाहते थे, क्योंकि इन कविताओ मे व्यंग्य के तत्त्व थे। उन्होने 10 मार्च, 1944 को शास्त्रीजी को एक पत्र में लिखा था कि "**काँटा** प्रेस जानेवाला है।" (उपर्युक्त) आगे चलकर उन्होंने **काँटा** नाम से पुस्तक निकालने का विचार छोड़ दिया और नयी कविताओ के संग्रह के लिए नया नाम चुना—**नये पत्ते**। इसमें उन्होंने **कुकुरमुत्ता** वाली उन सात कविताओं को भी सम्मिलित कर लिया, जिन्हें उन्होने उसके द्वितीय संस्करण में छोड़ दिया था। **नये पत्ते** सम्भवत: जनवरी, 1946 के अन्त मे प्रेस मे दिया गया, क्योकि निराला ने 13

जनवरी, 1946 को डा. शर्मा को लिखा था कि "**नये पत्ते**—अब प्रेस जानेवाला है।" [**साहित्य-साधना** (3)] उन्ही को उन्होंने अपने 7 फरवरी, 1946 के पत्र मे लिखा कि "**नये पत्ते** आधुनिक काव्य छप रहा है।" (उपर्युक्त) 27 मार्च, 1946 को शास्त्रीजी को लिखे गये पत्र मे वे कहते है : "**नये पत्ते** भेजते है।" (**निराला के पत्र**) इन वातो से यह सिद्ध है कि **नये पत्ते** 1946 के मार्च के उत्तरार्द्ध मे निकला। इसका प्रकाशन वहीं से हुआ था, जहाँ से **बेला** का।

कुकुरमुत्ता (प्रथम संस्करण) और **अणिमा** की कविताओं के नीचे निराला ने प्राय: उनके रचनाकाल का उल्लेख किया है। उसमे भी अशुद्धियाँ है। **अणिमा** की नौवी कविता 'तुम्हें चाहता वह भी सुन्दर' का रचनाकाल 1940 ई. बतलाया गया है, जबकि यह कविता 'सुधा' के दिसम्वर, 1939 के अक मे ही प्रकाशित मिलती है। लेकिन ऐसी अशुद्धियाँ अपवादस्वरूप ही है। दोनो पुस्तकों की कविताओ के रचनाकाल को देखने से यह पता चलता है कि **कुकुरमुत्ता** (प्रथम संस्करण) मे यदि 1939 ई. से लेकर 1942 ई. तक की अवधि मे रची गयी कविताएँ संकलित है, तो **अणिमा** मे 1939 ई. से लेकर 1943 ई. तक की अवधि मे रची गयी कविताएँ। फिर हम देखते है कि **नये पत्ते** मे भी **कुकुरमुत्ता** (प्रथम संस्करण) की सात कविताएँ समाविष्ट है। ऐसी स्थिति मे इस खण्ड में भी पुस्तक-क्रम से कविताओं को सजाने मे उलझन पैदा होने का डर था। स्वभावत: इसमें भी रचना-क्रम से कविताओं को सजाया गया है।

कुकुरमुत्ता (प्रथम संस्करण) और **अणिमा** की कविताओं का रचनाकाल जैसे निराला ने सूचित किया है, वैसे **बेला** और **नये पत्ते** की कविताओं का रचना-काल नही। **नये पत्ते** की उन सात कविताओं का रचनाकाल, जो कि प्रथम वार **कुकुरमुत्ता** (प्रथम संस्करण) में संकलित हुई थी, हमे वही से मालूम होता है। लिहाजा इन दोनो पुस्तकों मे संकलित कविताओं का रचनाकाल हमे अन्य स्रोतों से मालूम करना पड़ा है। उनमे से एक स्रोत पुस्तकें हैं, दूसरा पत्र-पत्रिकाएँ और तीसरा निराला के पत्र। **बेला नये पत्ते** से कुछ पहले निकली थी, लेकिन दोनों पुस्तकों की कविताएँ प्राय: एक ही काल मे लिखी गयी हैं। वह काल **कुकुरमुत्ता-अणिमा** (1939-1943) के वाद का काल है, यानी 1944 ई. के आरम्भ से लेकर 1946 ई. के आरम्भ तक का काल। ऊपर निराला के एक पत्र का हवाला दिया गया है, जिसमे वे 10 मार्च, 1944 को शास्त्रीजी को लिखते है कि "**कांटा** (**नये-पत्ते** का पूर्वनाम) प्रेस जानेवाला है।" इससे यह भ्रम नही होना चाहिए कि **नये पत्ते** की सारी कविताएँ 1944 ई. के पूर्वार्द्ध तक लिखी जा चुकी थी। वह 1946 की जनवरी मे प्रेस मे दिया गया, और उसमे निराला ने उस काल तक लिखी गयी कविताएँ भी सम्मिलित की। **नये पत्ते** मे निराला की एक कविता संकलित है—'खून की होली जो खेली', जिसके सम्वन्ध मे यह सूचना दी गयी है कि वह "'46 के विद्यार्थियो के देशप्रेम के सम्मान मे" लिखी गयी। यह कविता गया से प्रकाशित होनेवाली साप्ताहिक पत्रिका 'ऊषा' के मार्च, 1946 के होलिकांक मे छपी थी। यह इस वात का पक्का सवूत है कि **नये पत्ते** में 1946 ई. तक की कविताएँ दी गयी है। इसी कारण **वाङ्मय** के इस खण्ड मे **बेला** और **नये पत्ते** की कविताओं को एक साथ रखा गया है। दोनों पुस्तको की जो कविताएँ पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित नही मिली है, उन्हें अन्त मे केवल इस सूचना के साथ

दिया गया है कि वे किन पुस्तकों में संकलित हैं। इनसे मोटामोटी यह मालूम हो जाता है कि वे किस अवधि मे रची गयी। कुछ कविताओं के सम्भावित रचना-काल का संकेत किया गया है। इसका आधार निराला के पत्र हैं। निराला अपने पत्रों के साथ कुछ लेखकों को अपनी नवीनतम कविताएँ उनके अवलोकनार्थ भेजा करते थे। उन लेखकों मे डा. शर्मा और शास्त्रीजी मुख्य हैं।

उपर्युक्त ब्योरे से यह भी स्पष्ट है कि निराला का दूसरे चरण का काव्य भी दो दौरों से गुजरा है। उसके पहले दौर मे **कुकुरमुत्ता** (प्रथम संस्करण) और ***अणिमा*** की कविताएँ रची गयी हैं और उनके दूसरे दौर मे ***बेला*** और ***नये पत्ते*** की कविताएँ। निराला के पहले चरण के तीसरे दौर की कविताओं मे ही उनका यथार्थवादी रुझान प्रबलतर होता हुआ दिखलायी पड़ता है। उसी का विकास दूसरे चरण के पहले दौर की कविताओ मे देखने को मिलता है। जैसा कि हम जानते हैं, चूंकि निराला बहुत ही संश्लिष्ट भाव-बोध के कवि थे, इसलिए वे इस दौर में गीत-रचना करते रहते हैं। **अणिमा** मे उनके इस दौर के गीत संकलित हैं। **बेला** के गीतों और गजलों का सम्बन्ध इस दौर की उनकी कविताओं से भी है और गीतों से भी। उसकी अनेक रचनाएँ इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं कि निराला का सामाजिक यथार्थ का ज्ञान प्रौढ़तर हुआ है। इससे उनका यथार्थवाद नये उत्कर्ष को प्राप्त करता है, जिसे हम **नये पत्ते** की नयी कविताओं में, जिनका सम्बन्ध किसानों से है, स्पष्टता से देखते हैं। यह निराला-काव्य की नयी मंजिल है। इसी कारण हमने **बेला-नये पत्ते** की कविताओं को उनके दूसरे चरण के काव्य के दूसरे दौर की कविताएँ माना है। उसके बाद निराला ने गीत लिखे जो हाल-हाल तक असंकलित थे। उन्हें **असंकलित कविताएँ** से यहाँ क्रम से संकलित कर दिया गया है। ये गीत निराला के भावी गीति-पथ का स्पष्ट संकेत देते हैं। 1949 ई. के निराला के कुछ गीत उनके परवर्ती गीत-संग्रह **अर्चना**, **आराधना** और **गीत-गुंज** के गीतों मे मिले हुए थे। उन्हें यथास्थान लगा दिया गया है। इस काल के उनके दो गीत 'छाये बादल काले काले' और 'शंकाकुल निशा गयी' अब तक असंकलित थे। उन्हें भी सम्मिलित कर लिया गया है। दूसरे चरण के पहले दौर की कालावधि 1939 ई. से 1943 ई. तक है और दूसरे दौर की कालावधि 1944 ई. के आरम्भ से 1949 ई के अन्त तक।

निराला की कविताओं के पाठ के बारे मे खण्ड एक की भूमिका मे लिखा जा चुका है। उनके दूसरे चरण के काव्य का पाठ भी कविता-पुस्तकों के प्रथम संस्करण तथा कविताओं के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रूप से मिलाकर जहाँ तक हो सका है ठीक कर दिया गया है। कविताओं का परवर्ती पाठ प्रायः उत्कृष्टतर है, इसलिए अधिकतर उसी को स्वीकार किया गया है। परिशिष्ट मे निराला की एक बंगला कविता तथा विवेकानन्द की दो अंग्रेजी कविताओं का अनुवाद दिया गया है। उन्होंने **रामचरितमानस** का खड़ी बोली मे रूपान्तर करना शुरू किया था, लेकिन वे उसके प्रथम सोपान के केवल आरम्भिक अंश का रूपान्तर कर सके। उसका विनयवाला भाग **रामायण** (विनय-खण्ड) के नाम से श्री राष्ट्र-भाषा विद्यालय, काशी से 1948 के जून के अन्त या जुलाई के आरम्भ में प्रकाशित हुआ था। [इस काल-निर्णय का आधार निराला का 25 जून, 1948 का शास्त्रीजी को लिखा गया एक पत्र है, जिसमें उन्होंने कहा है: "तुलसी

अनुवाद का कवर छपने को रहा है।" (उपर्युक्त) पुस्तक मे प्रकाशन-काल का कोई उल्लेख नही है।] उसके पहले उसके विभिन्न अंश 'देशदूत' (साप्ताहिक प्रयाग) और 'साधना' (मासिक, कलकत्ता) के क्रमश: 1946 और 1948 ई. के अंको में प्रकाशित हो चुके थे। परिशिष्ट मे यह पूरी पुस्तक दी गयी है। पुस्तक मे रूपान्तर के साथ एक 'टीका' लगी हुई थी, जो निराला द्वारा ही तैयार की गयी थी। उपयोगी समझकर उसे यथावत रहने दिया है। परिशिष्ट के अन्त में पुस्तकों की भूमिकाएँ और समर्पण दिये गये है।

निराला-काव्य के दूसरे चरण की सबसे बड़ी विशेषता उसका यथार्थवाद है। **कुकुरमुत्ता** (प्रथम संस्करण), **अणिमा और नये पत्ते** की कविताओं मे हास्य के तत्त्व देखे गये है, लेकिन वे शुद्ध हास्य के तत्त्व नही है, क्योकि उनके भीतर निराला का सामाजिक यथार्थ का गहरा बोध छिपा हुआ है। 'कुकुरमुत्ता' उनकी ऐसी कविता है, जिसमे व्यंग्य की धार दोहरी है। उसमे एक तरफ वे पूंजीपति-वर्ग पर व्यंग्य करते है और दूसरी तरफ सकीर्णतावादी प्रगतिशील दृष्टि पर। 'खजोहरा'-जैसी कविताओं मे उन्होंने रूमानी सौन्दर्य-स्वप्न को पूरी तरह से मिटा देना चाहा है। इसी काल मे यथार्थ के तीखे बोध से तिलमिलाकर उन्होने शास्त्रीजी को लिखा था कि "एक रोज दिल मे आया जो कुछ पद्य-साहित्य में लिखा है, उसका उल्टा लिख डालूँ।" (उपर्युक्त, 26 मई, 1943 का पत्र) जैसा कि संकेत किया जा चुका है, निराला का यथार्थवाद **नये पत्ते** की 'कुत्ता भौकने लगा', 'झीगुर डटकर बोला', 'छलांग मारता चला गया', 'डिप्टी साहब आये' और 'महगू महगा रहा'-जैसी कविताओ मे बुलन्दी पर पहुँचता है। **बेला** के गीतों पर गजलो में यदि उनका रहस्यवाद है, तो यथार्थवाद भी है। यहाँ स्मरणीय है कि **बेला** की ही एक गजल मे निराला ने सत्य को पा लेने की यह घोषणा की है : "खुला भेद, विजयी कहाये हुए जो,/लहू दूसरे का पिये जा रहे हैं।"

[2]

निराला-काव्य के तीसरे चरण की कालावधि 1950 की जनवरी से लेकर प्राय: 1961 के अक्तूबर तक है। 15 अक्तूबर, 1961 को निराला का देहान्त हुआ। अनुमान है कि वे मृत्युपर्यन्त काव्य-साधना मे निरत रहे। उनकी अन्तिम रचना सम्भवत: "पत्रोत्कण्ठित जीवन का विष बुझा हुआ है" पक्ति से आरम्भ होनेवाली कविता है, जिसे इस चरण की अन्तिम कविता के रूप मे इस खण्ड मे संकलित किया गया है। इस चरण मे निराला की ये कविता-पुस्तके आती हैं : **अर्चना, आराधना, गीत-गुंज** और **सान्ध्य काकली**।

अर्चना के प्रकाशन-काल का पुस्तक मे उल्लेख नही है, लेकिन ऐसा खयाल है कि इसका प्रथम संस्करण 1950 ई. के अन्त में निकला था। प्रकाशक थे श्री उमाशंकर सिह, कला मन्दिर, दारागंज, इलाहाबाद। इसमे 12 जनवरी, 1950 से लेकर 15 अगस्त, 1950 तक रचित गीत संकलित हैं। दूसरे, इसमे निरालालिखित जो भूमिका है, उसके नीचे 26 अगस्त, 1950 की तिथि दी हुई है। इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह संग्रह 1950 ई. के अन्त तक प्रकाशित हो गया था और इसमे निराला के बिलकुल ताजा गीत थे।

आराधना 1953 ई. के अन्त में साहित्यकार संसद्, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी, क्योंकि इसमे श्रीमती महादेवी वर्मालिखित जो छोटी-सी भूमिका है, उसके नीचे यह तिथि अंकित है : कार्तिकी पूर्णिमा स. 2010 (वि.)। **गीत-गुंज** का प्रथम संस्करण हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, पो वाक्स नं. 70, ज्ञानवाणी, बनारस से 1954 ई. (संवत् 2011 वि.) के अन्त मे [क्योंकि इसका अन्तिम गीत 'रूपक के रथ रूप तुम्हारा' 24-11-54 की रचना है (दे. द्वितीय संस्करण)] निकला था। इसका द्वितीय किंचित् परिवर्धित संस्करण 1959 ई. (संवत् 2016 वि.) में वहीं से निकला। **सान्ध्य काकली** का प्रकाशन जनवरी, 1969 में वसुमती, 38, जीरो रोड, इलाहाबाद-3 से निराला के मरणोपरान्त हुआ।

अर्चना मे अधिकाश गीतों के नीचे निराला ने रचना-तिथि दी है। उससे पता चलता है उसका पहला गीत 12 जनवरी, 1950 को रचा गया और अन्तिम गीत 15 अगस्त, 1950 को। 17 फरवरी, 1950 तक गीतों की रचना का क्रम अवाध गति से चलता है। उसके बाद करीब छ. महीनो का अन्तराल दिखलायी पडता है। निराला पुन: 14 अगस्त, 1950 को कलम उठाते है और 15 अगस्त, 1950 तक पाँच गीत रच डालते है। **अर्चना** का सबसे अन्तिम गीत 1949 ई. की रचना है। यह गीत 16 अक्तूबर, 1949 के 'देशदूत' (साप्ताहिक, प्रयाग) में प्रकाशित हुआ था। उसके पहले जो कई गीत संकलित हैं उनके नीचे प्रकाशन-वर्ष (1950 ई.) तो दिया गया है, लेकिन कोई निश्चित तिथि नही। पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशन के आधार पर अनुमान है कि ये गीत 15 अगस्त, 1950 के बाद की रचना नही, वल्कि उसके पहले की रचना हैं। इन गीतों के फरवरी, 1950 से लेकर अगस्त, 1950 के बीच रचित होने की सम्भावना है। 'किरणों की परियाँ मुसका दीं' गीत **अर्चना** के अन्तिम गीतो मे से है, जिसके नीचे केवल 1950 अंकित है, लेकिन यह 15 अगस्त, 1950 के पहले ही 'संगम' के 11 जून, 1950 के अंक मे प्रकाशित हो चुका था।

आराधना मे भी निराला ने गीतो के नीचे रचना-तिथि दी है, लेकिन उसमें अशुद्धियाँ भी हैं और **अर्चना** की तुलना मे अधिक क्रमहीनता भी। अशुद्धियो को ठीक करने और गीतो को क्रमबद्ध करने के बाद यह पता चलता है कि इसमें जनवरी, 1951 से लेकर 24 फरवरी, 1953 तक रचित निराला के गीत संकलित है। **आराधना** के गीतो की रचना का अवाध क्रम 24 अगस्त, 1952 से शुरू होता है। 1950 में 15 अगस्त के बाद निराला चुप हो गये। 1951 ई. मे उन्होंने थोडे-से गीत लिखे, जो असंकलित रहे या **आराधना** के अन्त मे संकलित कर दिये गये। 1952 में वे 24 अगस्त के पहले तक फिर चुप रहे। **आराधना** मे दो गीत **अर्चना**-काल के भी है। इसके अलावा उसमे एक कविता (संख्या 89) 1938 ई की रचना है, जिसके नीचे न जाने कैसे 1 मार्च, 1950 की तिथि पड़ गयी है। यह रचना 'सरस्वती' के नवम्बर, 1961 के अंक मे निराला की हस्तलिपि मे और उन्ही द्वारा की गयी रचना-तिथि के साथ प्रकाशित हो चुकी है।

गीत-गुंज के प्रथम संस्करण मे कुल छब्बीस गीत संकलित थे, जिनमे से सात गीत पुराने थे, एक **अर्चना** से लिया गया और छ: **आराधना** से। उसके दूसरे संस्करण में पुराने गीत निकाल दिये गये और कुछ पुरानी मौलिक और अनूदित कविताओं के अलावा पन्द्रह नये गीत जोड़ दिये गये। एक गीत (संख्या 7) इसमे दूसरे चरण के

अन्तिम काल का भी था। **सान्ध्य काकली** प्रकाशित हुई तो उसमें पच्चीस रचनाएँ पुरानी थी, **गीत-गुंज** से ली हुई और तैंतालीस रचनाएँ नयी थी। नयी रचनाओ में एक रचना अधूरी भी थी। पूरी रचनाओं मे अधिकाशत: गीत थे। **गीत-गुंज** के प्रथम संस्करण मे तो गीतों के नीचे रचना-तिथि नही दी गयी है, लेकिन उसके द्वितीय संस्करण मे वह दी गयी है और प्राय: शुद्ध-शुद्ध दी गयी है। एक ही गीत 'फिर उपवन मे खिली चमेली' की रचना-तिथि गलत दी गयी है—5 अक्तूबर, 1955। यह इससे प्रमाणित है कि यह गीत 'सा. हिन्दुस्तान' के 4 सितम्बर, 1955 के अंक में ही प्रकाशित मिलता है। **गीत-गुज** मे अप्रैल, 1953 से लेकर जनवरी, 1957 तक रचित गीत संकलित हुए है। **सान्ध्य काकली** के करीब आधे गीतो मे रचना-तिथि दी गयी है, जो कि शुद्ध है। बाकी गीतो की रचना-तिथि का निर्धारण अन्य आधारो पर किया गया है। उनमे से एक आधार है **सान्ध्य काकली** की पं. श्री नारायण चतुर्वेदीलिखित भूमिका। ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि तीसरे चरण की निराला की कविताओ को भी पुस्तक-क्रम से नही सजाया जा सकता है, क्योकि बाद की पुस्तकों मे पहले की कविताएँ संकलित हुई है। लिहाजा इस चरण की कविताओ को भी यथासम्भव रचना-क्रम से ही संकलित करना अधिक सुविधाजनक और वैज्ञानिक प्रतीत हुआ है।

आम तौर पर यह समझा जाता है कि निराला के काव्य का तीसरा चरण उनके दूसरे चरण के यथार्थवादी काव्य से भिन्न है, क्योकि इसमे वे पुन: भक्ति और अध्यात्म के गीत रचने लगते है। वास्तविकता यह है कि वे **कुकरमुत्ता** (प्रथम संस्करण) और **नये पत्ते** की कविताओं की रचना के दौर मे भी भक्ति और अध्यात्म के गीत रच रहे थे, जो कि **अणिमा** और **बेला** मे संकलित है। **अणिमा** और **बेला** के गीतों का ही विकास निराला के तीसरे चरण के गीति-काव्य मे देखने को मिलता है। **बेला** के प्रकाशन के बाद 1949 ई. मे उन्होने अनेकानेक गीत लिखे थे, जिनमे से अधिकांश हाल-हाल तक असकलित थे। **अर्चना** के गीतों की कड़ी वही से मुड़ती है। इस चरण में गीतों का एक ही दौर दिखलायी पड़ता है, जो **सान्ध्य काकली** के अन्तिम गीतो तक चलता रहता है। इस चरण का एक गीत 'कैसी सुहाई जुन्हाई' अब तक प्राय: असंकलित था। उसे यहाँ संकलित करके यथाक्रम लगा दिया गया है।

तीसरे चरण की निराला की रचनाओं में भी पाठान्तर मिलते है। पहले की तरह ही यहाँ भी उसी पाठ को स्वीकार किया गया है, जो कि उत्कृष्टतर और परवर्ती है। उदाहरण के लिए **सान्ध्य काकली** का गीत 'तुम्हारी हवा से सोये' को लिया जा सकता है। इस गीत का पहला पाठ (रचना-तिथि : 6 सितम्बर, 1958) **सान्ध्य काकली** मे संकलित मिलता है और दूसरा पाठ 'सा. हिन्दुस्तान' के 5 अक्तूबर, 1958 के अंक मे प्रकाशित है। दोनो पाठो को मिलाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे पाठ में निराला की अभिव्यक्ति अधिक चित्रात्मक है। यह पाठान्तर उन्होने 'सा. हिन्दुस्तान' के लिए गीत की प्रतिलिपि करते समय किया होगा। ऐसा ही अन्तर **सान्ध्य काकली** के 'जय तुम्हारी देख भी ली' गीत के पाठ मे भी मिलता है। इस गीत का रचनाकाल 14 अगस्त, 1958 है। यह 'सरस्वती' के अक्तूबर, 1958 के अक मे किंचित् भिन्न पाठ के साथ प्रकाशित हुआ था। इसका पाठ भी पुस्तक मे संकलित पाठ से उत्कृष्टतर है। परिशिष्ट मे तीसरे चरण

के काल में व्रजभाषा, भोजपुरी आदि में रचे गये निराला के गीत संकलित किये गये हैं। सान्ध्य काकली मे निराला के एक अधूरे गीत की सिर्फ दो पंक्तियाँ मिलती हैं --"ध्वनि मे उन्मन-उन्मन वाजे, अपराजित कण्ठ आज लाजे।" इस कारण इसे यही दिया जा रहा है, संकलित नही किया गया। सान्ध्य काकली का ही एक गीत है—'ताक कमसिनवारि'। इस गीत मे अर्थ गौण है और ध्वनि-क्रीड़ा प्रधान है। इसे भी परिशिष्ट मे ही रखा गया है।

निराला के तीसरे चरण के काव्य से यह भ्रम हो सकता है कि उसमें वे पीछे की ओर लौट गये हैं। इस सम्बन्ध मे ऊपर संकेत किया जा चुका है। धर्म-भावना निराला मे पहले भी थी, वह उनमे अन्त-द्वन्त तक बनी रही। उनके इस चरण के धार्मिक काव्य की विशेषता यह है कि वह हमे उद्विग्न करता है, आध्यात्मिक शान्ति नही प्रदान करता। वह शान्ति निराला को कभी मिली भी नही, क्योंकि इस लोक से उन्होने कभी मुँह नही मोड़ा, वल्कि इसी लोक को अभाव और पीड़ा से मुक्त करने के लिए वे कभी सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों की ओर देखते रहे और कभी ईश्वर की ओर। उनकी यह व्याकुलता ही उनके काव्य की सबसे बड़ी शक्ति है। उन पर वेदान्त का गहरा असर है, लेकिन अनेक बार उन्होने उसका अतिक्रमण भी किया है। यदि ऐसा न होता, तो वे अन्त मे यह न कहते कि "नयी शक्ति, अनुरक्ति जगा दो, /विकृत भाव से भक्ति भगा दो,/ उत्पादन के मार्ग लगा दो साहित्यिक-वैज्ञानिक के वल।" जो कवि इस लोक को माया समझेगा, वह यह कभी नही चाहेगा कि साहित्य और विज्ञान दोनो का उपयोग उत्पादन-वृद्धि और फिर उससे होनेवाले समाज-कल्याण के लिए हो। मार्क्स ने लिखा है: "धार्मिक वेदना एक साथ ही वास्तविक वेदना की अभिव्यक्ति और वास्तविक वेदना के विरुद्ध विद्रोह भी है।" निराला के इस चरण के काव्य को हमे इसी आलोक मे देखना चाहिए। उसकी एक अन्यतम विशेषता यह है कि वह ग्राम-जीवन के विलकुल निकट स्थित है। इस काल मे निराला ने ग्राम-जीवन और ग्राम-संस्कृति का अद्‌भुत आत्मीयता के साथ वर्णन किया है। यशस्वी कवि और समीक्षक डा. केदारनाथसिंह उचित ही निराला की इस चरण की कविता को 'परदेश से घर लौटे हुए कवि की कविता' कहते हैं। ज्ञातव्य यह है कि ग्राम-जीवन से निराला की आत्मीयता गोचारणी (Pastoral) प्रवृत्ति का परिणाम नही है। वह आत्मीयता वैसी ही है, जैसी हम प्रेमचन्द मे पाते हैं।

रानीघाट लेन, महेन्द्रू, नन्दकिशोर नवल

पटना-800006

12 मार्च, 1982

क्रम

परिशिष्ट

मौलिक और अनूदित कविताएँ

भूमिकाएँ और समर्पण

कविताएँ (1950-1961)

परिशिष्ट

मौलिक कविताएँ

भूमिका

कविताएँ
(1939-1949)

पहला दौर

प्रेम-संगीत

बम्हन का लड़का
मैं उसको प्यार करता हूँ।
जात की कहारिन वह,
मेरे घर की है पनहारिन वह,
आती है होते तड़का,
उसके पीछे मैं मरता हूँ।
कोयल-सी काली, अरे,
चाल नही उसकी मतवाली,
ब्याह नहीं हुआ, तभी भड़का,
दिल मेरा, मैं आहें भरता हूँ।
रोज़ आकर जगाती है सबको,
मैं ही समझता हूँ इस ढब को,
ले जाती है मटका बड़का,
मैं देख-देखकर धीरज धरता हूँ।

[रचनाकाल : 22 फरवरी, 1939। पहले **कुकुरमुत्ता** में, फिर **नये पत्ते** में संकलित]

जन-जन के जीवन के सुन्दर

जन-जन के जीवन के सुन्दर
हे चरणों पर
भाव-वरण भर
दूं तन-मन-धन न्योछावर कर।

दाग़-दग़ा की
आग लगा दी
तुमने जो जन-जन की, भड़की;
करूँ आरती मैं जल-जल कर।
गीत जगा लो
गले लगा लो,
हुआ गैर जो, सहज सगा हो,
करे पार जो है अति दुस्तर।

[रचनाकाल : 1939 ई.। 'कमला', मासिक, वनारस, नवम्बर, 1929, मे प्रकाशित। **अणिमा** मे संकलित]

सुन्दर हे, सुन्दर !

सुन्दर हे, सुन्दर !
दर्शन से जीवन पर
वरसे अनिश्वर स्वर।
परसे ज्यो प्राण,
फूट पड़ा सहज गान,
तान-सुरसरिता वही
तुम्हारे मङ्गल-पद छूकर।
उठी है तरङ्ग,
वहा जीवन निस्सङ्ग,
चला तुमसे मिलन को
खिलने को फिर फिर भर भर।

[रचनाकाल : 1939 ई.। 'साधना', मासिक, आगरा, नवम्बर, 1939, मे प्रकाशित। **अणिमा** मे संकलित]

तुम्हें चाहता वह भी सुन्दर

तुम्हे चाहता वह भी सुन्दर,
जो द्वार-द्वार फिरकर
भीख माँगता कर फैलाकर ।

भूख अगर रोटी की ही मिटी,
भूख की जमीन न चौरस पिटी,
और चाहता है वह कौर उठाना कोई
देखो, उसमें उसकी इच्छा कैसे रोई,
द्वार-द्वार फिरकर
भीख माँगता कर फैलाकर—
तुम्हें चाहता वह भी सुन्दर ।

देश का, समाज का,
कर्णधार हो किसी जहाज का,
पार करे कैसा भी सागर,
फिर भी रहता है चलना उसे,
फिर भी रहता है पीछे डर;
चाहता वहाँ जाना वह भी
नही चलाना जहाँ जहाज, नही सागर,
नही डूबने का भी जहाँ डर ।
तुम्हें चाहता है वह, सुन्दर,
जो द्वार-द्वार फिरकर
भीख माँगता कर फैलाकर ।

['सुधा', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1939 ('गीत' शीर्षक से) । **अणिमा** में संकलित]

रानी और कानी

माँ उसको कहती है रानी
आदर से, जैसा है नाम;
लेकिन उसका उल्टा रूप,
चेचक के दाग, काली, नक-चिप्टी,
गंजा - सर, एक आँख कानी।
रानी अब हो गयी सयानी,
बीनती है, काँड़ती है, कूटती है, पीसती है,
डलियों के सीले अपने रूखे हाथों मीसती है,
घर बुहारती है, करकट फेंकती है,
और घड़ों भरती है पानी;
फिर भी माँ का दिल बैठा रहा,
एक चोर घर मे पैठा रहा,
सोचती रहती है दिन-रात
कानी की शादी की बात,
मन मसोसकर वह रहती है
जब पड़ोस की कोई कहती है—
"औरत की ज़ात रानी,
ब्याह भला कैसे हो
कानी जो है वह!"
सुनकर कानी का दिल हिल गया,
काँपे कुल अङ्ग,
दायी आँख से
आँसू भी वह चले माँ के दुख से,
लेकिन वह बायी आँख कानी
ज्यो-की-त्यो रह गयी रखती निगरानी।

[रचनाकाल : 1939 ई.। 'तरुण', मासिक, इलाहाबाद, जनवरी, 1940, मे प्रकाशित। पहले कुकुरमुत्ता मे, फिर नये पत्ते मे संकलित]

उन चरणों में मुझे दो शरण

उन चरणों में मुझे दो शरण।
इस जीवन को करो हे मरण।

बोलूँ अल्प, न करूँ जल्पना,
सत्य रहे, मिट जाय कल्पना,
मोह-निशा की स्नेह-गोद पर
सोये मेरा भरा जागरण।

आगे-पीछे दायें-बायें
जो आये थे वे हट जायें,
उठे सृष्टि से दृष्टि, सहज मैं
करूँ लोक-आलोक-सन्तरण।

[रचनाकाल : 1939 ई.। 'वीणा,' मासिक, इन्दौर, मई, 1940, में प्रकाशित। अणिमा में संकलित]

दलित जन पर करो करुणा

दलित जन पर करो करुणा।
दीनता पर उतर आये
प्रभु, तुम्हारी शक्ति अरुणा।
हरे तन-मन प्रीति पावन,
मधुर हो मुख मनोभावन,
सहज चितवन पर तरङ्गित
हो तुम्हारी किरण तरुणा।
देख वैभव न हो नत सिर,
समुद्धत मन सदा हो स्थिर,
पार कर जीवन निरन्तर
रहे बहती भक्ति-वरुणा।

[रचनाकाल : 1939 ई.। अणिमा में संकलित]

भाव जो छलके पदों पर

भाव जो छलके पदों पर,
न हों हलके, न हों नश्वर।
चित्त चिर-निर्मल करे वह,
देह-मन शीतल करे वह,
ताप सब मेरे हरे वह
नहा आयी जो सरोवर।
गन्धवह है, धूप मेरी
हो तुम्हारी प्रिय चितेरी,
आरती की सहज फेरी
रवि, न कम कर दे कहीं कर।

[रचनाकाल : 1939 ई.। अणिमा में संकलित]

बापू के प्रति

बापू, तुम मुर्गी खाते यदि,
तो क्या भजते होते तुमको
ऐरे-ग़ैरे नत्थू-खैरे—?—
सर के बल खड़े हुए होते
हिन्दी के इतने लेखक-कवि,
बापू, तुम मुर्गी खाते यदि ?

बापू, तुम मुर्गी खाते यदि,
तो लोकमान्य से क्या तुमने
लोहा भी कभी लिया होता ?—
दक्खिन में हिन्दी चलवाकर
लखते हिन्दुस्तानी की छवि,
बापू, तुम मुर्गी खाते यदि ?

बापू, तुम मुर्गी खाते यदि
तो क्या अवतार हुए होते
कुल-के-कुल कायथ-बनियों के ?
दुनिया के सबसे बड़े पुरुष
आदम-भेड़ों के होते भी !
बापू, तुम मुर्गी खाते यदि ?

बापू, तुम मुर्गी खाते यदि
तो क्या पटेल, राजन, टण्डन,
गोपालाचारी भी भजते ?—
भजता होता तुमको मैं औ'
मेरी प्यारी अल्लारक्खी,
बापू, तुम मुर्गी खाते यदि !

['विचार', साप्ताहिक, कलकत्ता, 14 जुलाई, 1940। **असंकलित कविताएँ** मे संकलित]

भगवान् बुद्ध के प्रति

आज सभ्यता के वैज्ञानिक जड़ विकास पर
गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर
स्पष्ट देख रहा; सुख के लिए खिलौने जैसे
बने हुए वैज्ञानिक साधन; केवल पैसे
आज लक्ष्य में है मानव के; स्थल-जल-अम्बर
रेल-तार-बिजली-जहाज नभयानों से भर
दर्प कर रहे हैं मानव, वर्ग से वर्गगण,
भिड़े राष्ट्र से राष्ट्र, स्वार्थ से स्वार्थ विचक्षण।
हँसते है जड़वादग्रस्त, प्रेत ज्यो परस्पर,
विकृत-नयन मुख, कहते हुए, अतीत भयङ्कर
था मानव के लिए, पतित था वहाँ विश्वमन,
अपटु अशिक्षित वन्य हमारे रहे बन्धुगण;
नही वहाँ था कही आज का मुक्त प्राण यह,
तर्कसिद्ध है, स्वप्न एक है विनिर्वाण यह।

वहाँ विना कुछ कहे, सत्य-वाणी के मन्दिर,
जैसे उतरे थे तुम, उतर रहे हो फिर फिर
मानव के मन मे,—जैसे जीवन में निश्चित
विमुख भोग से, राजकुँवर, त्यागकर सर्वस्थित
एकमात्र सत्य के लिए, रूढि से विमुख, रत
कठिन तपस्या में, पहुँचे लक्ष्य को, तथागत !
फूटी ज्योति विश्व मे, मानव हुए सम्मिलित,
धीरे-धीरे हुए विरोधी भाव तिरोहित;
भिन्न रूप से भिन्न-भिन्न धर्मों मे सञ्चित
हुए भाव, मानव न रहे करुणा से वञ्चित;
फूटे शत-शत उत्स सहज मानवता-जल के
यहाँ वहाँ पृथ्वी के सव देशों मे छलके;
छल के, वल के पङ्किल भौतिक रूप अदर्शित
हुए तुम्ही से, हुई तुम्ही से ज्योति प्रदर्शित।

[रचनाकाल : 1940 ई. । 'सुधा', मासिक, लखनऊ, जुलाई, 1940, मे प्रकाशित। अणिमा मे संकलित]

मास्को डायेलाग्स

मेरे नये मित्र है श्रीयुत गिडवानीजी,
वहुत वड़े सोश्यलिस्ट,
"मास्को डायेलाग्स" लेकर आये है मिलने।
मुस्कराकर कहा, "यह मास्को डायेलाग्स है,
सुभाष वावू ने इसे जेल मे मँगाया था।
भेंट किया था मुझको जव थे पहाड़ पर।
'३५ तक, मुश्किल से पिछड़े इस मुल्क मे
दो प्रतियाँ आयी थी।"
फिर कहा, "वक़्त नही मिलता है,
वड़े भाई साहव का वँगला बन रहा है,
देखभाल करता हूँ।"
फिर कहा, "मेरे समाज मे वड़े-वड़े आदमी है,

एक - से हैं एक मूर्ख;
उनको फँसाना है,
ऐसे कोई साला एक धेला नही देने का।
उपन्यास लिखा है,
ज़रा देख दीजिए।
अगर कहीं छप जाय
तो प्रभाव पड़ जाय उल्लू के पट्ठों पर;
मनमाना रुपया फिर ले लूँ इन लोगों से;
नये किसी बँगले में एक प्रेस खोल दूँ;
आप भी वहाँ चलें,
चैन की वंसी वजे।"
देखा उपन्यास मैंने,
श्रीगणेश में मिला—
"पृय असनेहमयी स्यामा मुझे प्रैम है।"
इसको फिर रख दिया, देखा "मास्को डायेलाग्स",
देखा गिडवानी को।

[रचनाकाल : 1940 ई.। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1940, में प्रकाशित ('मस्को-डायलाग्स', शीर्षक से)। पहले कुकुरमुत्ता मे, फिर नये पत्ते में संकलित]

धूलि में तुम मुझे भर दो

धूलि मे तुम मुझे भर दो।
धूलि-धूसर जो हुए पर
उन्ही के वर वरण कर दो।
दूर हो अभिमान, संशय,
वर्ण-आश्रम-गत महामय,
जाति-जीवन हो निरामय
वह सदाशयता प्रखर दो।
फूल जो तुमने खिलाया,
सदल क्षिति में ला मिलाया,
मरण से जीवन दिलाया
सुकर जो वह मुझे वर दो।

[रचनाकाल : 1940 ई.। 'सुधा', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1940, मे प्रकाशित ('गीत' शीर्षक से)। अणिमा मे संकलित]

झुकता है सर,
दुनिया से मैं धोखा खाकर
गिरता हूँ जब
मुझे उठा लेते हो तुम तब
ज्यों पानी को किरन, तपाकर।
फिर दुनिया की आँखों से मुझको ओझल कर
रखते आसमान पर,
बादल मुझे बनाते
रंग किरनों से भरते हो सुन्दर;
मुझे उठाते रहते हो फिर हवा-हवा पर;
तर सागर-वन
नदी आर्द्र घन
मैं देखता देश-देशान्तर;
तब यह जग आहें भर-भर
कहता है, 'आओ, जलधर!'
गरज-गरज बिजली कटकाकर
(जब कहते हो, जाओ, प्यारे,)
लाख-लाख बूंदों से मैं टूटता गगन से
जैसे तारे।
मिट जाती है जलन
मगर मैं आ जाता हूँ फिर मिट्टी पर
पर तुम मुझे उठाते हो फिर
छिपे कनों के दिल के अन्दर।
जड़ से चढ़कर,
तने-शाख-डण्ठल से होकर,
रहता हूँ अविकच कलिका के
जीवन में मैं जीवन खोकर।
जब वह खिलती,
आँखें लड़ा-लड़ाकर मिलती,
उसे तोड़कर,
मालिन सुई चलाती है मुँह मोड़-मोड़कर,
मैं खुशबू में उड़ता हूँ तब,
उसी गगन पर, मुक्त-पंख भर,
धरा छोड़कर।

['आरती', मासिक, पटना सिटी, नवम्बर-दिसम्बर (संयुक्तांक), 1940। अणिमा में संकलित]

आदरणीय प्रसादजी के प्रति

हिन्दी के जीवन हे, दूर गगन के द्रुततर
ज्योतिर्मय तारा-से उतरे तुम पृथ्वी पर;
अन्धकार कारा यह, वन्दी हुए मुक्तिधन,
भरने को प्रकाश करने को जनमन चेतन;
जीना सिखलाने को कर्मनिरत जीवन से,
मरना निर्भय मन्दहासमय महामरण से;
लोकसिद्ध व्यवहार ऋद्धि से दिखा गये तुम,
छोड़ा है छिड़ने पर सुघर कलामय कुंकुम;
उठा प्रसङ्ग-प्रसङ्गान्तर रँग-रँग से रँगकर
तुम ने बना दिया है वानर को भी सुन्दर;
किया मूक को मुखर, लिया कुछ, दिया अधिकतर,
पिया गरल, पर किया जाति-साहित्य को अमर।
तुम वसन्त-से मृदु, सरसी के सुप्त सलिल पर
मन्द अनिल से उठा गये हो कम्प मनोहर,
कलियों में नर्तन, भौंरों में उन्मद गुञ्जन,
तरुण-तरुणियों में शतविध जीवन-व्रत-मुञ्जन,
स्वप्न एक आँखों में, मन में लक्ष्य एक स्थिर,
पार उतरने की संसृति में एक टेक चिर;
अपनी ही आँखों का तुम ने खींचा प्रभात,
अपनी ही नयी उतारी सन्ध्या अलस-गात,
तारक-नयनों की अन्धकार-कुन्तला रात
आयी, सुरसरि-जल-सिक्त मन्द-मृदु वही वात,
कितनी प्रिय वातों से वे रजनी-दिवस गये कट,
अन्तराल जीवन के कितने रहे, गये हट,
सहज सृजन से भरे लता-द्रुम किसलय-कलि-दल,
जगे जगत् के जड जल से वासन्तिक उत्पल,
पके खेत लहरे, सोना-ही-सोना चमका,
सुखी हुए सब लोग, देश मे जीवन दमका,
हुआ प्रवर्तन, खुली तुम्हारी ही आँखो से
उड़ने लगे विहग ज्यों युवक मुक्त पाँखों से;
खोये हुए राह के, भूले हुए कभी के
बढ़े मुक्ति की ओर भाव पा अपने जी के।
फूटा ग्रीष्म तुम्हारे जीवन का, दिङ्मण्डल
तपा, चली लू, लपटें उठने लगीं, अमङ्गल

फैला, आहों से लोगों की पृथ्वी छायी,
बढ़ा त्रास, फिर अपलापों की बारी आयी,
रहित बुद्धि से लोग असंयत हुए अनर्गल,
किन्तु नहीं तुम हिले, तुम्हारे उमड़े बादल,
गरजे सारा गगन घेर बिजली कड़काकर,
काँपे वे कापुरुष सभी अपने-अपने घर,
धारा झरझर झरी, घटा फिर फिर घिर आयी,
सौ सौ छन्दों में फूटी रागिनी सुहायी
सावन की, निर्बल दबके दल-के-दल वे जन,
अपने घर में करते भला-बुरा आलोचन;
भरी तुम्हारी धरा हरित साड़ी पहने ज्यों
युवती देख रही हो नभ को नहीं जहाँ क्यों।

आयी शरत तुम्हारी, आयत-पङ्कज-नयना,
हरसिंगार के पहन हार ज्योतिर्मय-अयना;
एक बार फिर से लोगों को सिन्धुस्नान कर
निकला हुआ दिखा काशी में इन्दु मनोहर—
विजय तुम्हारी, लिये हृदय में लाञ्छन सुन्दर
अस्त हो गया कीर्ति तुम्हारी गा अविनश्वर।

हे चतुरङ्ग, तुम्हारी विजयध्वजा धारण कर
खड़े सुमित्रानन्दन, देवी, मोहन, दिनकर,
माखनलाल, नवीन, भगवती, चन्द्र, आरसी,
कमल, प्रभात, सुभद्रा, अञ्चल, अज्ञेयशशी
कितने रवि, केसरी, कुमार, नरेन्द्र, रमा, ये
रामविलास, प्रदीप, जानकीवल्लभ जागे,
भिन्न रूप-रँग के, पर एक लक्ष्य के सक्षम
कितने और तुम्हारी करते पूर्ति मनोरम
गद्य-पद्य की, प्रतिभा की, साहित्य-समर की,
सुमन, विनोद, उग्र, पाठक, वेढब बनारसी,
नन्ददुलारे, चन्द्र प्रकाश कुवँर, शिवमङ्गल,
इलाचन्द्र, बच्चन, हृदयेश, सुमित्रा, निर्मल,
कोकिल, विनयकुमार, श्याम, शाखाल, मञ्जु, छवि
नीलकण्ठ, सर्वदानन्द, गिरिजा, गुलाब कवि,
शिवपूजन, गङ्गाप्रसाद, बलभद्र, अश्क, श्री
लली, उदयशङ्कर, द्विज, मुकुल, अरुण, सावित्री।

यौवन का हेमन्त तुम्हारा भर लहराया
एक छोर से अन्य छोर तक जीवन छाया,
गेहूँ की, अरहर की, जौ की, चने-मटर की
हरियाली-ही-हरियाली फैली, घर-घर की
खेती ज्वार-वाजरे की आयी कट-कटकर,
सुखी हुए सब जन अपने अपने सुन्दर घर
खुशियाँ लगे मनाने, हुआ हृदय मे निश्चय—
वदले दिन जो रहे हमारे, अब हम निर्भय,—
वढे हुए जो, उनकी आँखों पर आँखें रख
वातचीत कर सकते है हम, अब कोई पख
लगा नहीं सकता, दीनता हमारी पहली
नही रही वह; पुराङ्गनाओं ने हँस कह ली
श्री की कथा, दीप से ज्योतित कर अन्त:पुर,
नम्र देखती मधुर, प्रकाशित करती-सी उर
अन्य जनों का, तरुणी पुस्तक पाठ मे लगी
आदर करती-सी अतीत का, प्राण में जगी
वर्तमान की ओर वढ़ी।
अपने में निश्चल
युगप्रवर्तक, हुए शीत में व्याधि से विकल,
रहा साथ मैं नतमस्तक, सेवा को; अग्रज,
चले गये तुम धरा छोड़ गौरव-विजय ध्वज !

[रचनाकाल : 1940 ई.। 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, दिसम्बर, 1940, मे प्रकाशित। *अणिमा* में संकलित]

गर्म पकौड़ी

गर्म पकौड़ी—
ऐ गर्म पकौड़ी !
तेल की भुनी,
नमक - मिर्च की मिली,
ऐ गर्म पकौड़ी !

मेरी जीभ जल गयी,
सिसकियाँ निकल रहीं,
लार की बूँदें कितनी टपकीं,
पर दाढ़ तले तुझे दबा ही रक्खा मैंने
कंजूस ने ज्यों कौड़ी।
पहले तूने मुझको खींचा,
दिल लेकर फिर कपड़े-सा फींचा,
अरी, तेरे लिए छोड़ी
बम्हन की पकायी
मैंने घी की कचौड़ी।

[रचनाकाल : 1940 ई. । पहले कुकुरमुत्ता में, फिर नये पत्ते में संकलित]

मैं अकेला

मैं अकेला;
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सान्ध्य वेला।

पके आधे बाल मेरे,
हुए निष्प्रभ गाल मेरे,
चाल मेरी मन्द होती आ रही,
हट रहा मेला।
जानता हूँ, नदी-झरने,
जो मुझे थे पार करने,
कर चुका हूँ, हँस रहा यह देख,
कोई नहीं भेला*।

*भेला—पुराने ढङ्ग की नाव।

[रचनाकाल : 1940 ई. । अणिमा में संकलित]

मैं बैठा था पथ पर

मैं बैठा था पथ पर,
तुम आये चढ़ रथ पर।

हँसे किरण फूट पड़ी,
टूटी जुड़ गयी कड़ी,
भूल गये पहर-घड़ी,
आयी इति अथ पर।

उतरे, बढ़ गही बाँह,
पलकों की पड़ी छाँह,
शीतल हो गयी देह,
बीती अविकथ पर।

[रचनाकाल : 1940 ई.। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, जनवरी, 1941, मे प्रकाशित। **अणिमा** में संकलित]

श्रद्धांजलि

(आचार्य शुक्लजी के प्रति)

अमा निशा थी समालोचना के अम्बर पर
उदित हुए जब तुम हिन्दी के दिव्य कलाधर।
दीप्ति-द्वितीया हुई लीन खिलने से पहले
किन्तु निशाचर सन्ध्या के अन्तर मे दहले।
स्पष्ट तृतीया, खिची दृष्टि लोगों की सहसा,
छिडी सिद्ध साहित्यिक से तुमसे जब बचसा।
मुक्त चतुर्थी, समालोचना वधू व्याहकर
लाये तुम, पञ्चमी काव्यवाणी अपने घर।
षष्ठी, छः ऐश्वर्य प्रदर्शित कोष प्राण में;
शिक्षण की सप्तमी—महार्णव सप्त ज्ञान में।

दिये अष्टमी आठो वसु टीकाओं में भर,
नवमी शान्ति ग्रहों की, दशमी विजित दिगम्बर।
एकादशी रुद्रता, रामा कला द्वादशी,
त्रयोदशी-प्रदोष-गत चतुर्दशी-रत्न शशी।

[सम्भावित रचनाकाल : 1941 ई. का पूर्वार्ध। अणिमा मे संकलित]

कुकुरमुत्ता

[1]

एक थे नव्वाव,
फारस के मँगाये थे गुलाव।
वड़ी वाड़ी मे लगाये
देशी पौधे भी उगाये
रखे माली कई नौकर
गज़नवी का वाग मनहर
लग रहा था।
एक सपना जग रहा था
साँस पर तहज़ीव की,
गोद पर तरतीव की।
क्यारियाँ सुन्दर वनी
चमन मे फैली घनी।
फूलो के पौधे वहाँ
लग रहे थे खुशनुमा।
वेला, गुलशव्वो, चमेली, कामिनी,
जुही, नरगिस, रातरानी, कमलिनी,
चम्पा, गुलमेहदी, गुलखैरू, गुलअव्वास,
गेंदा, गुलदाऊदी, निवाड़ी, गन्धराज,
और कितने फूल, फव्वारे कई,
रंग अनेकों—सुर्ख, धानी, चम्पई,
आसमानी, सव्ज़, फीरोजी, सफेद,
जर्द, वादामी, वसन्ती, सभी भेद।

फलों के भी पेड़ थे,
आम, लीची, सन्तरे और फालसे।
चटकती कलियाँ, निकलती मृदुल गन्ध,
गले लगकर हवा चलती मन्द-मन्द,
चहकते बुलबुल, मचलती टहनियाँ,
बाग़ चिड़ियों का बना था आशियाँ।
साफ़ राहें, सरो दोनों ओर,
दूर तक फैले हुए कुल छोर,
बीच मे आरामगाह
दे रही थी बड़प्पन की थाह।
कहीं झरने, कहीं छोटी-सी पहाड़ी,
कहीं सुथरा चमन, नकली कहीं झाड़ी।

आया मौसिम, खिला फ़ारस का गुलाब,
बाग पर उसका पड़ा था रोबोदाब;
वहीं गन्दे में उगा देता हुआ बुत्ता
पहाड़ी से उठे-सर ऐंठकर बोला कुकुरमुत्ता—
"अबे, सुन बे, गुलाब,
भूल मत जो पायी खुशबू, रङ्गोआब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतराता है केपीटलिस्ट !
कितनों को तू ने बनाया है गुलाम,
माली कर रक्खा, सहाया जाड़ा-घाम,
हाथ जिसके तू लगा,
पैर सर रखकर व' पीछे को भगा
औरत की जानिब मैदान यह छोड़कर,
तबेले को टट्टू जैसे तोड़कर,
शाहों, राजों, अमीरों का रहा प्यारा
तभी साधारणों से तू रहा न्यारा।
वरना क्या तेरी हस्ती है, पोच तू
काँटों ही से भरा है यह सोच तू
कली जो चटकी अभी
सूखकर काँटा हुई होती कभी।
रोज़ पड़ता रहा पानी,
तू हरामी खानदानी।

चाहिए तुझको सदा मेहरुन्निसा
जो निकाले इत्र, रु, ऐसी दिशा
वहाकर ले चले लोगों को, नहीं कोई किनारा
जहाँ अपना नहीं कोई भी सहारा
ख्वाव मे डूवा चमकता हो सितारा
पेट मे डँड़ पेले हों चूहे, जवाँ पर लफ्ज़ प्यारा।

देख मुझको, मैं वढ़ा
डेढ़ वालिश्त और ऊँचे पर चढा
और अपने से उगा मैं
विना दाने का चुगा मैं
क़लम मेरा नहीं लगता
मेरा जीवन आप जगता
तू है नक़ली, मैं हूँ मौलिक
तू है वकरा, मैं हूँ कौलिक
तू रँगा और मैं घुला
पानी मैं, तू वुल्वुला
तू ने दुनिया को विगाड़ा
मैंने गिरते से उभाड़ा
तू ने रोटी छीन ली जनखा वनाकर
एक की दी तीन मैंने गुन सुनाकर।

काम मुझ ही से सधा है
शेर भी मुझसे गधा है।
चीन में मेरी नक़ल, छाता वना
छत्र भारत का वही, कैसा तना
सव जगह तू देख ले
आज का फिर रूप पैराशूट ले।
विष्णु का मैं ही सुदर्शनचक्र हूँ।
काम दुनिया मे पड़ा ज्यों, वक्र हूँ।
उलट दे, मैं ही जसोदा की मथानी
और भी लम्वी कहानी—
सामने ला, कर मुझे वेंड़ा
देख कैंड़ा
तीर से खींचा धनुष मैं राम का।
काम का—

पड़ा कन्धे पर हूँ हल बलराम का।
सुबह का सूरज हूँ मैं ही
चाँद मै ही शाम का।
कलजुगी मैं ढाल
नाव का मैं तला नीचे और ऊपर पाल।
मैं ही डाँडी से लगा पल्ला
सारी दुनियाँ तोलती ग़ल्ला
मुझसे मूछें, मुझसे क़ल्ला
मेरे लल्लू, मेरे लल्ला
कहे रुपया या अधन्ना
हो बनारस या न्यवन्ना
रूप मेरा, मै चमकता
गोला मेरा ही बमकता।
लगाता हूँ पार मै ही
डुबाता मझदार मै ही।
डब्बे का मै ही नमूना
पान मैं ही, मैं ही चूना।
मैं कुकुरमुत्ता हूँ,
पर बेन्जाइन (Bengoin) वैसे
बने दर्शनशास्त्र जैसे।
ओम्फलस (Omphalos) और ब्रह्मावर्त
वैसे ही दुनिया के गोले और पर्त
जैसे सिकुड़न और साड़ी,
ज्यो सफाई और माड़ी।
कास्मोपालीटन् और मेट्रोपालीटन्
जैसे फ्रायड् और लीटन्।
फ़ेलसी और फ़लसफ़ा
जरूरत और हो रफ़ा।
सरसता में फ़्राड्
केपीटल् मे जैसे लेनिनग्राड।
सच समझ जैसे रकीब
लेखकों मे लण्ठ जैसे खुशनसीब।

मै डबल जब, बना डमरू
इकबग़ल, तब बना वीणा।

मन्द्र होकर कभी निकला
कभी बनकर ध्वनि क्षीणा।
मैं पुरुष और मैं ही अबला।
मैं मृदङ्ग और मैं ही तबला।
चुन्ने खाँ के हाथ का मैं ही सितार
दिगम्बर का तानपूरा, हसीना का सुरबहार।
मैं ही लायर, लीरिक मुझमें ही बने
संस्कृत, फारसी, अरबी, ग्रीक, लैटिन के जने
मन्त्र, गज़लें, गीत मुझसे ही हुए शैदा
जीते हैं, फिर मरते हैं, फिर होते हैं पैदा।
वायलिन् मुझसे बजा
बेन्जो मुझसे सजा।
घण्टा; घण्टी, ढोल, डफ, घड़ियाल,
शङ्ख, तुरही, मजीरे, करताल,
कारनेट्, क्लेरीअनेट्, ड्रम, फ्लूट, गीटर,
बजानेवाले हसन खाँ, बुद्धू, पीटर,
मानते हैं सब मुझे ये बांये से,
जानते हैं दांये से।

ताताधिन्ना चलती है जितनी तरह
देख, सब में लगी है मेरी गिरह।
नाच में यह मेरा ही जीवन खुला
पैरों से मैं ही तुला।
कत्थक हो या कथकली या बालडान्स,
क्लियोपेट्रा, कमल-भौंरा, कोई रोमान्स
बहेलिया हो, मोर हो, मणिपुरी, गरबा,
पैर, माझा, हाथ, गरदन, भौंहें मटका
नाच अफ्रीकन हो या यूरोपीयन,
सब में मेरी ही गढ़न।
किसी भी तरह का हावभाव,
मेरा ही रहता है, सबमें ताव।
मैंने बदले पैंतरे,
जहाँ भी शासक लड़े।
पर हैं प्रोलेटेरियन झगड़े जहाँ,
मियाँ-बीवी के, क्या कहना है वहाँ।
नाचता है सूदखोर जहाँ कहीं ब्याज डुचता,
नाच मेरा क्लाईमेक्स को पहुँचता।

नही मेरे हाड़; काँटे, काठ या,
नही मेरा वदन आठोगाँठ का।
रस-ही-रस मैं हो रहा
सफ़ेदी को जहन्नम रोकर रहा।
दुनिया मे सवने मुझी से रस चुराया,
रस में मैं डूवा-उतराया।
मुझी में गोते लगाये वाल्मीकि-व्यास ने
मुझी से पोथे निकाले भास-कालिदास न।
टुकुर-टुकुर देखा किये मेरे ही किनारे खड़े
हाफ़िज़-रवीन्द्र जैसे विश्वकवि वड़े-वड़े।
कही का रोड़ा, कही का पत्थर
टी. एस. एलीयट ने जैसे दे मारा
पढ़नेवालो ने भी जिगर पर रखकर
हाथ, कहा, 'लिख दिया जहाँ सारा'।
ज्यादा देखने को आँख दवाकर
शाम को किसी ने जैसे देखा तारा।
जैसे प्रोग्रेसीव का क़लम लेते ही
रोका नही रुकता जोश का पारा।
यहीं से यह कुल हुआ
जैसे अम्मा से वुआ।
मेरी सूरत के नमूने पीरामीड्
मेरा चेला था यूक्लीड्।
रामेश्वर, मीनाक्षी, भुवनेश्वर,
जगन्नाथ, जितने मन्दिर सुन्दर
मैं ही सवका जनक
जेवर जैसे कनक।
हो क़ुतुवमीनार,
ताज, आगरा या फ़ोर्ट चुनार,
विक्टोरिया मेमोरियल, कलकत्ता,
मस्जिद, वगदाद, जुम्मा, अलवत्ता
सेन्ट पीटर्स गिरजा हो या घण्टाघर,
गुम्वदों मे, गढ़न मे मेरी मुहर।
एरियन हो, पर्शियन या गाथिक आर्च
पड़ती है मेरी ही टार्च।
पहले के हों, वीच के या आज के
चेहरे से पिद्दी के हो या वाज के।

चीन के फारस के या जापान के
अमरिका के, रूस के, इटली के, इँगलिस्तान के।
ईंट के, पत्थर के हों या लकड़ी के
कहीं की भी मकड़ी के।
बुने जाले जैसे मकाँ कुल मेरे
छत्ते के हैं घेरे।

सर सभी का फाँसनेवाला हूँ ट्रेप
टर्की टोपी, दुपलिया या किश्ती-केप।
और जितने, लगा जिनमें स्ट्रा या मेट,
देख, मेरी नक़ल है अँगरेजी हेट।
घूमता हूँ सर चढ़ा,
तू नहीं, मैं ही बड़ा।"

[2]

बाग के बाहर पड़े थे झोंपड़े
दूर से जो दिख रहे थे अधगड़े।
जगह गन्दी, रुका, सड़ता हुआ पानी
मोरियों में; ज़िन्दगी की लन्तरानी—
बिलबिलाते कीड़े, बिखरी हड्डियाँ
सेलरों की, परों की थी गड्डियाँ
कहीं मुर्गी, कहीं अण्डे,
धूप खाते हुए कण्डे।
हवा बदबू से मिली
हर तरह की बासीली पड़ गयीं।
रहते थे नव्वाब के ख़ादिम
अफ्रिका के आदमी आदिम—
खानसामाँ, बावर्ची और चोबदार;
सिपाही, साईस, भिश्ती, घुड़सवार,
तामजानवाले कुछ देशी कहार,
नाई, धोबी, तेली, तम्बोली, कुम्हार,
फ़ीलवान, ऊँटवान, गाड़ीवान
एक खासा हिन्दु-मुस्लिम खानदान।
एक ही रस्सी से क़िस्मत की बँधा
काटता था जिन्दगी गिरता-सधा।

बच्चे, बुड्ढे, औरतें और नौजवान
रहते थे उस बस्ती मे, कुछ बाग़बान
पेट के मारे वहाँ पर आ बसे,
साथ उनके रहे, रोये और हँसे।

एक मालिन
बीबी मोना माली की थी बंगालिन;
लड़की उसकी, नाम गोली
वह नव्वाबजादी की थी हमजोली।
नाम था नव्वाबज़ादी का बहार
नज़रों में सारा जहाँ फ़र्माबरदार।
सारङ्गी जैसी चढ़ी
पोएट्री मे बोलती थी
प्रोज़ मे बिल्कुल अड़ी।
गोली की माँ बंगालिन, बहुत शिष्ट
पोयट्री की स्पेशलिस्ट।
बातों जैसे मजती थी
सारङ्गी वह बजती थी।
सुनकर राग, सरगम, तान
खिलती थी बहार की जान।
गोली की माँ सोचती थी—
        गुरु मिला,
बिना पकड़े खींचे कान
देखादेखी बोली मे
माँ की अदा सीखी नन्हीं गोली ने।
इसलिए बहार वहाँ बारहोमास
डटी रही गोली की माँ के
        कभी गोली के पास।
सुब्हो-शाम दोनो वक़्त जाती थी
खुशामद से तनतनाई आती थी।
गोली डाँडी पर पासङ्गवाली कौड़ी
स्टीमबोट की डोंगी, फिरती दौड़ी।
पर कहेंगे—
'साथ-ही-साथ वहाँ दोनों रहती थी
अपनी-अपनी कहती थी।

दोनो के दिल मिले थे
तारे खुले-खिले थे।
हाथ पकडे घूमती थी
खिलखिलाती झूमती थी।
इक पर इक करती थी चोट
हँसकर होती लोटपोट।
सात का दोनो का सिन
खुशी से कटते थे दिन।'
महल में भी गोली जाया करती थी
जैसे यहाँ वहार आया करती थी।

एक दिन हँसकर वहार यह वोली—
"चलो, वाग घूम आये हम, गोली।"
दोनो चली, जैसे धूप, और छाँह
गोली के गले पड़ी वहार की वाँह।
साथ टेरियर और एक नौकरानी।
सामने कुछ औरतें भरती थी पानी
सिटपिटायी जैसे अड़गडे में देखा मर्द को
वावू ने देखा हो उठती गर्द को।
निकल जाने पर वहार के, वोली
पहली दूसरी से, "देखो, वह गोली
मोना वङ्गाली की लड़की।
भैस भड़की,
ऐसी उसकी माँ की सूरत
मगर है नव्वाव की आँखो मे मूरत।
रोज जाती है महल को, जगे भाग
आँख का जव उतरा पानी, लगे आग,
रोज ढोया आ रहा है माल-असवाव
वन रहे है गहने-ज़ेवर
पकता है कलिया-कवाव।"
झटके से सिर-काँख पर फिर लिये घड़े
चली ठनकाती कडे।
वाग मे आयी वहार
चम्पे की लम्वी क़तार
देखती वढती गयी
फूल पर अडती गयी।

मौलसिरी की छाँह में
कुछ देर बैठी बेञ्च पर
फिर निगाह डाली एक रेञ्ज पर
देखा फिर कुछ उड़ रही थीं तितलियाँ
डालों पर, कितनी चहकती थीं चिड़ियाँ।
भौंरे गूँजते, हुए मतवाले-से
उड़ गया इक मकड़ी के फँसकर बड़े-से जाले से।
फिर निगाह उठायी आसमान की ओर
देखती रही कि कितनी दूर तक छोर।
देखा, उठ रही थी धूप—
पड़ती फुनगियों पर, चमचमाया रूप।
पेड़ जैसे शाह इक-से-इक बड़े
ताज पहने, हैं खड़े।
आया माली, हाथ गुलदस्ते लिये
गुलबहार को दिये।
गोली को इक गुलदस्ता
सूँघकर हँसकर बहार ने दिया।
ज़रा बैठकर उठी, तिरछी गली
होती कुञ्ज को चली!
देखी फारांसीसी लिली
और गुलबकावली।
फिर गुलाबजामुन का बाग़ छोड़ा
तूतों के पेड़ों से बायें मुँह मोड़ा।
एक बगल की झाड़ी
बढ़ी जिधर थी बड़ी गुलाबबाड़ी।
देखा, खिल रहे थे बड़े-बड़े फूल
लहराया जी का सागर अकूल।
दुम हिलाता भागा टेरियर कुत्ता
जैसे दौड़ी गोली चिल्लाती हुई 'कुकुरमुत्ता'।

सकपकायी, बहार देखने लगी
जैसे कुकुरमुत्ते के प्रेम से भरी गोली दगी।
भूल गयी, उसका था गुलाब पर जो कुछ भी प्यार
सिर्फ़ वह गोली को देखती रही निगाह की धार।
टूटी गोली जैसे बिल्ली देखकर अपना शिकार
तोड़कर कुकुरमुत्तों को होती थी उनके निसार।

वहुत उगे थे तब तक
उसने कुल अपने आँचल में
तोडकर रखे अव तक।
घूमी प्यार से
मुसकराती देखकर वोली वहार से—
"देखो जी भरकर गुलाव
हम खायेंगे कुकुरमुत्ते का कवाव।"
कुकुरमुत्ते की कहानी
सुनी उससे, जीभ मे वाहर की आया पानी।
पूछा "क्या इसका कवाव
होगा ऐसा भी लजीज़ ?
जितनी भाजियाँ दुनिया में
इसके सामने नाचीज़ ?"
गोली वोली—"जैसी खुशवू
इसका वैसा ही सवाद,
खाते खाते हर एक को
आ जाती है विहिश्त की याद
सच समझ लो, इसका क़लिया
तेल का भूना कवाव,
भाजियों मे वैसा
जैसा आदमियो में नव्वाव।"

"नहीं ऐसा कहते री मालिन की
छोकडी वङ्गालिन की !"
डाँटा नौकरानी ने —
चढी-आँख कानी ने।
लेकिन यह, कुछ एक घूंट लार के
जा चुके थे पेट मे तव तक वहार के।
नहीं नहीं, अगर इसको कुछ कहा"
पलटकर वहार ने उसे डाँटा—
"कुकुरमुत्ते का कवाव खाना है,
इसके साथ यहाँ जाना है।"
"वता, गोली" पूछा उसने,
"कुकुरमुत्ते का कवाव
वैसी खुशवू देता है
जैसी कि देता है गुलाव !"

गोली ने बनाया मुंह
बायें घूमकर फिर एक छोटी-सी निकाली "ऊँह !"
कहा, "बकरा हो या दुम्बा
मुर्ग या कोई परिन्दा
इसके सामने सब छूः
सबसे बढकर इसकी खुशबू।
भरता है गुलाब पानी
इसके आगे मरती है इन सबकी नानी।"
चाव मे गोली चली
बहार उसके पीछे हो ली,
उसके पीछे टेरियर, फिर नौकरानी
पोंछती जो आंख कानी।

चली गोली आगे जैसे डिक्टेटर
बहार उसके पीछे जैसे भुक्खड़ फालोवर।
उसके पीछे दुम हिलाता टेरियर—
आधुनिक पोयेट (Poet)
पीछे बाँदी बचत की सोचती
केपीटलिस्ट क्वेट।
झोपड़ी मे जल्द चलकर गोली आयी
जोर से 'माँ' चिल्लायी।
माँ ने दरवाजा खोला,
आँखों से सबको तोला।
भीतर आ डलिये में रक्खे
गोली ने वे कुकुरमुत्ते।
देखकर माँ खिल गयी,
निधि जैसे मिल गयी।
कहा गोली ने "अम्मा,
कलिया-कबाब जल्द बना।
पकाना मसालेदार
अच्छा, खायेंगी बहार।
पतली-पतली चपातियाँ
उनके लिए सेंक लेना।"
जला ज्यों ही उधर चूल्हा,
खेलने लगीं दोनों दूल्हन-दूल्हा।

कोठरी मे अलग चलकर
बाँदी की कानी को छलकर।
टेरियर था बराती
आज का गोली का साथी।
हो गयी शादी की फिर दूल्हन-बहार से।
दूल्हा-गोली बातें करने लगी प्यार से।
इस तरह कुछ वक़्त बीता, ख़ाना तैयार
हो गया, खाने चली गोली और बहार।
कैसे कहें भाव जो माँ की आँखों से बरसे
थाली लगायी बड़े समादर से।
खाते ही बहार ने यह फरमाया,
"ऐसा खाना आज तक नही खाया।"
शौक से लेकर सवाद
खाती रही दोनो
कुकुरमुत्ते का कलिया-कबाब।
बाँदी को भी थोड़ा-सा
गोली की माँ ने कबाब परोसा।
अच्छा लगा, थोड़ा-सा कलिया भी
बाद को ला दिया,
हाथ धुलाकर देकर पान उसको विदा किया।

कुकुरमुत्ते का कहानी
सुनी जब बहार से
नव्वाब के मुँह आया पानी।
बाँदी से की पूछताछ,
उनको हो गया विश्वास।
माली को बुला भेजा,
कहा, "कुकुरमुत्ता चलकर ले आ तू ताज़ा-ताजा।"
माली ने कहा, "हुजूर,
कुकुरमुत्ता अब नही रहा है, अर्ज़ हो मञ्जूर,
रहे है अब सिर्फ गुलाब।"
गुस्सा आया, काँपने लगे नव्वाब।
बोले; "चल, गुलाब जहाँ थे, उगा,
सबके साथ हम भी चाहते है अब कुकुरमुत्ता।"

बोला माली, "फ़रमाएँ मआफ़ ख़ता,
कुकुरमुत्ता अब उगाया नही उगता।"

[रचनाकाल : 3 अप्रैल, 1941। 'हंस', मासिक, बनारस, मई, 1941, और 'तरुण', मासिक, इलाहाबाद, जुलाई, 1941, मे आरम्भिक अंश प्रकाशित। पहले **कुकुरमुत्ता** मे सकलित, फिर 1948 ई. मे संशोधन के साथ स्वतन्त्र रूप में प्रकाशित]

खजोहरा

दौड़ते हैं बादल ये काले काले,
हाईकोर्ट के वकले मतवाले।

जहाँ चाहिए वहाँ नहीं बरसे,
धान सूखे देखकर नही तरसे।

जहाँ पानी भरा वहाँ छूट पड़े,
क़हक़हे लगाते हुए टूट पडे।

फिर भी यह बस्ती है मोद पर
नातिन जैसे नानी की गोद पर;

नाम है हिलगी, बनी है भूचुम्बी
जैसी लौकी की लम्बी तुम्बी।

कच्चे घर ऊबड़खाबड़, गन्दे
गलियारे, बन्द पड़े कुल धन्धे।

लोग बैठे लेते है जमहाई,
ठण्डी - ठण्डी चलती है पुरवाई।

खरीफ निराई जा चुकी है, नहीं
करने को रहा कोई काम कही।

बारिश से बढी ज्वार, बाजरा, उर्द,
गाँव हरे-भरे कुल, कलाँ और खुर्द।

लोग रोज़ रात को आल्हा गाते
ढोलक पर, अपना जी बहलाते।

झूला झूलती गाती है सावन
औरतें, "नही आये मनभावन!"

लड़के पेंगे मारते हैं बढ़-बढ़कर
गूंज रहा है भरा हुआ अम्बर।

सावन मे भतीजा होने को हुआ
पहले से बुला लायी गयी बुआ।

नैहर मे घूंघट के उठने से
बुआजी की जान बची छुटने से।

ब्याह के पहले के प्यारे-प्यारे
गाँव के नज्जारे जग गये सारे।

याद आयी सहेलियाँ, साथी कुल;
तरह-तरह की हुईं रगरेलियाँ कुल।

मुन्नी-मुन्ने जितने है चुन्नी-चुन्ने,
आँखों पर फिरते हैं सभी टुन्नी-टुन्ने।

कोई नही, लड़कियाँ गयी ससुराल,
लड़के गये बढ़कर परदेस, यह हाल।

मगर दिल बहलाने के लिए फिलहाल
बुआ नहाने चली वह बाग का ताल।

पिछला पहर दिन का, पीली पड़ी धूप;
सारे गाँव का हुआ सुनहला रूप।

सब्जे-सब्जे पर सोने का पानी चढा,
हुस्न और जमाल जैसे और बढ़ा।

गाँव के किनारे निकल आयी बुआ,
बँधी जगतवाला दायें मिला कुआँ।

नीम से लगा कच्चा चवूतरा,
टिन्ना बैठा काट रहा था दोहरा।

देखकर वुआ को मुस्कराया, पूछा—
"अकेली - अकेली कहाँ चली वुआ ?"

गुस्सा आया, वुआ काँपने लगी,
गालियों से गला नापने लगी।

आगे वढी, चढ़े आवरू खमदार,
स्वाभिमान से पड़े पहलू दमदार।

वायी वगल कुछ आगे वढ़ी कि पड़ी
गाँव के किनारे की वड़ी गड़ही।

भरी हुई किनारे तक, उमड़ चली,
वहती हुई गाँव के नाले मे मिली।

मेढक एक वोलता है जैसे सुकरात,
दूसरा फ़लातूँ सुन रहा है बात।

तेज़ हवा से पछाँह को झुके
ज्वार के पौधे सिपाही जैसे दिखे।

वनविलाव मार्लवरो जैसा अड़ा
घोसले के पास गूलर पर चढा।

इसी वक़्त विल से लोमडी निकली,
इधर - उधर देखती आगे वढ़ी।

भुजैल एक वोलती है "पण्डित जी"
मेड़ के किनारे चुगती है पिड़की।

सतभैये एक पेड़ के नीचे
दूसरी पार्टी से लड़ाते है पंजे।

एक डाल पर बैठी हुई रुकमिन
बुआ को याद आये पी से मिलने के दिन।

एक पेड पर बये के झोझें दिखी
अलग-अलग झूले जैसी कितनी लटकी।

एक तरफ भगा हुआ मोर गया,
झाड़ी से चौगड़ा कूदता निकला।

दूर चला जाता है हिरनों का झुण्ड,
भैंसों के लेवारेवाला मिला कुण्ड।

दौड़कर बबूल पर चढ़ा गिरदान,
देखा बुआ ने भवों की तिरछी बान।

चौतरफा आम के पेड़ो से घिरा,
बुआ को नहानेवाला ताल मिला।

कितना पुराना, किसका खोदाया हुआ,
गाँव के किसी को यह मालूम न था।

बाँध ताल के, बारिश से छटकर,
ढाल में अब बदल गये थे कटकर।

मिट्टी भर जाने से ताल उथला था,
डूबने से लोगो को बचाता रहा।

किनारे - किनारे लगे आम के पेड़,
दूर से उठायी ऊँची - ऊँची मेड़।

मिट्टी के सबब दूध ऐसा था पानी,
खुश होकर बुआ ने नहाने की ठानी।

उतरी जैसे ठाकुर की विजयिनी हो,
जिसके दिल में नही आज-कल-परसो;

एक प्रेम हो ऐड़ी से चोटी तक,
जिसको चाहती है दुबली से मोटी तक।

बुआ ताल में पैठी जैसे हथनी,
डर के मारे काँपने लगा पानी;

लहरें भगीं चढ़ने को किनारे पर,
बाँधा पानी बुआ ने बाँहो से भरकर।

नीव के खम्भे हों, पैर कीच में है;
जाँघ से छाती तक अङ्ग बीच मे है।

सोचा, कभी नहाती थी दिन-दिन भर,
लडकियो को गाड़ती थी गिन-गिनकर।

विजय का मद आया कि देखे भुजदण्ड,
पहले से और चढ़े हुए, और प्रचण्ड।

साँस ली बुआ ने, तेज़ चली हवा,
झोका पुरवाई का एक आ लगा।

बुआ के ऊपर की आम की जो डाल
झोके से पुरवाई के हिली तत्काल।

छमा माँगने को मदनजसा बैठा
डाल पर बड़ा - सा खजोहरा था;

रोयाँ हर एक उसका तीर फूल का था
सुन्दरी की ओर को तना हुआ।

बुआ के कन्धे पर टूटकर आया,
चाँटे के पड़ते ही पिलौधा हुआ;

रोएँ आये कन्धों, हथेलियों पर,
बाँहों पर, पानी पर बहेलियों पर।

जहाँ - जहाँ गड़े, ज़ोर की खुजली
उठी, बुआ ताल के बाहर निकली।

निकलते, कुल अंगों मे पानी के साथ,
फैली, खुजलाने लगी वे दोनो हाथ।

एक छन में जलन सौगुनी बढ़ी,
वुआ जैसे अंगारों पर हो खड़ी;

धोती वदलनी थी, पर न वदल सकी,
मात नील गाय को करती वे भगी।

अँधेरा हो आया था, इतनी भलाई,
कोई उनकी न देख पाया भगाई।

चौकड़ी उठाती गाँव को आयी,
दरवाज़े "अम्मा" की आवाज़ें लगायी।

अम्मा ने जल्द आकर दरवाज़ा खोला,
पूछा, "अरी विट्टो, तुमको क्या हुआ?"

वुआ ने कहा, "मुआ खजोहरा,
नहाते-नहाते मुझको लग गया।"

घी ले आयी अम्मा, पूछा "कहाँ लगे?"
वुआ ने कहा कि नहीं वची जगह।

['हंस', मासिक, वनारस, अगस्त, 1941। पहले **कुकुरमुत्ता** मे, फिर **नये पत्ते** मे सकलित]

नूपुर के सुर मन्द रहे

नूपुर के सुर मन्द रहे,
जव न चरण स्वच्छन्द रहे।
उतरी नभ से निर्मल राका,
पहले जव तुम ने हँस ताका
वहुविध प्राणों को झंकृत कर
वजे छन्द जो वन्द रहे।

नयनों के ही साथ फिरे वे
मेरे घेरे नहीं घिरे वे,
तुमसे चल तुममें ही पहुँचे
जितने रस आनन्द रहे।

[रचनाकाल : 1941 ई. **अणिमा** मे संकलित]

बादल छाये

बादल छाये,
ये मेरे अपने सपने

आँखो से निकले, मँडलाये।

बूंदे जितनी
चुनी अधखिली कलियाँ उतनी;
बूंदों की लड़ियो के इतने
हार तुम्हे मैंने पहनाये !

गरजे सावन के घन घिर घिर,
नाचे मोर वनों में फिर फिर
जितनी बार
चढ़े मेरे भी तार

छन्द से तरह तरह तिर,

तुम्हे सुनाने को मैंने भी
नही कहीं कम गाने गाये।

[रचनाकाल : 1941 ई.। **अणिमा** मे संकलित]

उद्बोधन

दूर करो भ्रम-भास,
खोलो ये पलकें,
खुला सूर्य, खुला दिगाकाश।
खुले हुए राजपथ
स्थल-जल-व्योम के,
चलते हैं अविरत
यात्री भी सोम के,
जान ले हथेली मे,
धात्री तुम्हारी किन्तु
गाँव की वसुन्धरा
आज भी पहेली में
खड्डों से भरी हुई
हो रही है प्राणहरा
यदि यान-वाहनो की
मन्द हो रही है चाल,
प्रगति मे तुम्हारे यदि
बिछा काँटो का जाल,
उड़ती है सदा धूल,
हिम्मत न हारो तुम,
सुधरेगी यह भूल,
सुथरा होगा यह पथ,
उठेंगे शीघ्रगति
लक्ष्य को पद श्लथ।
नहीं वह तुम्हारी गति
लोभ-लुण्ठन हो जहाँ
नाश जिसकी परिणति,
औद्धत्य यौवन
हो युद्ध की विघोषणा,
हार और मृत्यु के ही
उदर की पोषणा।
कहता है इतिहास,
सत्य-ज्ञान-प्रेम का
तुम्हारा दिया है प्रकाश।

उठी नही तलवार
देश की पराजय को,
वही है सहस्रधार
मुक्ति यहाँ से, क्षय को
मृत्यु के जड़त्व के;
नही यहाँ थे गुलाम,
देश यह वही जहाँ
जीते गये क्रोध-काम;
भाव उठा लो वही
जीवन का वार एक
और सहो तो सही।
सवल यों नीति से,
पढ़ो दान विश्व के
दिये जो ज्ञान-रीति के,
खुले हुए विश्व को
समझो तुम देखकर,
प्रतिमा विशेषकर
ध्यान मे समायी हुई—
जैसे आकाश मे
सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह
पृथ्वी और जड़-चेतन
वह रूप-रेखाएँ
दिखती हैं, वैसे ही
ज्ञान मे
दिखेंगे वीज विश्व के विकास के
ज्ञान-विज्ञान के,
दर्शनेतिहास गत
भिन्न-भिन्न भावों के।
सम्बद्ध क्रियाशील
देखोगे, सलील ही
वदल गये हैं रूप—
भाव, जो तुम्हारे थे,
साथ ही साथ ये
वदले है घर-द्वार,
जीवन के अनिवार
नियम से हैं उठे

आलोक-छाया-प्रद,
जीवनद व्यवहार,
वहता चलता हुआ
कलकल ध्वनि कर,
अर्थ परमार्थ से
मिलते खिलते हुए
प्रतिवर्ष के-से फूल,
भिन्न-भिन्न रूप के
कृषि-शिल्प-व्यापार
रक्षण के स्तम्भ-से
खड़े समारम्भ के
नगर-समाज-शास्त्र,
आज दिव्यास्त्र ज्यों
विश्वमानवता के,
राजनीति-धर्मनीति
वर्जित पाशवता से,
सभी वदले हुए—
सभी भिन्न रूप के,
जर्जरता-स्तूप से
मन्त्र निकले हुए,
साम्य रखते हुए
विश्व के जीवन से;
वदले हुए कुम्हार,
नाई-धोवी-कहार,
व्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य,
पासी-भङ्गी-चमार,
परिया और कोल-भील;
नहीं आज का यह हिन्दू,
आज का यह मुसलमान,
आज का ईसाई, सिक्ख,
आज का यह मनोभाव,
आज की यह रूपरेखा।
नहीं यह कल्पना,
सत्य है मनुष्य का
मनुष्यत्व के लिए,
वन्द है जो दल अभी

किरण-सम्पात से
खुल गये वे सभी।

[रचनाकाल : 1941 ई.। **अणिमा** में संकलित]

अज्ञता

मन के तिनके
नहीं जले अब तक भी जिनके,
देखा नहीं उन्होंने अब तक कोना-कोना
अपने जीवन का, दुनिया की चाँदी, सोना,
लाल, जवाहर, हीरे, मोती
छिपे हुए हैं अब तक उनसे, अब तक सोती
जगती भी आकांक्षा उनकी,
अब तक धुन की
नहीं उठी लौ,
उनके आसमान की अब तक नहीं फटी पौ,
नहीं दिखा
उनके जीवन की पुस्तक मे है कहाँ क्या लिखा,
मिले तार
उनके औरों से नहीं, नहीं बजती बहार।

[रचनाकाल : 1941 ई.। 'माधुरी', मासिक, लखनऊ, जून, 1942 ('साक्षरता' शीर्षक से)। **अणिमा** में संकलित]

स्फटिक-शिला

स्फटिक-शिला जाना था।
रामलाल से कहा।
उमड़ पड़े रामलाल।

बोले, "कुछ रुकिए, फिलहाल
गाड़ी तैयार नही;
यार, कही
ठोकर खा जाइएगा।
कौन कहे, सही हाथ-पैर लौट आइएगा।
कई नाले पडते है।
चढ़ते है, उतरते है।
नौजवाँ, देहाती, पहलवाँ
थकते है;
तन्दुरुस्त छकते है।
गाडी से चलेंगे।
दर्द कही बढ़ा तो मलेंगे
पैर।
आदमी भी साथ हैं।" "खैर",
मैंने कहा, "चलने की कही,
और देखे है पैर।
अपना भी होगा यों गैर ?"

गाड़ी आयी,
खय्याम की जैसी हो रुबाई।
आधी रात को चढ़े
चित्रकूट को बढ़े।
मिला किला पेशवों का करवी में
लिखा हुआ जैसे कुछ अरबी मे
रात को ऐसा दिखा
किस्मत मे जैसे कुछ हो लिखा।
पयस्विनी नदी पड़ी
जैसे लाज से गड़ी।
पानी थोड़ा-थोड़ा-सा।
गड़ा जैसे रोड़ा-सा
मेरे मन मे। पूछा
रामलाल से, "जो कुछ भी दिखता है, छूँछा,
ऐसा ही भरा है ?"
"जीता है कौन, कौन मरा है,
मुझको मालूम नही,
लेकिन यह है सही—
स्फटिक-शिला में नदी

वहुत काफी गहरी है
और वहुत चौड़ी भी
हालाँकि जगह वह यहाँ से वहुत ऊँची है,
मगर वहाँ रहते है,"—
रामलाल ने कहा। (ऐसा ही कहते है।)
वैल दो थे, साँवलिया
और धौला। धौला गरियार था।
वायें जुता। अक्सर चलती-चलती
गाड़ी मुड जाती थी वुरी तरह वायें को।
पूंछ ऐंठकर धौले को फिर-फिर दायें को
हाँकता था रामलाल का भाई
ता-ता-ता-ता करता। शहनाई
सुनकर मैं हँसता था।
ढाल से उतरकर वह वैल वहाँ धंसता था
इसी समय दलदल में
वायें मुड़ा।
पानी की कलकल मे
रामलाल डूबे हुए।
यानी वहुत ऊवे हुए।
वैल डालकर जुआ
भग खड़ा हुआ।
वच्चे को वडे आदमी-जैसा
देखता था साँवलिया
जुआ डालकर वही खड़ा।
धौले की ओर को चुमकारता वढ़ा
रामलाल का भाई। कडे हाथ
पकड़ ली धौले की ऐंठी नाथ।
जुए को फिर मोड़कर,
उतरे हुए लोगो की मदद से छोड़कर
राह पर,
वैलों को फिर जोता।
चला धौला अपनी ही पुरानी चाल फिर रोता।
नदी को पारकर
गाड़ी आयी राह पर।
स्यारों की जोड़ी मिली।
कही कोई झाड़ी खिली

रही होगी, खुशबू से
जान पडा। लोग बैठे जैसे चूसे
दमडी के आम हों,
गीले फिर भी, जैसे हों मास सावन या भादो।
राम-राम जपते थे,
काम से यों तपते थे।
मिली और गाडियाँ
करवी को जाती हुई, छोटी-छोटी झाड़ियाँ।
पौ फटी।
रात कटी।
धूहों से धूएँ के
वहाँ के पहाड़ दिखे।
रामलाल ने कहा,
"भरतकूप वह, अहा।
गुप्त गोदावरी वहाँ, उस पहाड के उधर,
वह देखो, श्रीकामदगिरि सुन्दर;
सावन मे जब देखा
मोरों की वादलो से और नीली रही रेखा,
हरे उस पहाड पर।
पयस्विनी झरररररर
वहती चली जाती है,
त्रेता की वात जैसे कहती चली जाती है।
वडे-वडे हरे पेड
करते हैं जैसे छेड
पावस-समीर से
लहराते धीर जैसे।
वह है हनुमद्धारा, पञ्चकोसी का पहाड़,
वह वहाँ है देवाङ्गणा, यहाँ से पड़ती है आड़
स्फटिक-शिला को, आश्रम
अत्रि-अनसूया का और भी है मनोरम।
स्वच्छ मन्दाकिनी नदी झरनों से यही निकली,
पहाडो के बीच पडी
वादलों मे जैसे विजली।
फूट रहे हैं सस्वर
नये स्रोत, झरने नये, गिरियों को फोड़कर।"

आगे बढ़े।
फले आम बड़े-बड़े झुके हुए देख पड़े
गौदों मे या इकले।
आदमी वहाँ से कुछ चले हुए आ निकले।
गाड़ियाँ भी जाती थी,
बैठी हुई देवियाँ इठलाती थी।
सीतापुर पास आया।
एक जगह पेड़ की आ पड़ी घनी-घनी छाया।
अक्कासी आती हुई देखकर
रामलाल बोले एक डण्डे से टेककर,
"सर को झुका लीजिएगा,
जरा ध्यान दीजिएगा,
जगह ऊँची-खाली है,
कुछ आगे नाली है।"
सीतापुर पारकर पयस्विनी फिर उतरी
गाड़ी पकड़े गली
नये गाँव को चली।
ऊँचा चढ़ती हुई, कही पर अड़ती हुई,
हवेली की बगल से
आगे बढ़ी गाडी वह। लिये हुए कुछ फल से
एक दल यात्रियों का जाता हुआ देख पड़ा।
छोड़कर उसको आगे बढ़ा फिर हमारा लढा।
राह के किनारे खुदरो दरख्त से बँधा हुआ
कच्चा चबूतरा मिला,
कुछ राह घेरे हुए। पत्थर एक रक्खा था
महादेवी की जगह पर। भाव मगर पक्का था।—
दखल जैसे जमाना चाहता था कोई अपना,
सत्य को जो बनाये हुए था वहाँ कल्पना।
बायें कुछ ही दूरी पर थी छोटी एक कुटिया,
छोटा-सा बबूल वह उसकी थी लकुटिया।
धौले ने न जाने कैसे यहाँ ऐसा मारा जोर,
दाये गयी गाड़ी, बाये मुड़ी जैसे, एक कोर
कटी चबूतरे की कि कुटिया से निकली
काली एक नारी गाली देती, खाती ढिकली
देखकर चबूतरा।
जैसे कोई अप्सरा

नाचने लगी हो गालियों से भाव बतलाकर
दोनों हाथ फैलाकर।
मैंने देखा, बड़ा मैला
मन उसका समाज से,
चोट खायी हुई वह रामजी के राज से,
शूद्रों को मिला नहीं
जिनसे कुछ भी कहीं।
ढाढस बँधाया मैंने मीठे-मीठे शब्द कहकर,
देखती रही वह आँसुओं की आँखों रह-रहकर।
कुछ दूर बढ़े और रुकने का ठौर था,
गाड़ी खड़ी हुई, अन्त जहाँ, एक पौर था।
द्वार पर चलकर
रामलाल ने पुकारा। तरुणी ने निकलकर
गाडी देखी। बँधी हुई गाय के छू लिये खुर
देखा फिर स्नेहभरी चितवन से जैसे सुर-
वधू हो। फिर चली गयी भीतर को धीरे से,
भेजा लडकी को, बोल बोली जो हीरे-जैसे—
"चालपाई दाली है,
बैठ जाव, काली है।"
बैठे कुछ देर हम लडकी व' एकटक
देखती रही हमको छोडकर बकझक।
बैलों को बाँधकर चारापानी करके
स्फटिक-शिला को कुछ तेज चाल हम चले
नये गाँव की तरफ़ से। देखा वह प्रमोद-वन
दूसरे किनारे से। हनुमद्धारा को देखकर
खिल गया हमारा मन।

वन था पहाड़ पर,
कहा कि दहाड़कर
शेर जब टूटता है,
तब काँप उठता है
जङ्गल, वे सभी पेड
जैसे काँपते हों मेंड़।
यह बघेलखण्ड है,
बड़ा ही प्रचण्ड है,
बाघ यहाँ का। कहा,
आगे वह जानकी ही कुण्ड अब दिख रहा।

हमने नदी पार की,
एक पनचक्की मिली।
अर्जुन के बड़े-बड़े
पेड़ खड़े थे अकड़े।
बन्दर वहाँ के सब
जैसे बिना-कलरव
कोई हो गृहवास
निष्प्रभ तथा उदास।
घने पेड़, छाया-तल,
स्वच्छ और शीतल जल।
यह है जानकीकुण्ड।
मछलियों के झुण्ड-झुण्ड।
कोई नही मारता है।
चारा खिला-खिलाकर सिधारता है।
बड़ी-बड़ी शिलाओं से टकराता हुआ जल
करता है अविराम कलकल-कलकल।
किनारे-किनारे बने साधुओं के बरवास
जो कि हैं अनन्य-दास
सीता-रामचन्द्र के
रहते अतन्द्र-से।
रम्य यह स्थल देखते हुए किनारे से
चले हम हारे जैसे
ऊपर-ऊपर। एक अच्छा आम का बग़ीचा मिला,
छोटे-छोटे जङ्गली पेड़ों से बन वह रहा खिला।
वहाँ रामलाल ने दिखाया फिर पहाड़ वह
जहाँ बैठा था जयन्त दबा। "काढ़कर वह
कौन तीर मारा राम ने जो पहुँचा वहाँ ?
मुझे झूठ जान पड़ता है, कहता यहाँ।
साधुओं से डर के मारे मैंने नही पूछा।
मुझे जान पड़ता है भरा हुआ सब छूंछा।"
रामलाल ने कहा।
मैंने रामलाल को जवाब छोटा-सा दिया
"होगा जैसा भी किया।"
देखने लगा मैं कहकर उस वन को।
भूल जाता है मन को

देखता हुआ पथिक।
चित्त हुआ समाहित।
ऊँची-नीची गलियो की झाड़ियों में लगा तिन—
सूखा मटमैला दाग।—वाढ़ के याद आये दिन।
साँप वडे ज़हरीले; टीलो पर रहते है,
बिच्छू, लकड़बग्घे, रीछ, चीते, यहाँ कहते है;
पेडो पर बिचखोपड़।
चिरौंजी, बहेड़ा, हड़
और पेड, बड़े-बड़े,
जङ्गल-के-जङ्गल खड़े।
बड़े बाघ और दूर रहते है,
पानी पीने रात को आते है, लोग कहते है,
या शिकार के लिए,
या कि भूले-भटके।
चले कुछ और हम,
मन्दाकिनी देख पडी भरी हुई मनोरम।
सचमुच ही यहाँ पानी नीचे से बहुत भरा,
देखकर जी हुआ हरा।
जैसे एक झील हो,
काला-काला स्वच्छ जल बहता सलील हो।
सघन द्रुमो की छाँह
शाखो से बढ़ाये बाँह।
पानी के बीच उठे पत्थरो पर उगी झाड़ियाँ,
बैठी हुई सारस ही की जातिवाली चिड़ियाँ।
ऊँची-ऊँची उधर है पहाड़ियाँ।
किनारे पर वैसे ही आवास और गुफाएँ बनी,
एक झाड़ी देखी घनी।
यात्री नहाते हुए।
इक्के-दुक्के लोग वहाँ आते और जाते हुए।
एक बाबा ने कहा, "भौरादहार है,
आराम यहाँ कीजिएगा?"
खड़ा हुआ स्फटिक-शिला मैं देखता ही रहा।
आँख पड़ी युवती पर
आयी थी जो नहाकर,
गीली धोती सटी हुई भरी देह मे, सुघर

उठे पुष्ट स्तन, दुष्ट मन को मरोड़कर,
आयत दृगों का मुख खुला हुआ छोड़कर।
वदन कहीं से नहीं काँपता।
कुछ भी संकोच नहीं ढाँपता।
वर्तुल उठे हुए उरोजों पर अड़ी थी निगाह
चोंच जैसे जयन्त की, नहीं जैसे कोई चाह
देखने की मुझे और,
कैसे भरे दिव्य स्तन, हैं ये कितने कठोर।
मेरा तन काँप उठा, याद आयी जानकी।
कहा, तुम राम को,
कैसे दिये हैं दर्शन!

[सम्भावित रचनाकाल : 1942 ई. का पूर्वार्ध। पहले कुकुरमुत्ता में, फिर नये पत्ते में संकलित]

तुम आये

तुम आये,
        अमा-निशा थी,
                शशधर-से नभ मे छाये।
फैली दिङ्मण्डल में चाँदनी,
बँधी ज्योति जितनी थी बाँधनी,
खुली प्रीति, प्राणों से प्राणों मे भाये।

करती है स्तवन मन्द पवन से
गन्ध-कुसुम-कलिकाएँ भवन से,
किञ्चन के रस-सिञ्चन से तुम लहराये।

आने को भी है फिर प्रात सहज,—
सजने को नवजीवन से रज-रज,
तुमको व्यञ्जित या रञ्जित कर दे जाये।

[रचनाकाल : 1942 ई.। 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 6 दिसम्बर, 1942, में प्रकाशित। अणिमा में संकलित]

गहन है यह अन्ध कारा

गहन है यह अन्ध कारा;
स्वार्थ के अवगुण्ठनों से
हुआ है लुण्ठन हमारा।

खड़ी है दीवार जड़ की घेरकर,
वोलते है लोग ज्यो मुँह फेरकर,
इस गगन में नही दिनकर,
नहीं शशधर, नही तारा।

कल्पना का ही अपार समुद्र यह,
गरजता है घेरकर तनु, रुद्र यह,
कुछ नही आता समझ मे,
कहाँ है श्यामल किनारा।

प्रिय, मुझे वह चेतना दो देह की,
याद जिससे रहे वञ्चित देह की
खोजता-फिरता; न पाता हुआ,
मेरा हृदय हारा।

[रचनाकाल : 1942 ई.। 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 13 दिसम्बर, 1942, मे प्रकाशित। **अणिमा** मे संकलित]

द्रुम-दल शोभी फुल्ल नयन ये

द्रुम-दल शोभी फुल्ल नयन ये,
जीवन के मधु-गन्ध-चयन ये।

रवि के पूरक, रङ्ग रङ्ग के,
छाया-छवि कवि के अनङ्ग के,
स्नेह व्यंग्य के, सङ्ग सङ्ग के,
अङ्ग अङ्ग के शमित शयन ये।

देह-भूमि के सजल श्याम घन,
प्रणय-पवन से ज्योतिर्वर्षण,
उर के उत्पल के हर्षण-क्षण,
आन्दोलन के सृष्ट अयन ये।

प्रेम-पाठ के पृष्ठ उभय ज्यों
खुले भी न अब तलक खुले हों,
नित्य अनित्य हो रहे है, यों
विविध-विश्व-दर्शन-प्रणयन ये।

[रचनाकाल : 1942 ई.। 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 27 दिसम्बर, 1942, में प्रकाशित। अणिमा में संकलित]

खेल

जेठ की दुपहर, दिवाकर प्रखरतर,
जली है भू, चली है लू भासकर।

राह निर्जन, मन्द चितवन से खड़ा
एक लड़का, बना है छड़ का कड़ा।

उम्र नौ-दस साल की, बस, तोलता
दिल की चढ़कर पकरिये पर बोलता।

तना मोटा था, पड़ा छोटा सुकर,
बाँह से भरकर चढ़ा, आया उतर।

डाल देखी, चढ़ा ऊपर पकड़कर,
दम लिया कुछ देर बैठा अकड़कर।

शाख पर चढ़ता हुआ, ऊपर गया,
नाक बैठाकर निकाला स्वर नया,

"भूत हों जितने जहाँ जमदूत हों,
अब हमारा घर भरें वे खाऊओं।"

[रचनाकाल : 1942 ई.। पहले **कुकुरमुत्ता** में, फिर **नये पत्ते** में संकलित]

सन्त कवि रविदासजी के प्रति

ज्ञान के आकर मुनीश्वर थे परम
धर्म के ध्वज, हुए उनमें अन्यतम,
पूज्य अग्रज भक्त कवियों के, प्रखर
कल्पना की किरण नीरज पर सुघर
पड़ी ज्यों अँगड़ाइयाँ लेकर खडी
हो गयी कविता कि आयी शुभ घड़ी
जाति की, देखा सभी ने मीचकर
दृग, तुम्हे श्रद्धा-सलिल से सींचकर।
रानियाँ अवरोध की घेरी हुई
वाणियाँ ज्यों बनी जब चेरी हुईं।
छुआ पारस भी नही तुम ने, रहे
कर्म के अभ्यास में, अविरत बहे
ज्ञान-गंगा में, समुज्ज्वल चर्मकार,
चरण छूकर कर रहा मैं नमस्कार।

[रचनाकाल : 1942 ई.। **अणिमा** में संकलित]

सहस्राब्दि
(विक्रमीय प्रथम 1000 संवत्)

विक्रम की सहस्राब्दि का स्वर
कर चुका मुखर
विभिन्न रागिनियो से अम्बर।

आ रही याद
वह उज्जयिनी, वह निरवसाद
प्रतिमा, वह इतिवृत्तात्मकथा,
वह आर्यधर्म, वह शिरोधार्य वैदिक समता,
पाटलीपुत्र की बौद्ध-श्री का अस्त रूप,
वह हुई और भू—हुए जनों के और भूप,
वह नवरत्नों की प्रभा—सभा के सुदृढ़ स्तम्भ,
वह प्रतिभा से दिङ्नाग-दलन,
लेखन में कालिदास के अमला-कला-कलन,
यह महाकाल के मन्दिर मे पूजोपचार,
वह शिप्रावात, प्रिया से प्रिय ज्यों चाटुकार।
आ रही याद
वह विजय शकों से अप्रमाद,
वह महावीर विक्रमादित्य का अभिनन्दन,
वह प्रजाजनों का आवर्तित स्यन्दन-वन्दन,
वे सजी हुई कलशों से अकलुप कामिनियाँ,
करती वर्षित लाजों की अन्जलि भामिनियाँ,
तोरण-तोरण पर
जीवन को यौवन से भर
उठता सस्वर
मालकौश हर
नश्वरता को नवस्वरता दे करता भास्वर
ताल-ताल पर
नागों का बृंहण, अश्वों की ह्रेषा
भर-भर
रथ का घर्घर,
घण्टों की घन-घन
पदातिकों का उन्मद-पद पृथ्वी-मर्दन।

आ रही याद
तूलिका नारियों के चित्रण की निरपवाद,
ब्राह्मण-प्रतिभा का अप्रतिहत गौरव-विकास,
वर्णाश्रम की नव स्फुरित ज्योति, नूतन विलास,
कामिनी-वेश नव, नवल केश, नव-नव कवरी,
नव-नव बन्धन, नव-नव तरंग, नव-नवल तरी,

नव-नव वाहन-विधि, वाहित वनिता-जन नव-नव,
नव-नव चिन्तन, रचना नव-नव, नव-नव, उत्सव,
नूतन कटाक्ष, सम्बोधन नूतन उच्चारण,
नूतन प्रियता की प्रियतमता, ममता नूतन,
संस्कृति नूतन, वस्तु-वास्तु-कौशल-कला नवल,
विज्ञान-शिल्प-साहित्य सकल नूतन-सम्बल,
पाली के प्रवल पराक्रम को संस्कृत प्रहार,
कालिदास-वररुचि के समलंकृत रुचिर तार।

कर रहा मनन
मैं शंकर का उत्थान, बौद्ध-धर्म का पतन—
जन-बल-वर्धन के हेतु वाम-पथ का चालन,—
लोगों में भय का कारण, मारण, सम्मोहन,
उच्चाटन, वशीकरण, संकर्षण, सन्त्रासन,
दिव्य भाव के बदले अदिव्य भाव का ग्रहण,—
फिर बदला ज्यों यह रूप शक्ति के साधन से,
बौद्ध से आर्यरूपता हुई आराधन से,
उस अदिव्यता के अर्थ विरोध कुमारिल का
बौद्धों से हुआ, ताल जो बना एक तिल का,
वे शिष्य हुए शंकर के, शुद्ध भाव भरते,
दिग्विजय-अर्थ भारत मे साथ भ्रमण करते।
सुविदित प्रयाग के वे प्रचण्ड पण्डित मण्डन,
वामा थी जिनकी उभय भारती, आलोचन
शंकर से जिनका कामशास्त्र मे हुआ, विजित
शंकर हो शिक्षा लेने को लौटे विचलित,
कर पूर्ण अध्ययन राजदेह मे कर प्रवेश
त्यागी शरीर को रख निर्मल, आये अशेष,
व्याध को पिता कह द्रुम-पातन की शिक्षा ली,
चढ गये पेड़ पर, बैठे, पढ़ा मन्त्र डाली
झुक कर आयी आँगन पर, उतरे, फिर बोले—
"जो हारा पहले से क्यों दरवाजा खोले ?"
मध्यस्थ उभयभारती हुईं, शास्त्रालोचन
शंकर से हुआ प्रखर जिसमे, हारे मण्डन।
फिर चले छोडकर गृह त्याग के विजयध्वज से,
मिल गये ज्ञान की आँखो से नभ से—रज से।

आ रहा याद वह वेदों का उद्धार, ख्यात
वह श्रुतिधरता, ज्ञान की शिखा वह अनिर्वात
निष्कम्प, भाष्य प्रस्थानत्रयी पर, संस्थापन
भारत के चारों ओर मठो का, संज्ञापन,
वौद्धों के दल का जीते ही वह दाहकरण,
जल कर तुषाग्नि में अपना प्रायश्चित्त-वरण
शंकर के शिष्यों का। मुझको आ रही याद
वह अस्थिरता जनता के जीवन की, विषाद
वह वढ़ा पण्डितों में जैसे शंकर मत से—
अद्वैत-दार्शनिकता से हुए यथा हत से—
प्रच्छन्न वौद्ध ज्यों कहने लगे, वेदविधि के
कर्मकाण्ड के लोप से दुखी जन वे निधि के
प्रत्याशी, फल के कामी, दुरित-दैन्य दल-मल
चाहते दैव से श्री, शोभा, विभूति, सम्वल।
ऐसे सांसारिक जनों के लिए ज्यों जीवन
आये रामानुज; गृही चरित का आवर्तन
श्री-सुख से भरकर किया भिन्न दर्शन देकर
रक्खा सश्लेष विशिष्ट नाम रखकर सुन्दर।

जो वैदिक ज्ञान, तथागत का निर्वाण वही,
जो धरा वही विचार धारा की रही मही,
देश काल औ' पात्र के भेद से भिन्न वेद
प्रेम जो, हुआ ज्यों वही वदलकर प्रियच्छेद।
वौद्धों के ही प्रचार का फल मिस्र में फलित—
मूसा की प्रतिभा में वदला वह धर्म कलित,
फिर ईसा में आया कुछ परिवर्तन लेकर,
फिर हुआ महम्मद में अवतरित ताल देकर
एक ही भिन्न राग का प्रवल,
फैला कलकल
ज्यो जलोच्छ्वास प्लावन का दसों दिशाएँ भर
भ्रातृभाव का उल्लास प्रखर।
टूटा भारत का वर्ण-धर्म का वाँध प्रथम
इससे, जो सम थे हुए, हुए वे आज विषम
हारे दाहिर, हर गयी कुमारी कन्याएँ।
सूरज-परिमल, कुल की वे उत्कल धन्याएँ।

ले साथ महम्मद-बिन-कासिम अरब को चला,
है विदित चुकाया कन्यालों ने ज्यों बदला।

जब टूटा कान्यकुब्ज का वह साम्राज्य विपुल,
छोटे-छोटे राज्यों से हुआ विपत्संकुल
यह देश। उधर अदम्य होकर
बढ़ता ही चला राष्ट्र इस्लामी; वेग प्रखर
पृथ्वी सँभालने में असमर्थ हुई; निश्चय
दुर्दान्त क्षत्रियों ने जो था प्राणों में भय
उन इतर प्रजाओं में, छाया उसका तुषार
जो फुल्ल-कमल-कुल पर आ पड़ा, सहस्रवार
नैसर्गिक अम्बर से ज्यों; ज्यों अधिकारि-भेद
चाहती बदलना प्रकृति यहाँ की, समुच्छेद
कर सकल प्राथमिक नियम, निपुण
चाहती सृष्टि नूतन ज्यों, औरों के गिन गुण
अधिकार चाहती हो देना, सुनकर पुकार
प्राणों की, पावन गूँथ हार
अपना पहनाने को अदृश्य प्रिय को सुन्दर,
ऊँचा करने को अपर राग से गाया स्वर।

[रचनाकाल : 1942 ई.। अणिमा में संकलित]

अखिल-भारतवर्षीय महिला-सम्मेलन की सभानेत्री श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित के प्रति

जीवन की ज्यों छुटी शक्ति आरक्ति से भरी—
नभश्चुम्बिनी उतरी क्षिति पर किरण की परी,
पार कर रही थीं प्राङ्गण विश्व का अनुर्वर
अर्जित यौवन में मार्जित जीवन भर-भरकर
मुखरा, प्रिय के सङ्ग; तीसरा प्रहर दिवस का;
मरुद्यान में यान तुम्हारा रुका विवश-सा;
उतरीं तुम, सङ्ग-सङ्ग प्रिय, उस रङ्गमञ्च पर
हरित-गुल्म-तरु-लता-लास कलि-हास मनोहर;

वढ़ी देखती पड़ी दृष्टि पाटल पर सुन्दर,
हृत रक्तोत्पल स्थल पर मन्द-गन्ध उन्मदकर;
स्निग्ध शान्त एकान्त; लोक-नयनों से ओझल;
उत्कल अपने में, केवल नैसर्गिक सम्बल;
तोड़ा तुमने; अधर-स्पर्श से कर के व्याकुल
लगा लिया उर में; प्रिय की शुभ दृष्टि गयी खुल।

[रचनाकाल : 1942 ई. । **अणिमा** में संकलित]

घेर लिया जीवों को…

घेर लिया जीवों को जीवन के पाश ने;
वाँधा सुन्दर को तव नर के विश्वास ने।

ज्योति अगर अम्बर से विच्युत कर दी गयी,
तो न रही ज्योति, हुई वह अलक्ष्यता नयी,
मुक्ति उसे कह सकते है; प्रभेद है कई;
किन्तु सदा वाँधा है ईश्वर को दास ने।

लोग-वाग चलते फिरते है, यह सही है;
उठे पैर को लगनी आड़ एक रही है;
सव कुछ टेढ़ा है जैसे सरिता वही है,
सीधा है जैसे खोला गुल को वास ने।

वाँकी भौहें ही सुन्दर है, यह कहते हैं,
वाँकी चितवन से ही नयन फँसे रहते है,
वड़े लड़ाके वाँके ही मारें सहते हैं;
पार किया है तम से प्रभा के विनाश ने।

[रचनाकाल : 1942 ई. । **अणिमा** में संकलित]

स्नेह-निर्झर वह गया है

स्नेह-निर्झर वह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।

आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है—"अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी
नहीं जिसका अर्थ—
जीवन दह गया है।"

"दिये हैं मैंने जगत् को फूल-फल,
किया है अपनी प्रभा से चकित-चल;
पर अनश्वर था सकल पल्लवित पल—
ठाट जीवन का वही
जो ढह गया है।"

अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा,
श्याम तृण पर बैठने को, निरुपमा।
वह रही है हृदय पर केवल अमा;
मैं अलक्षित हूँ, यही
कवि कह गया है।

[रचनाकाल : 1942 ई.। अणिमा मे संकलित]

मत्त हैं जो प्राण

मत्त हैं जो प्राण,
जानते हैं कब किसी का मान ?

वेलि विष की फैलकर जो खिल गयी,
गन्ध जिसकी हवा के उर मिल गयी,
वह बिना समझे हृदय मे हिल गयी,
कर गयी अपमान।

राह चलते लगेंगे काँटे, सही,
धूल में उनको मिलायेगा मही,
काल की वह बात हटकर ही रही,
फिर कहाँ उत्थान ?

है व्यथा में स्नेह निर्भर जो, सुखी;
जो नहीं कुछ चाहता, सच्चा दुखी;
एक पथ ज्यों जगत् में, है बहुमुखी,
सर्वदिक् प्रस्थान।

[रचनाकाल : 1942 ई.। **अणिमा** में संकलित]

मरण को जिसने वरा है

मरण को जिसने वरा है
उसी ने जीवन भरा है।
परा भी उसकी, उसी के
अङ्क सत्य यशोधरा है।
सुकृत के जल से विसिञ्चित
कल्प-किञ्चित् विश्व-उपवन,
उसी की निस्तन्द्र चितवन
चयन करने को हरा है।
गिरिपताक उपत्यका पर
हरित तृण से घिरी तन्वी
जो खड़ी है वह उसी की
पुष्पभरणा अप्सरा है।
जब हुआ वञ्चित जगत् में
स्नेह से, आमर्ष के क्षण,
स्पर्श देती है किरण जो,
उसी की कोमलकरा है।

[रचनाकाल : 1942 ई.। **अणिमा** में संकलित]

जननि, मोहमयी तमिस्रा…

जननि, मोहमयी तमिस्रा दूर मेरी हो गयी है।
विश्व-जीवन की विविधता एकता में खो गयी है।

देखता हूँ यहाँ, काले-लाल-पीले-श्वेत जन में।
शान्ति की रेखा खिची है, क्रान्ति कृष्णा रो गयी है।

जग रहे हैं वे जगत् में जो तुम्हारी गोद में हैं,
दृष्टि में उनकी अपरिचयता परायी सो गयी है।

काम आये है, बने हैं जो किसी के भी बनाये,
बीज पानी में, जवानी में, सुखाशा बो गयी है।

चाल उलटी फिर उलटती है यही है सत्य जग का;
देखता हूँ, पल्लवों की धूल वर्षा धो गयी है।

[रचनाकाल : 1942 ई.। 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 10 जनवरी, 1943, में प्रकाशित। अणिमा में संकलित]

तुम्हीं हो शक्ति समुदय की

तुम्हीं हो शक्ति समुदय की,
तुम्हीं अनुरक्ति संचय की।
तुम्हारी दृष्टि ही है—
ज्ञान से जकड़ा हुआ सागर,
मथा फिर देव - असुरों ने
समझकर रत्न का आकर,
पिया विष विष्णु के ही अर्थ
शंकर ने अमरता - भर,
जहाँ से आय है निश्चित
जहाँ से वृद्धि है व्यय की।

कथा के स्रोत का उत्थान
तुमसे है, पतन तुमसे;
विषय - स्पष्टीकरण तुमसे,
प्रलम्बित आहरण तुमसे;
तरङ्गों का विताड़ित भाव,
अर्थ - ध्यान - धन तुमसे,
मिलन तुमसे, विरह तुमसे,
व्यथा उत्थान की, लय की।

[रचनाकाल : 1942 ई.। 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 24 जनवरी, 1943, में प्रकाशित। अणिमा में संकलित]

यह है बाजार

यह है बाजार
सौदा करते हैं सब यार।

धूप बहुत तेज थी, फिर भी जाना था,
दुखिये को सुखिया के लिए तेल लाना था,
बनिये से गुड़ का रुपया पिछला पाना था,
चलने को हुआ जैसे बड़ा समझदार।

सुखिया बोली अपनी सास को सुनाकर यों,
"मास के पैसे शायद अब तक भी बाकी हों,
अच्छा है अगर करें पूरी धेली ज्यों-त्यों,
टूटा रुपया खर्च होते लगेगी न वार।"

दुखिया बोला मन में, "ठहर अरी सास की,
मार खिलाता हूँ मैं तुझे, अभी रात की
चोरी है याद मुझे, बात कौन घात की
बैठाली क्या जाने ब्याही का प्यार?"

मगर निकलकर घर से तेज कदम गया भगा,
पिछली बातों का अगली बातों से पीछा गया,
दुनिया ने सोचा, "इसके पीछे बिना पढ़े भगा,
बैठा है दूसरा भी सिर में ही प्यार।"

[रचनाकाल : 1942 ई.। 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 14 फरवरी, 1943, में प्रकाशित। अणिमा में संकलित]

भारत ही जीवन-धन

भारत ही जीवन-धन,
ज्योतिर्मय परम-रमण,
सर-सरिता वन-उपवन।
तपःपुञ्ज गिरि-कन्दर,
निर्झर के स्वर सुन्दर,
दिक्प्रान्तर मर्म-मुखर,
मानव मानस-शोभन।
पीन-पवन ऋतु के घन,
सन्तारण चरण नमन,
कारण-वारण, सन्तान-
धारण, कुहरोच्चारण।
नहीं यहीं जड़-जंगम,
नहीं यहीं अहम्मन्य,
नहीं यहीं मान्य-मान्य,
निर्मय वेदन निस्तान।

[रचनाकाल : 1942 ई.। 'विक्रम', मासिक, उज्जैन, फरवरी, 1943, में प्रकाशित। अणिमा में संकलित]

युग-प्रवर्तिका श्रीमती महादेवी वर्मा के प्रति

दिये व्यंग्य के उत्तर रचनाओं से रचकर,
विदुषी रही विदूषक के समक्ष तुम तत्पर,
हिन्दी के विशाल मन्दिर की वीणा-पाणी,
स्फूर्ति-चेतना-रचना की प्रतिमा कल्याणी,
निकला जब 'नीहार' पड़ी चञ्चलता फीकी
खुली 'रश्मि' से मुख की श्री युग की युवती की,
प्रति उर सुरभित हुआ, 'नीरजा' से, निरभ्रनभ
शत-शत स्तुतियों से गूँजा 'यह सौरभ, सौरभ'।
'सान्ध्य गीत' गाए समर्थ कवियों ने सुस्वर,
वीणा पर, वेणु पर, तन्त्र पर और यन्त्र पर।
'यामा'—दीपशिखा' के विशिखों के ज्यों मारे
अपल-चित्र हो गये लोग, 'चल चित्र' तुम्हारे
चला रहे है सहज शृंखला की कड़ियो से,
सजो, रँगो लेखनी-तूलिका की छड़ियो से।

[रचनाकाल : 1943 ई.। 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 7 फरवरी, 1943, मे प्रकाशित। **अणिमा** मे संकलित]

स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज

आमों की मञ्जरी पर
उतर चुका है वसन्त,
मञ्जु-गुञ्ज भौंरों की
वौरों से आती हुई,
शीत-वायु ढो रही है
मन्द-गन्ध रह-रहकर।
नारियल फले हुए,
पुष्करिणी के किनारे
दोहरी कतारों में
श्रेणीवद्ध लगे हुए।

भरा हुआ है तालाब,
खेलती है मछलियाँ,
पानी की सतह पर
पूँछ पलटती हुई।
वही गन्धराज, वकुल,
बेला, जुही, हरसिंगार,
केतकी, कनेर, कुन्द,
चम्पा लगे हुए है—
पूजा के उपचार,
ऋतु-ऋतु मे खिलते हुए।
अमरूद, जामुन, अनार, लीची, फालसे,
कटहल लगे हुए।
कोनो मे वाँसों के झाड़, कही कहीं इमली,
इगुदी, कपास, नीम,
मध्यवित्त गृहियों के वासगृहो के पीछे।
सामने है पूजागृह—
भिन्न वासगृह से,
स्वच्छ स्निग्ध गन्ध से मोदित करता हुआ।
ब्राह्मण का शोभन गृह।
अन्य ओर धान का गोला, पुष्करिणी कल
एक ओर, वीचों वीच, और स्वच्छ जलवाली,
हल्की-सजी हुई; वँधा हुआ घाट सुघर।
यहाँ लगे है गुलाव, नारियल वैसे ही,
नही वाँस या इमली।
सुन्दर-सी वैठक मे
गृहस्वामी वैठे हुए।
वालको का कलरव
गूँजता हुआ अवाध।
वेर के, खजूर के,
आम और जामुन के नीचे, पकते समय,
महाभारत मचा हुआ।
दूर-दूर पास-पास गाँव के आवास है
ऊँचे भूखण्डों पर।
नीची-नीची जमी में,
जमता है जहाँ पानी,
धान कट चुके है अगहन के, देर हुई,

किन्तु ऐसी ज़मीं में अभी तक कुछ नमी है।
गृहस्वामी परमहंस देव जी के भक्त हैं।
युवक-समाज बड़े चाव से पढ़ता है
स्वामी विवेकानन्दजी के लिखे हुए ग्रन्थ।
शोधन भी चाहता है करना चरित्र का
उनके प्रभाव से,
जैसे मधु-ऋतु से तरु।
ग्रामीण जनों मे निश्चय वँध चुका है।
स्वामी प्रेमानन्दजी, शिष्य रामकृष्ण के,
उत्सव में आयेंगे। भेजा गया भक्त एक
स्वामीजी को लेने को, युवक एक पश्चिम के
प्रान्त का, जिसके पिता
वंगदेश गये थे,
फिर वहीं
वसे थे। तरुण वह
ले आया स्वामी को
जैसे भास को प्रभात।
साथ व्रह्मचारी थे,
आत्मा की खोज और
लोगों की सेवा के लिए
गये हुए थे जो वहाँ।
पूर्णिमा के चन्द्र को
देखकर चढ़ा हुआ
सागर समुदाय था
स्वामीजी के दर्शनों से।
पीटकर वरावर एक खेत कर दिया गया,
वड़ा शामियाना तना।
तोरण वनाये गये।
द्वारों पर दोनों ओर
कलस रखे गये
जलपूर्ण, सेंदुर से
स्वस्तिका खीचकर,
आम्र-पल्लव, धान-भरी
परई, कच्चा छोटा
नारियल रखकर।
मञ्च सजा पुष्प और पल्लवों का शोभापूर्ण।

चित्र रामकृष्ण का
रक्खा गया तख्त पर
फूलों से आच्छादित।
रँगे हुए कागजों की जंजीरें।
'स्वागत' प्रवेश-द्वार पर लगा हुआ विशाल।
बाल-वृद्ध-युवा-नर-नारी आते-जाते हुए।
कीर्त्तन होता रहा
खोल-करताल पर।
खिचड़ी, भाजियाँ कई,
मिष्टान्न, परिवेश
किया गया दीन नारायणों के अभ्यर्थन में।
अन्य जन बैठते थे
प्रत्याशी प्रसाद के,
साथ, एक पंक्ति मे।
कितनी पंक्तियाँ हुईं।
आमन्त्रित थे सभी
धनी-मानी, नगर के
राजकर्मचारि वर्ग,
जीवन की पुष्टि और
आध्यात्मिक धारणा के लिए आये हुए थे,
भक्ति के प्रतिरूप,
पवन ज्यों मुक्त हो
भली-बुरी गन्ध से।
घेरकर आत्मा को
खड़े थे देह जैसे।
मञ्च के सामने
कीर्त्तन होता रहा
गायकों का, भक्तों का।
बजते हुए मृदङ्ग,
करताल, चक्राकार
भक्तजन परिक्रमा करते हुए बार-बार।
उत्सव समाप्त हुआ।
स्वामी को बुलाकर
श्रेष्ठ राजकर्मचारी
ले आये उपवन के अपने भवन मे।
रक्खा समादर से।

!(जानुष्ठान हुआ
पश्चिमीय तरुण ने
श्रीसुतीक्ष्ण की कथा
रामचरितमानस से
पढ़ी मधुर कण्ठ से
वन्दन रघुनन्दन का
भक्ति से ओतप्रोत।
सभ्य जन आँसू वहाते हुए सुनते रहे।
स्वामीजी ध्यानमग्न,
स्वर के स्तर से चढ़कर
सहस्रार में गये।
लोकोत्तरानन्द तभी सब की समझ मे आया।
कथा परिसमाप्त हुई।
गृहस्वामी भोजन का
आयोजन करने लगे।
पत्तलें पड़ीं नयी।
आसन विछाये गये,
जल-पात्र रक्खे गये।
घृतपक्व गन्ध से
महकने लगा गृह।
दूर आवास तक
हवा खवर भेजती है।
आमन्त्रित है सभी
राजकर्मचारिवर्ग।
आवाहन होने पर
स्वामी उठकर चले।
क्षालित हुए उनके पद,
हाथ-मुँह धुलाकर
आसन दिखाया गया,
सवसे अधिक मर्यादित।
उनके वैठने ही पर
वैठे आमन्त्रित जन,
एक ही पंक्ति में
ब्राह्मण-कायस्थ सब !
श्रेष्ठ राजकर्मचारी
जाति के कायस्थ थे।

स्वामीजी का पूर्वाश्रम कायस्थ कुल में था
जैसे विवेकानन्दजी का ।
राजकर्मचारी को गर्व इससे हुआ
खुलकर वह बोले भी—
"एक दिन ब्राह्मणों ने
हमें पतित किया था—
शूद्र कहलाये हम,
किन्तु श्रीविवेक और
आप-ऐसे कृतियों ने
धन्य हमें कर दिया ।
ब्राह्मणों की ही तरह
हम भी सिर उठाकर
रहते हैं समाज में,
एक ही फल के भागी—
भोगी स्वाच्छन्द्य के ।"
स्वामीजी मौन थे
स्तुति को दबाते हुए
जो थी एकाङ्गिणी ।
सजग हुए ब्रह्म वर्ग,
स्पर्धा से उद्धत-सिर,
देखते ही स्वामीजी
समझे वह मनोभाव
क्षोभ भरनेवाला,
बोले स्नेह-कण्ठ से—
"संन्यासी होने पर
देश-काल-पात्रता से
दूर हम हुए हैं,
रामकृष्णमय जीवन,
सर्व जनों के लिए ।
ब्राह्मण के गृह जिनका
शुभ जन्म हुआ था,
उनके दर्शनों को
हम या विवेकानन्द
नहीं गये थे वहाँ;
जो थे परमात्मालीन
त्यागी-योगी सिद्धेश्वर,

उन्ही प्रवर से सीखें
ली हैं हम लोगों ने
विगत जाति-कुल से ।"
यद्यपि उन मधुपुष्प शब्दो पर बैठकर
शान्त हुए द्विज-भ्रमर,
फिर भी वर्र जैसे एक गूंजते ही रह गये—
"राजा हैं ब्राह्मण, मैं
ब्राह्मण-विद्वेष की कथा उनसे कहूँगा,
उन्ही के साथ यह श्रेष्ठ राजकर्मचारी
बैठकर जेयेंगे—
देखेंगे हमलोग ।"
कहकर वह उठने लगे ।
एक दूसरे ने कहा,
"रसगुल्ले आ रहे है,
अभी कहाँ जाते है ?
कटु हुई है जिह्वा, मीठी कर लीजिए ।"
वह पश्चिमीय भी बैठा था चुपचाप ।
उठने को काँपकर बैठे रहे द्विजदेव ।
भोजन अधूरा ही छोड़कर स्वामीजी
उठकर खड़े हुए ।
बढ़ते हुए कहा यह, "होगा हमारा भी कोई
अपना समझदार, समझायेगा वही
ऐसे विद्वानों को ।"
द्विज भी खड़े हुए,
पश्चिमीय की तरफ उँगली उठायी, कहा,
"ऐसा भी आदमी पंक्ति में बैठाला गया
जिसके माँ-बाप का पता आज तक न लगा,
घोर कलिकाल है !"
स्वामीजी ने कहा,
"ऐसे कलिकाल में
रामकृष्ण आये हैं, स्वामी श्री विवेकानन्द
ऐसे ही जनो के परमबन्धु हो गये ।
पता उन्ही का रहा, कुछ पता नही था जिनका,
म्लेच्छ और दुराचारी जो लोग कहलाते रहे ।"
राजकर्मचारी ने
हाथ जोड़कर कहा,

"आपके बैठे विना
लोग उठ जायँगे,
यज्ञ अधूरा होगा।"
स्वामीजी ने कहा, "इसी युवक को पहले
लाकर परोसो अन्न-मिष्टान्न जो कुछ हो
भोजन-समाप्ति का,
यही से प्रारम्भ इस भोजन का होता है,
पायेंगे प्रसाद सभी।"
मेघमन्द्र कण्ठ से स्तम्भित सब हो गये।
बैठ गये स्वामीजी।
मिष्टान्न लाया गया,
पहले परोसा गया युवक को विनय से।
दबे हुए चुपचाप
समय के प्रभाव से
आमन्त्रित बैठे रहे,
मिष्टान्न खाया स्वाद साधुता का लेते हुए।
खुल गये प्राण सब,
गगन में जैसे तारे।
चमके आमन्त्रित जन।
साधुभोज पूर्ण हुआ।
प्रात:काल सभा हुई।
स्थानीय जन समवेत हुए प्रेम से
रामकृष्ण और श्री विवेकानन्द की बातें
स्वामी प्रेमानन्दजी के मुख से सुनने के लिए।
राजकर्मचारीजी सबसे विद्वान् थे—
आदरणीय, राज्य के प्रधानामात्य-पद पर;
उन्ही ने सभापति का आसन सुशोभित किया।
बगल में श्री स्वामीजी की कुरसी रक्खी गयी।
समागत सभ्य विद्वानों के व्याख्यान हुए
श्रीमद्रामकृष्ण परमहस देव पर, कोई
स्वामी श्रीविवेकानन्दजी के विषय पर बोले,
आधुनिक धर्म, त्याग,
जाति का उत्थान, प्रेम,
सेवा, देश-नायकता,
भारत और विश्व जैसी गहन समस्या लेकर।

एक ब्रह्मचारी ने
स्वामी श्री विवेकानन्दजी की 'वीरवाणी' से
'सखा के प्रति' विशिष्ट पद्य की आवृत्ति की।
स्वामीजी से बोलने के लिए प्रार्थना हुई।
जनता उद्ग्रीव देखती थी वह पवित्र मुख।
स्वामीजी खड़े हुए,
कहा, "हम सेवक है,
आप लोग आमुख है सब विद्या के,
बोलेंगे; हममें जो श्रेष्ठ श्रुतिधर थे—विवेकानन्द
जानता है विश्व उन्हें—
जनता के अर्थ वे
सब कुछ कह गये हैं,
सिर्फ़ काम करना है;
फिर भी हम बोलते है लोगो के आग्रह से
सांसारिक धर्म पर
सर्वश्रेष्ठ जो है जैसा ऋषिमुनियो ने कहा है।
एक दिन विष्णुजी के पास गये नारदजी,
पूछा, मृत्युलोक मे वह कौन है पुण्यश्लोक
भक्त तुम्हारा प्रधान ?
विष्णुजी ने कहा, 'एक सज्जन किसान है,
प्राणों से प्रियतम।'
नारद ने कहा, 'मैं
उसकी परीक्षा लूँगा।' हँसे विष्णु—सुनकर यह,
कहा कि ले सकते हो।
नारदजी चल दिये,
पहुँचे भक्त के यहाँ,
देखा हल जोतकर आया वह दुपहर को;
दरवाजे पहुँचकर रामजी का नाम लिया;
स्नान-भोजन करके
फिर चला गया काम पर।
शाम को आया दरवाजे, फिर नाम लिया
प्रातःकाल चलते समय
एक बार फिर उसने
मधुर नाम स्मरण किया।
बस केवल तीन बार;
नारद चकरा गये।—

दिवारात्र जपते हैं नाम ऋषि-मुनि लोग
किन्तु भगवान् को किसान ही यह याद आया।
गये वह विष्णुलोक;
बोले भगवान् से,
'देखा किसान को,
दिन-भर में तीन बार
नाम उसने लिया है।'
बोले विष्णु, "नारदजी,
आवश्यक दूसरा
काम एक आया है,
तुम्हें छोड़कर कोई
और नहीं कर सकता।
साधारण विषय यह।
बाद को विवाद होगा,
तब तक यह आवश्यक कार्य पूरा कीजिए।
तैल-पूर्ण पात्र यह,
लेकर प्रदक्षिण कर आइए भूमण्डल की,
ध्यान रहे सविशेष,
एक बूंद भी इससे
तेल न गिरने पाये।'
लेकर चले नारदजी,
आज्ञा पर धृतलक्ष्य—
एक बूंद तेल उस पात्र से गिरे नहीं।
योगिराज जल्द ही
विश्व-पर्यटन करके
लौटे बैकुण्ठ को,
तेल एक बूंद भी उस पात्र से गिरा नहीं।
उल्लास मन में भरा था
यह सोचकर, तेल का रहस्य एक
अवगत होगा नया।
नारद को देखकर
विष्णु भगवान् ने
बैठाला स्नेह से,
कहा, 'यह उत्तर तुम्हारा यहीं आ गया।
बतलाओ, पात्र लेकर जाते समय कितने बार
नाम इष्ट का लिया?'

'एक वार भी नही',
शङ्कित हृदय से कहा नारद ने विष्णु से,
'काम तुम्हारा ही था,
ध्यान उसी से लगा,
नाम फिर क्या लेता और ?'
विष्णु ने कहा, 'नारद,
उस किसान का भी काम
मेरा दिया हुआ है,
उत्तरदायित्व कई लादे है एक साथ,
सब को निभाता और
काम करता हुआ
नाम भी वह लेता है,
इसी से है प्रियतम।'
नारद लज्जित हुए,
कहा, 'यह सत्य है।'
व्याख्यान पूरा हुआ,
स्वामीजी बैठे, स्तब्ध
सभा रञ्जित हुई,
धार्मिक आभास मिला।
स्वामीजी ने कहा चीफ़ मैनेजर साहब से,
'कोई दर्शनीय स्थान हो तो हमे दिखा दो।'
'राजा के गढ़ मध्य
मन्दिर है कृष्णजी का,
वहुत ही सुन्दर स्थल,
सन्ध्या की आरती के समय साथ चलेंगे,'
मैनेजर ने कहा,
'यों तो प्रासाद तथा और दृश्य है,
किन्तु व्यर्थ आप के लिए है यह देखना।'
स्नान, ध्यान, भोजन, आराम के अनन्तर
सब लोग तैयार हुए
कृष्णजी के दर्शन को,
राजगढ़ के अभ्यन्तर।
स्वामीजी, तीन ब्रह्मचारी, मैनेजर साहब
चले, पश्चिमीय वह युवक भी साथ हुआ।
तीन मील घेरकर गहरी एक नहर-सी
परिखा है चारों ओर से गढ़ को डालकर
अपने मे वेष्टनी-सी।

पश्चिम मे सिंहद्वार,
परिखा के पुल के वाद।
सीधा रास्ता गया। दोनों ओर वड़े-वड़े
स्वच्छ जलाशय हैं।
समतल किये हुए
सरोवर तटोद्यान के। दूव जमायी हुई।
थालियाँ ऋतुपुष्पो की, लाल पीले ज़र्द
मिश्र रङ्गो की वहार तृप्त करती हुई नयन,
वेंचें पडी हुई,
सरोवर-जल-स्पृष्ट हवा स्निग्ध आती हुई,
रास्ते के दोनो ओर वटम-पाम की क़तारें,
दोनो ओर सरोवर काफी भूमि छोड़कर,
दो-दो, चार; दायी ओर मध्य से गयी है राह
कृष्णजी के मन्दिर को, वीच से दो सरो के।
हरियाली दूव की, जल की लघु नीलिमा,
वटम-पामों की छाया छत्राकृति दूर तक,
ऋतुपुष्पो की शोभा, देवदार, हींग और
इलायची-अशोक जैसे
कीमती वृक्षो की छटा
मुग्ध कर लेती है मन को क्षण मात्र मे
जल की लहरियों से खेलता है समीरण।
एक राह और राज-भवन से गयी हुई।
वीच में, तालावों के खत्म होते एक ओर
ड्योढी पड़ती है वडी,
वाद को प्रासाद है,—
ड्योढी से दिखता हुआ,
शोभन विशालकाय,
उद्यानों में वना,
चीफ़ मैनेजर साहव उसी से लेकर चले।
ड्योढ़ी पर सन्तरी खड़ा हुआ,
सिंहद्वार पर जैसा,
जिसको ये पार कर यहाँ आकर पहुँचे हैं,
राजप्रासाद का सन्तरी दिख रहा है
दीर्घ इस ड्योढी के वहुत ऊँचे फाटक से;
संगमारवर के सोपान उसके प्राय: वीस,
वहुत लम्वे-लम्वे, एक-मंज़िले तक ऊँचा-चढ़े;

दोनों ओर तोपें लगीं, बैठे, सिंह भीमकाय
सोने के पानी के चढ़े, दोनों ओर पत्थरों पर;
दोनों ओर वटम-पाम, एक-एक, बड़े-बड़े;
खुला बड़ा बरामदा, संगमारवर और
संग मूसे का बना, पत्थर चौकोर क्रम
क्रम से लगे हुए,
ऊँची-ऊँची रेलिंग और बड़े-बड़े दरवाजे
दुहरे; एक, शीशे का; भवन विशालकाय;
मन्द पवन बहता हुआ;
रातरानी की सुगन्ध आती हुई भीनी-भीनी।
सन्तरी ने चीफ़ मैनेजर को सलाम किया
और विनय से कहा,
"महाराज का है हुक्म,
आप ही अकेले इस मार्ग से जा सकते है;
दूसरों के लिए जब तक
कोई हुक्म नही होगा,
छोड नही सकता मै।
दूसरो के लिए मार्ग उधर से है जाने का।"
अब तक वह ब्राह्मण
जो भोज में गरमाये थे,
बाहर आये, कहा,
"महाराज उतर आये है,
इतना सम्मान परमहंस देवजी के लिए
उनके हृदय में है,
लेकिन अपमानकारी इस स्वामीजी के लिए
जो कि उस आश्रम के
एक कायस्थ है,
उचित व्यवस्था वह मन्दिर में करेंगे
दर्शन दिलाते समय।"
एक साधारण कर्मचारी की बात सुनकर
मैनेजर साहब सन्नाटे में आ गये,
कहा, "यह आये हैं
इतना ही बहुत है,
और तुम्हें कौन समझायेगा यह कौन है,
कौन है विवेकानन्द।"
संवाददाता ने कहा,

"महाराज का कहना जैसा था, मैंने किया,
आप जैसा कहेंगे,
चलकर उनसे कहूँगा;
फिर उत्तर ला दूंगा।
खडे रहिए जरा देर,
क्योंकि वह खडे है।"
कहकर चले गये,
कुछ देर बाद आये,
कहा, "महाराज की
आज्ञा नही ली गयी;
आपको मालूम है,
सिंहद्वार से इधर
कोई अजनबी कभी
पैर नही रख सकता;
आप यहाँ आ गये,
फिर भी खामोश है,
राजा के सिपाही लोग।"
इससे बडा अपमान
दूसरा नही होता।
जैसे शिव गरल को
पीकर, स्वामीजी बोले
"देव-दर्शन के लिए
हुक्म लिया जाता है!
हमे नही ज्ञात था।"
ब्रह्मदेव ने कहा,
"देवता राजा के है, नही किसी प्रजा के।"
तमतमा उठे स्वामी,
किन्तु धैर्य से रहे, पूरी बात सुनने को।
ब्राह्मणजी कहते गये,
"चीफ मैनेजर साहब,
राजा यहाँ वही हैं
जिनके दर्शन के लिए जा रहे है आप लोग;
यह तो बतलायें, अपमान किसका किया था?"
मैनेजर स्वामीजी को बात समझाने लगे—
"कृष्णजी ही राज्य के राजा कहे जाते हैं
मुहर में उन्ही की छाप चलती है यहाँ,
उत्तराधिकारी ये लोग कहे जाते है।"

स्वामीजी मुस्कराये,
सीधे स्वर से कहा,
"क्या वह भी ब्राह्मण थे,
जिसका इन्हें गर्व था।"
झेंप गये ब्रह्मदेव,
कहा, "महाराज ने और यह कहा—
नंगेपन के उत्तर मे अपने गुरुदेव को
नंगे बाबाजी को हम पेश यहाँ करते हैं।"
स्वामीजी ने कहा,
"परमहंसदेव भी नंगे हो जाते थे।
गुरु सब एक है,
साधु अपमान नही करता, सह लेता है।"
चीफ़ मैनेजर को गहरा धक्का लगा।
ब्रह्मदेव कहने लगे—
"आप हैं सर्वश्रेष्ठ राजकर्मचारी, तभी
हल्की-हल्की सजा का विधान किया गया है
आप हों या स्वामीजी, एक ही महज्जन
इस मार्ग से जायेंगे, अन्य जन घूमकर।
पश्चिमीय के लिए सदा का निषेध रहा
मन्दिर-प्रवेश में।"
काँप उठे स्वामीजी,
"इसलिए नही आये"
कहा, "कभी दर्शन भी
किये नही जैसे, हम
साधु है।" शरीर से
ज्वाला-सी निकली, ज्यों
ग्रास ही कर जाने को,
ब्रह्मदेव तड़ित से स्तम्भित-से हो गये
देखा, श्रीकृष्णजी स्वामीजी में आ गये
ब्राह्मण को अपने नेत्रो पर हुआ अविश्वास।
रगड़कर फिर से देखा, कृष्णजी की नीलकान्ति
ज्योतिर्मयी घनीभूत स्वामीजी की देह में।
आनन्द के परमाणुओ का फ़व्वारा छुटा।
जितने जन थे जैसे उमड़े आनन्द हों।
देखा ब्रह्मदेव ने, ज्योति की-सी रेखा से
स्वामीजी के साथ पश्चिमीय का शरीर बँधा
पागल-सा हुआ वह भागा यह कहता हुआ।

"वाह वाह, ऐसा अच्छा आज तक नहीं देखा।"
कहता दौड़ता हुआ राजा के समीप गया
सुनते ही महाराज अभिभूत हो गये।
फिर भेजा ब्राह्मण को
सादर ले चलने के लिए कृष्ण-मन्दिर में
उसी राह स्वामी को।
स्वामीजी ने कहा,
"साधारण के ही हैं हम
घूमकर जायँगे,
हमें यही खुशी है।"
अस्तु घूमकर गये।
दोनो ओर नौवतखाने।
चत्वर संगमारवर का।
दोनों ओर दिव्य मन्दिर।
सामने विशालकाय मन्दिर में कृष्णजी
स्वर्ण-भूषणों से सजे।
देखकर द्वारकाधीश कृष्ण याद आ गये।
पश्चिमीय जन वह मन्दिर के वाहर रहा
स्वामीजी ने चलते समय कहा कि "मैं वही हूँ
वाहर खड़ा है जो।"
लौटे जव स्वामीजी
साथ युवक हो गया मन्त्र-मुग्ध प्रेम से।
वासना से मुँह फेरा, सदा को चला गया।

[रचनाकाल : 1943 ई. का पूर्वार्ध। अणिमा में संकलित]

जवाहरलाल !

वह था किशोरकाल।
दैव के चक्र से वक्रगति आ मिले,
मैं था सत्रह का, चौवीस के
जवाहरलाल !

किरण तारुण्य की
तिलक ललाट पर,
ब्याह नहीं हुआ शुभ्र
कमला से उस काल।

गीता की आवृत्ति करके
सुनायी मैंने,
मैं हूँ कवि आज, धन्य
नेता है जवाहरलाल।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 21 नवम्बर, 1943। असंकलित कविताएँ मे संकलित]

गया अँधेरा

गया अँधेरा
देख, हृदय, हुआ है सवेरा।

चलना है बहुत दूर रे,
नहीं वहाँ परी, नहीं हूर,
मूसा का जैसा, कुछ देने के लिए है,
निर्जीवन जीवनदहन तूर;
और कहीं डाल अपना डेरा—
गया अँधेरा !

कोई नहीं पूछता, न पूछे,
भरे रह गये है वे, इसलिए
तेरी नजरों में हैं छूंछे;
ढलकाता चल उनका जल रे,
भर जैसे मिलना है तेरा—
गया अँधेरा।

[रचनाकाल : 1943 ई.। अणिमा में संकलित]

स्नेह-मन तुम्हारे नयन बसे

स्नेह-मन तुम्हारे नयन वसे,
जीवन-यौवन के पाश कसे ।

पल्लवित प्रणय के, निरावरण,
खिल गये लता-द्रुम नभस्तरण,
चुम्बित समीर-कुकुम क्षण-क्षण,
सिहरे, विहरे; फिर हँसे, फँसे ।

रँग गया प्रेम का अन्तराल,
खुल गया हेम का जगज्जाल,
तुल गयी किरण, धुल गयी झाल,
जीवन-सकाल से सकल गसे ।

[रचनाकाल : 1943 ई. । **अणिमा** मे संकलित]

नाम था प्रभात ज्ञान का साथी

नाम था प्रभात ज्ञान का साथी,
एक पाठशाले मे पढ़ा हुआ,
वातचीत करता था हँस-हँसकर,
वढ़ा मेलजोल में कढ़ा हुआ,
गोरा छरहरा वदन, वड़ी फांकें
आँखें, पलकों से उभारती चितवन;
राह वचाता चला, गठी फिर भी
चड्ढी, हो गयी उछाह से अनवन;
खेलता खाता हुआ वह पल रहा था,
कभी दिल को नही लगी चोट सख्त,
कहा, "ज्ञान, तेरा साथ मिलने पर,
नही चाहिए कुछ भी, किसी वक्त ।"

कहा ज्ञान ने, "फिर तू कैसा प्रभात,
अगर हटायी न हटी वैसी रात ?"

[रचनाकाल : 1943 ई. । अणिमा में संकलित]

मेरे घर के पश्चिम ओर रहती है

मेरे घर के पश्चिम ओर रहती है
बड़ी-बडी आंखो वाली वह युवती,
सारी कथा खुल-खुल कर कहती है
चितवन उसकी और चाल-ढाल उसकी ।
पैदा हुई है गरीव के घर, पर
कोई जैसे जेवरो से सजता हो,
उभरते जोवन की मीड़ खाता हुआ
राग साज पर जैसे वजता हो ।
आसमां को छूती हुई वह आवाज़
दिल के तार-तार से मिलाई हुई,
चढ़ाती है गिरने का जहाँ नही डर
कली की सुगन्ध जैसे छाई हुई ।
चढ़ी हुई है वह किसी देवता पर
जहाँ से लगता है सारा जग सुन्दर ।

[रचनाकाल : 1943 ई. । अणिमा में संकलित]

सड़क के किनारे दूकान है

सड़क के किनारे दूकान है
पान की, दूर एक्कावान है
घोड़े की पीठ ठोंकता हुआ,
पीरवख्श एक वच्चे को दुआ

दे रहा है, पीपल की डाल पर
कूक रही है कोयल, माल पर
बैलगाड़ी चली ही जा रही है।
नीम फूली है, खुशबू आ रही है,
डालों से छन-छनकर राह पर
किरनें पड़ रही है, वाह पर
वाह किये जा रहा है खेत मे
दाहिनी तरफ किसान, रेत मे
बाईं तरफ चिड़ियाँ कुछ बैठी है,
खुली जड़ें सिरसे की ऐंठी हैं।

[रचनाकाल : 1943 ई.। अणिमा में संकलित]

निशा का यह स्पर्श शीतल

निशा का यह स्पर्श शीनल
भर रहा है हर्ष उत्कल।
तारिकाओं की विभा से स्नात
आलियों की कुन्द-कलिका-गात;
हिल रहा है श्वेत अञ्चल शान्त
पवन से अज्ञात प्रतिपल।
चन्द्र-प्रिय-मुख से लगे है नयन,
शिखर-शेखर भवनपर है शयन,
वायु व्याकुल कर रही है चयन
अलक-उपवन-गन्ध अन्ध-चपल।
शिखर के पद पर प्रखर जल-धार
वह रही है सरित,—सुप्त विचार
प्रणयियों के, हैं हृदय पर हार
शब्द-सुमनों के, अमल छल-दल।

[रचनाकाल : 1943 ई.। अणिमा में संकलित]

तुम चले ही गये प्रियतम

तुम चले ही गये प्रियतम
हृदय में प्रियछवि नहीं ली।
व्यर्थ ऋतु के दृश्य-दर्शन,
व्यर्थ यह रचना रसीली।
खुले उर की प्रेमिका की
गन्ध का वाहक नही अब,
मुक्त-नयना सङ्गिनी का
पथिक परिचायक नहीं अब;
खुली जो मुरझा चली कलि,
बँधी छवि हो गयी ढीली।
बरसने को गरजते थे
वे न जाने किस हवा से
उड़ गये है गगन में घन,
रह गये हैं नयन प्यासे,
उड़ रही है धूल, धाराधर,
धरा होगी न गीली।

[रचनाकाल : 1943 ई.। अणिमा में संकलित]

चूँकि यहाँ दाना है

चूँकि यहाँ दाना है
इसीलिए दीन है, दीवाना है।

लोग है, महफ़िल है,
नग़मे हैं, साज़ है, दिलदार है और दिल है,
शम्मा है, परवाना है,
चूँकि यहाँ दाना है।

आँख है, लगी हुई;
जान है, जीवट भी है भगी हुई,
दोनों आँखोंवाला है, काना है,
चूँकि यहाँ दाना है।

अम्मा है, बप्पा है,
झापड है और गोलगप्पा है,
नौजवान मामा है और बुड्ढा नाना है,
चूँकि यहाँ दाना है।

[रचनाकाल : 1943 ई.। **अणिमा** में संकलित]

जलाशय के किनारे कुहरी थी

जलाशय के किनारे कुहरी थी,
हरे-नीले पत्तो का घेरा था,
पानी पर आम की डाल आयी हुई;
गहरे अँधेरे का डेरा था,
किनारे सुनसान थे, जुगनू के
दल दमके—यहाँ-वहाँ चमके,
वन का परिमल लिये मलय वहा,
नारियल के पेड़ हिले क्रम से,
ताड खड़े ताक रहे थे सब को,
पपीहा पुकार रहा था छिपा,
स्यार विचरते थे आराम से,
उजाला हो गया और—तारा दिपा,
लहरें उठती थी सरोवर मे,
तारा चमकता था अन्तर मे।

[रचनाकाल : 1943 ई.। **अणिमा** मे संकलित]

दूसरा दौर

तिलांजलि

धूसर सान्ध्य समय विषमय
भरता है क्रन्दन;
अन्तरीक्ष से झरता है
निस्तल अभिनन्दन
नैसर्गिक आत्माओं का
प्रशमित नारी - नर
चले आ रहे है
अरथी के साथ मार्ग पर
चरण - मन्द; भाषा के जैसे
अश्रु - भार रथ,
स्रस्त-वेश, दिग्देश-ज्ञान-गत,
शिरश्चरण - श्लथ,
मुक्ति - वर्ग नागरिक,
सर्ग देश के भाव के,
मुर्दे हुए आश्वासन,
श्वसन विसर्ग - स्राव के,
हृदयोच्छ्‌वसित वाष्प से
होकर प्रहत निरन्तर
ऊर्ध्व और अध प्रशमन
और क्षोभ के है स्वर।
कांग्रेस के सेनानी—
वीर सेवकों का दल
नारे लगा रहा है
बढ़ता हुआ धैर्य - बल।
घने बरगदों की कतार,
पर - फड़काते खग,
आंख मूद लेने के लिए
विकल सारा जग,

यात्री गङ्गास्नान के लिए
दूर जिले के
निकले है मजदूर
काम से छुटे क़िले के;
सुनकर नेहरू जी के
बहनोई की अरथी,
हाथ मले, आह की
और टकटकी बांध दी।
पुल के पार रास्ता
वायें कटा दूसरा
स्टेशन से लगकर
गङ्गा के बांध को गया;
चले उसी से, फिर
रेते से होकर, तट पर;
रची चिता भव्यतर,
वत्तियां जली तिमिरहर।
माघ, मकर - संक्रान्ति,
रात्रि का प्रथम प्रहर जव
सविध कृत्य पूरे करके
लौटे सत्वर सब।
जलती हुई चिता तब भी
उठती लपटों को
और स्पष्टतर करती हुई
रहस्य - तटों को
लहक रही है अपराजेय
वीर को लेकर—
बहुभाषाविद्, गायक, कवि,
तेजस्वी, तत्पर,
भारत का गर्वित उत्तर,
जनता का नेता,
मानवता का शिरोरत्न
बहु - ग्रन्थ - प्रणेता।
आयी याद विजयलक्ष्मी,
स्वरूप - जीवन का
नवोन्मेष, वैरिस्टर
आर. एस. पण्डित, जिनका

स्पर्धित जीवन रहा
समर्थित वचन दे दिया
गान्धीजी को, (असहयोग में
भाग .फिर लिया,)
मोतीलाल राष्ट्रपति,
वह ब्याह से प्रथम ही
देखा जब स्वरूप को
कवि - श्री रवीन्द्र को भी।
वीर जवाहर, टण्डन
और शेरवानी से
एक दर्प जैसे जीवन के
घिरे हुए थे।
वह 'स्वातन्त्र्य - दिवस',
'विजया - लक्ष्मी'-निर्वाचन,
वह 'राजर्षि', 'महात्मा' की
उपाधियाँ, वितरण।
कहे कौन, वह सत्य
कहाँ से कहाँ गया, क्या,
और जवाहर का रिश्ता,
दृढ़ कहाँ रहा, क्या?
की प्रदक्षिणा मैंने,
सबसे पीछे चलकर,
नमन किया करबद्ध
राष्ट्र का श्रेष्ठ विजय-वर।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 20 जनवरी, 1944 ('श्रद्धांजलि' शीर्षक से)। नये पत्ते में संकलित]

पाँचक

दीठ बँधी, अँधेरा उजाला हुआ,
सेंधों का ढेला, शकरपाला हुआ ॥ 1 ॥
अपनी राह लगे, नेता काम आया,
हाथ मुहर है, मगर छदाम आया ॥ 2 ॥

आदमी हमारा तभी हारा है,
दूसरे के हाथ जब उतारा है ॥ 3 ॥
राह का लगान ग़ैर ने दिया,
यानी रास्ता हमारा बन्द किया ॥ 4 ॥
माल हाट में है और भाव नहीं,
जैसे लड़ने को खड़े, दाव नहीं ॥ 5 ॥

['हंस', मासिक, बनारस, जनवरी-फरवरी (संयुक्तांक) 1944। नये पत्ते में संकलित]

आँख आँख का काँटा हो गयी

मुहोमुह रहे
एक पेड़ पर दो डालों के काँटे जैसे
अपनी - अपनी कली तोलते हुए।
हर्फ़ न आया;
हवा, पानी और रौशनी के लिए पहले हुए;
साथियों को हाथ मारा;
रस खींचा।
सर उठाये बढ़े चले।
हवा में गिरह लगायी,
बहुत झेला; बहुत झूमे।
एक तने से कटे,
एक डाल से छँटे।
पत्तियों की हथेलियाँ हिलायी,
राहियों को बुलाया,
छाँह में बैठालकर तंग नसें ढीली कीं;
फिर बुखार उतारा;
राही जगा,
अपना रास्ता लिया।
गुल खिला
आँख आँख का काँटा हो गयी।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 13 फरवरी, 1944 ('काँटा' शीर्षक से)। नये पत्ते में संकलित]

खुशखबरी

नवना दोनों हाथ आया इश्तहार,
दरबारी धीर-नाग छाया जग।
सुल्तानान फिरन जैसे गार पर
जीवन-संग्राम हमारा छिना।
महत्व सिनेमा की नटी में माना,
पूरब का नाता छिना पश्चिम में,
दुश्मन की जान सारी आफत में,
गली-गली गाने के गोले दगे।
क़ैद पासपोर्ट की नहीं तो कभी
देश आधा खाली हो गया होता;
देविकारानी और उदयशङ्कर के
पीछे लगे लोग चले गये होते।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 27 फरवरी, 1944 ('महत्व' शीर्षक से)। नये पत्ते में संकलित]

शशी वे थे, शश-लांछन

शशी वे थे, शश-लांछन
किसी की जान हुई;
मुकेश, जैसे अधिक
कुञ्चित बानवान हुई।

विशेषता के गले सोन की
रही जो गली,
गुलाब जैसा खिला,
कलितमान जान हुई।

कलेजा खोला, गली की
जो धाँसी रेणु उड़ी,
मगर हवा सुबह की
भैरवी की तान हुई।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, जून, 1944। बेला में संकलित]

जीवन-प्रदीप चेतन तुमसे हुआ हमारा

जीवन - प्रदीप चेतन तुमसे हुआ हमारा,
ज्योतिष्क का उजाला ज्योतिष्क से उतारा।

बाँधी थी मूठ मैंने सञ्चय की चिन्तना से,
मुद्रा दरिद्र की है, तुमने किया इशारा।

तन्द्रा से जागरण पर क्षण - क्षण सँवारते हो,
आओ, तुरीय में प्रिय मृदु कण्ठ से पुकारा।

वीणा-विनिन्दित स्वर सुनकर प्रखर-प्रखरतर,
तोड़ी प्रसक्ति मैंने, छोड़ी विराम-धारा।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 2 जुलाई, 1944। वेला में संकलित]

उनके बाग़ में बहार

उनके बाग़ में बहार,
देखता चला गया।
कैसा फूलों का उभार,
देखता चला गया।

प्रेम का विकास वह,
आँखें चार हो गयीं,
पड़ा रश्मियों का हार,
देखता चला गया।

मैंने उन्हें दिल दिया,
उनका दिल मिला मुझे,
दोनों दिलों का सिंगार,
देखता चला गया।

असर ऐसा कि शिला
पानी - पानी हो गयी,
जवानी का पानीदार
देखता चला गया।

अमृत के घूंट वे
दुनिया ने जो पिये,
टूटी भेद की दीवार,
देखता चला गया।

['वीणा', मासिक, इन्दौर, जुलाई, 1944। बेला में संकलित]

टूटी बाँह जवाहर की

टूटी बाँह जवाहर की,
रनजित-लट छूटी पण्डित की।
लोगों की निधि विधि ने लूटी,
क़िस्मत फूटी पण्डित की।

विद्या का गया सहारा,
गीत का गला भी मारा,
कोई भी न ला सका रन
लछमन की बूटी पण्डित की।

कब से ये दल-बादल घेरे,
यह बिजली आँख तरेरे,
झण्डे ले-लेकर निकली
थी और बहूटी पण्डित की।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 13 अगस्त, 1944 ('कजली' शीर्षक से)। बेला में संकलित]

महालक्ष्मी के प्रति

रक्तांगे, विश्व के सदन मे,
रक्त - कोकनद के ऊपर,
राजी तुम राजीव-चरण
रखकर, राजीव-नखर सुन्दर;
रक्ताम्वर, शस्य के शीर्ष कर
और शंख आरक्त अधर,
वसुन्धरा की मधुर धारणा,
अंश-विष्णु की प्रिया सुघर;
युगल श्वेत-द्विरदों के शुण्डों
बने हुए तोरण के तल
जगद्विधात्री सोह रही हो,
चढे किरीटों के शतदल।
सदोलोक की छायालग्ना,
गृह की हुई सदा प्रतिमा,
धन्या माता और प्रेयसी
पत्नी, गरिमा, फिर लघिमा;
कन्या, पुत्रवधू, रक्षा की
एक समीक्षा जैसी तुम,
सभी ओर से पोषण की प्रिय
एक प्रतीक्षा जैसी तुम;
किन्तु वही आसुरिक क्रियाएँ
भिन्न रूप की होती है,
छिनते धन से माताएँ—
जायाएँ खुलकर रोती हैं;
जैसे हिम की ठण्डक से
सित शतदल मुरझा जाता है,
एक स्वार्थ से अर्थ दूसरा
दवता है, कुम्हलाता है;
राज्य टूटकर ढह जाते है
चढ़ते हैं जब भिन्न विचार,
बदल रहे हैं देह-देह को
एक देह के भिन्न विकार;

यह परिवर्तन, ऐसे होकर
मरण, सुघरतर, जीवन है,
यही तुम्हारा विश्वरूप है,
यही अधनता मे धन है।
यही भाव जो मथा गया है
सागर देवासुर के कर,
रज्जु शेष की थामी, बनी
मथानी गुल्महीन मन्दर,
निकले चौदह रत्न, श्रेष्ठ तुम,
श्री, विष्णु के अर्थ अर्पित,
बटवारे मे न आ सका जो
शिव को मिला गरल सर्पित,
सेनापति को धनुष, कल्पतरु,
पारिजात नन्दनवन को,
अश्व, उर्वशी, ऐरावत, शशि
देवराज को, जीवन को;
अमृत देवताओं को, आये
सभी रत्न विष के बदले,
क्योकि असुर मरने से काँपे,
जगजीवन के साथ चले;
सोचा विष से मर जाना
होगा, रत्नों से क्या लेंगे ?
जीकर, लडकर, इन्हे खेदकर
हमी रत्न ये छीनेंगे।
तुम मणि लिये खडी, छाया की
बनी मोहिनी विष्णु हरित,
मोहे असुरो को छल के बल
मिली वारुणी ही संचित।
मदोन्मत्त होकर सब लडने
लगे, मोहिनी को लपके,
जैसे भोजन के उपरान्त
उनीदे दुपहर को झपके,
अपलक महिमामयी दिव्यश्री
देख रही थी खड़ी हुई,
हरि के कर विमान पर चढ़कर
चली गयी फिर बढ़ी हुई।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 29 अक्तूबर, 1944। असंकलित कविताएँ मे संकलित]

शुभ्र आनन्द आकाश पर छा गया

शुभ्र आनन्द आकाश पर छा गया,
रवि गा गया किरणगीत।
श्वेत शतदल कमल के अमल खुल गये,
विहग-कुल-कण्ठ उपवीत।

चरण की ध्वनि सुनी, सहज शङ्का गुनी,
छिप गये जन्तु भयभीत।
वालुका की चुनी पुरलगी सुरधुनी;
हो गये नहाकर प्रीत।

किरण की मालिका पड़ी तनुपालिका,
समीरण वहा समधीत।
कण्ठ रत पाठ मे, हाट मे, बाट मे;
खुल गया ग्रीष्म या शीत।

[सम्भावित रचनाकाल : 1944 ई. का उत्तरार्ध। **बेला में संकलित**]

रूप की धारा के उस पार

रूप की धारा के उस पार
कभी धँसने भी दोगे मुझे?
विश्व की श्यामल स्नेह-सँवार
हँसी हँसने भी दोगे मुझे?

निखिल के कान बसे जो गान
टूटते है जिस ध्वनि मे ध्यान,
देह की वीणा का वह मान
कभी कसने भी दोगे मुझे?

शत्रुता से विश्व है उदास;
करों के दल की छाँह, सुवास
कली का मधु जैसा निस्त्रास
कभी फँसने भी दोगे मुझे?

वैर यह! वाधाओं से अन्ध!
प्रगति में दुर्गति का प्रतिवन्ध!
मधुर, उर से उर, जैसे गन्ध
कभी वसने भी दोगे मुझे?

[सम्भावित रचनाकाल : 1944 ई. का उत्तरार्ध। बेला मे संकलित]

वीन की झङ्कार...

वीन की झङ्कार कैसी वस गयी मन में हमारे।
धुल गयी आँखें जगत की, खुल गये रवि-चन्द्र तारे।

शरत के पङ्कज सरोवर के हृदय के भाव जैसे
खिल गये हैं पङ्क से उठकर विमल विश्राव जैसे,
गन्धस्वर पीकर दिगन्तों से भ्रमर उन्मद पधारे।

पवन के उर मे भरा कम्पन प्रणय का मन्द गतिक्रम
कर रहा है समम जग को सुप्ति से जो हुआ निर्मम,
हारकर जन सकल जीते जीतकर जन सकल हारे।

भर गयी विज्ञान माया, कर गयी आलोक छाया,
छुट गयी मिलकर हृदयधन से प्रिया की प्रकृत काया,
दिग्वधू ने दन्तियो के मलिनता-मद यथा झारे।

[सम्भावित रचनाकाल : 1944 ई. का उत्तरार्ध। बेला में संकलित]

नाथ, तुमने गहा हाथ ··

नाथ, तुमने गहा हाथ, वीणा वजी;
विश्व यह हो गया साथ, द्विविधा लजी।

खुल गये डाल के फूल, रँग गये मुख
विहग के, धूल मग की हुई विमल सुख;
शरण मे मरण का मिट गया महादुख;
मिला आनन्द पथ पाथ; संसृति सजी।

जलभरे जलद जैसे गगन मे चले,
अनिल अनुकूल होकर लगी है गले;
नमित जैसे पनस - आम - जामुन - फले,
स्नेह के सुने गुण - गाथ, माया तजी।

[सम्भावित रचनाकाल : 1944 ई. का उत्तरार्ध। बेला में संकलित]

बातें चलीं सारी रात तुम्हारी

बातें चली सारी रात तुम्हारी;
आँखें नहीं खुली प्रात तुम्हारी।

पुरवाई के झोके लगे है,
जादू के जीवन मे आ जगे हैं,
पारस पास कि राग रँगे हैं,
काँपी सुकोमल गात तुम्हारी।

अनजाने जग को बढ़ने की
अनपढ़ - पडे पाठ पढ़ने की
जगी सुरति चोटी चढ़ने की;
यौवन की बरसात तुम्हारी।

[सम्भावित रचनाकाल . 1944 ई. का उत्तरार्ध। बेला में संकलित]

साथ न होना। गाँठ खुलेगी…

साथ न होना। गाँठ खुलेगी, छूटेगा उर का सोना।
आँख पर चढ़े, कि लड़े, फिर लड़े;
जीवन के हुए और कोस कड़े;

प्राणों से हुआ हाथ धोना। साथ न होना।
गाँठ पड़ेगी, बरछी की तरह गड़ेगी;
मुरझाकर कली झड़ेगी।

पाना ही होगा खोना। साथ न होना।
हाथ बचा जा, कटने से माथ बचा जा,
अपने को सदा लचा जा;
सोच न कर मिला अगर कोना। साथ न होना।

[सम्भावित रचनाकाल : 1944 ई. का उत्तरार्ध। बेला में संकलित]

आये पलक पर प्राण कि

आये पलक पर प्राण कि
वन्दनवार बने तुम।
उमड़े हो कण्ठ के गान,
गले के हार बने तुम।

देह की माया की जोत,
जीभ की सीप के मोती,
छन-छन और उदोत,
वसन्त-बहार बने तुम।

दुपहर की घनी छाँह,
बनी इक मेरे बानिक,
हाथ की पकड़ी बाँह,
सुरों के तार बने तुम।

भीख के दिन - दूने दान,
कमल जल-कुल की कान के,
मेरे जिये के मान,
हिये के प्यार बने तुम।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 26 नवम्बर, 1944। बेला में संकलित]

भीख माँगता है अब राह पर

भीख माँगता है अब राह पर
मुट्ठी-भर हड्डी का यह नर।

एक आँख आज के वानिज की
पराधीन होकर उस पर पड़ी;
कहा कला ने, कल का यह वर।

एक आँख शिक्षा की हेठी से
देखने लगी उसे अमेठी से,
कहा, खुवलकर छोटा भूधर।

एक आँख कारीगर की गड़ी,
कहा, आदमी को यह है छड़ी,
खेदे कोई इसको लेकर।

एक आँख पड़ी महाराज की,
कहा, देख ली है स्तुति व्याज की,
मानव का सच्चा है यह घर।

एक आँख तरुणी की जो अड़ी,
कहा, यहाँ नही कामना सड़ी,
इससे मैं हूँ कितनी सुन्दर।

['हंस', मासिक, वनारस, नवम्बर, 1944। बेला मे संकलित]

जिसको तुमने चाहा…

जिसको तुमने चाहा, आँख से मिला।
भूल से छूटा, उठकर फूल में खिला।

ओस लाज की भरी, आकाश की परी,
उड़ी हुई थककर पृथ्वी पर उतरी,
रात फूल से जो की बात, उर हिला।

रवि के कर गही बाँह, वह चढ़ी गगन,
जहाँ तक विचरने को विचरी सनयन,
निस्तरङ्ग एक स्वरङ्ग में झिला।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 3 दिसम्बर, 1944। बेला में संकलित]

चलते पथ, चरण वितत

चलते पथ, चरण वितत,
दीप निभा, हवा लगी,
कहाँ रहे छिपे हुए ?
बाँह गही, भाग जगी।

नभ के अङ्गण में शशि,
ज्योत्स्ना की मायामसि
उड़ी, तमिस्रा की रक्षा की
राखी जो बँधी।

पहला उद्देश्य गया,
तुम्हारा ही रहा नया,
चलना किस देश कहाँ,
पीछे लगी सहज सगी।

बिजली की जोत राग
गाये हैं, भरे झाग,
टूटे मन्दिर में आ रहे,
प्रात किरण रँगी।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 31 दिसम्बर, 1944। बेला में संकलित]

आरे, गङ्गा के किनारे

आरे, गङ्गा के किनारे
झाऊ के वन से पगडण्डी पकड़े हुए
रेती की खेती को छोड़कर; फूँस की कुटी;
बाबा बैठे झारे-बहारे।

हवाबाज़ ऊपर घहराते हैं,
डाक सैनिक आते-जाते हैं,
नीचे के लोग देखते हैं मन मारे।

रेलवे का पुल बँधा हुआ है,
अपना दिल है जहाँ कुआ है,
उठने को आँख झपी, बैठे बेचारे।

पण्डों के सुघर-सुघर घाट हैं,
तिनके की टट्टी के ठाट हैं,
यात्री जाते हैं, श्राद्ध करते हैं,
कहते हैं, कितने तारे!

बाब साधक हैं और कढ़े भी हैं,
खाएए की पोथियाँ पढ़े भी हैं,
आँखों मे तेज है, छाया है,
उस छवि की गेह सिवारे।

['हंस', मासिक, बनारस, दिसम्बर, 1944। बेला मे संकलित]

वेश-रूखे, अधर-सूखे

वेश - रूखे, अधर - सूखे,
पेट - भूखे, आज आये।
हीन - जीवन, दीन-चितवन,
क्षीण आलम्बन बनाये।

तिमिर ने जब घेरकर
तुमको प्रकाश हरा तुम्हारा,
इस धरा के पार खोला द्वार
कृति ने, विश्व हारा;
जग गयी जनता, हुए लुण्ठित
मुकुट, जीवन सुहाये।

प्यास पानी से बुझाने को
बुझायी रक्त से जब,
आँख से आया लहू,
लोहा बजाया शक्त से जब,
रुण्डमुण्डो से भरे है खेत
गोलों से बिछाये।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 14 जनवरी, 1945। बेला मे संकलित]

लू के झोंकों···

लू के झोंको झुलसे हुए थे जो,
भरा दौंगरा उन्ही पर गिरा।
उन्ही बीजों के नये पर लगे,
उन्ही पौधो से नया रस झिरा।

उन्ही खेतों पर नये हल चले,
उन्हीं माथों पर नये बल पड़े,
उन्ही पेड़ों पर नये फल फले,
जवानी फिरी जो पानी फिरा।

पुरवा हवा की नमी बढ़ी,
जूही के जहाँ की लड़ी कढ़ी,
सविता ने क्या कविता पढ़ी,
बदला है बादल से सिरा।

जग के अपावन धुल गये,
ढेले गड़नेवाले थे घुल गये,
समता के दृग दोनों तुल गये,
तपता गगन घन से घिरा।

[सम्भावित रचनाकाल : 1945 ई. का पूर्वार्ध। बेला में संकलित]

बदलीं जो उनकी आँखें…

बदलीं जो उनकी आँखें, इरादा बदल गया।
गुल जैसे चमचमाया कि बुलबुल मसल गया।

यह टहनी से हवा की छेड़छाड़ थी, मगर
खिलकर सुगन्ध से किसी का दिल बहल गया।

ख़ामोश फ़तह पाने को रोका नहीं रुका,
मुश्किल मुकाम, जिन्दगी का जब सहल गया।

मैंने कला की पाटी ली है शेर के लिए,
दुनियाँ के गोलन्दाजों को देखा, दहल गया।

[सम्भावित रचनाकाल : 1945 ई. का पूर्वार्ध। बेला में संकलित]

दोनों लताएँ…

दोनों लताएँ आपके बाजू-बाजू खिली;
खुशबू की सैकड़ों 'वाहों' गले-गले मिली।

दिल को तमाशाई बनाया दोनों जहाँ में
जिसने उसी की आँखों के इशारे से हिली।

फूलों ने पत्तों के जो मारे पर, आयी बहार;
चिड़ियों की छिड़ी तानें, हवा की पेंगें झिलीं।

[सम्भावित रचनाकाल : 1945 ई. का पूर्वार्ध। बेला में सकलित]

सङ्कोच को विस्तार···

सङ्कोच को विस्तार दिये जा रहा हूँ मैं;
छन्दों को विनिस्तार दिये जा रहा हूँ मैं।

प्रस्तार को प्रस्तार दिये जा रहा हूँ मैं,
जैसे विजय को हार दिये जा रहा हूँ मैं।

उड़ जाने को हवा के साथ खेला - खेलाया
हलका जो उसको वार दिये जा रहा हूँ मैं।

क्या छोरों पर कला की साड़ी के, लगाये हंस,
हस्ती को गुल हज़ार दिये जा रहा हूँ मैं।

उपवन मे शायरी के मेरे शब्द यों आये,
जैसे फूलों को भार दिये जा रहा हूँ मैं।

दुनिया के शायरो की किताबो मे जो आयी
उस युवती को सिंगार दिये जा रहा हूँ मैं।

उतरी हैं आपसे जो कलाएँ यहाँ, कहा,
उन किरणो को निखार दिये जा रहा हूँ मैं।

युग को किया सुरूप दुनियाँ की आँखों में,
गोया मदन को प्यार दिये जा रहा हूँ मैं।

[सम्भावित रचनाकाल : 1945 ई. का पूर्वार्ध। बेला मे संकलित]

काले-काले बादल छाये…

काले-काले बादल छाये, न आये वीर जवाहरलाल।
कैसे-कैसे नाग मँडलाये, न आये वीर जवाहरलाल,

बिजली फन के मन की कौंधी, कर दी सीधी खोपड़ी औंधी,
सर पर सरसर करते धाये, न आये वीर जवाहरलाल।

पुरवाई की है फुफकारें, छन-छन ये विष की बौछारें,
हम हैं जैसे गुफा में समाये, न आये वीर जवाहरलाल।

मँहगाई की बाढ़ बढ़ आयी, गाँठ की छूटी गाढ़ी कमाई,
भूखे-नङ्गे खड़े शरमाये, न आये वीर जवाहरलाल।

कैसे हम बच पायें निहत्थे, बहते गये हमारे जत्थे,
राह देखते हैं भरमाये, न आये वीर जवाहरलाल।

[सम्भावित रचनाकाल : 18 जून, 1945। बेला में संकलित]

मिट्टी की माया छोड़ चुके

मिट्टी की माया छोड़ चुके
जो, वे अपना घट फोड़ चुके।

नभ की सुदूरता में ऊँचे
जीवन के क्षण अब हैं छूँछे,
आकर्षण के अभियानी के
गतिक्रम को जब वे तोड़ चुके।

देशों की पुण्यवीथिका की
जिन लोगों ने बाँधी राखी,
वे उस सुख से हटकर, रुककर
निश्छल अपने मुख मोड़ चुके।

जो रूप-मोह से हुआ दूर,
जो युद्ध जीतकर हुआ शूर,
उनकी मानवता से दानव
अपना जीवन-क्रम जोड़ चुके।

हँसते-हँसते वे चले गये,
उनके विरोध के छले गये,
संसृति की रक्षा के न रहे,
वे अपनी रेखा गोड़ चुके।

['माधुरी', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1945। बेला में संकलित]

गिराया है जमीं होकर…

गिराया है जमीं होकर, छुटाया आसमाँ होकर।
निकाला, दुश्मनेजाँ; और बुलाया, मेहरबाँ होकर।

चमकती धूप जैसे हाथवाला दबदबा आया,
जलाया गरमियाँ होकर, खिलाया गुलसिताँ होकर।

उजाड़ा है कसर होकर, बसाया है असर होकर,
उखाड़ा है रवाँ होकर, लगाया बागबाँ होकर।

घटा है भाप होकर जो, जमा है रङ्गोबू होकर,
अधर होकर जो निकला है, समाया है समा होकर।

चढाया है निडर होकर, उतारा है सुघर होकर,
रमा होकर रमाया है, सताया है अमा होकर।

बड़ों को गिरने से रोका, ऐसी आँखें लड़ाई है,
सभी उपमाएँ ले ली है, न होकर, निरुपमा होकर।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 16 दिसम्बर, 1945। बेला में संकलित]

चढ़ी हैं आँखें जहाँ की…

चढी है आँखें जहाँ की; उतार लायेंगी।
बढे हुओ को गिराकर सँवार लायेंगी।

समाज ने सर उठाया है, राज बदला है,
सलास वे पतझर से बहार लायेंगी।

लड़ी है जब समझौता नहीं हुआ उनका,
बदलती लोगो को सुख का सिंगार लायेंगी।

युगों का जोर उन्ही का रहा, वही जीती,
निदाघ से बरखा की फुहार लायेंगी!

उगी खेती लहरायी, हवा और बदली है,
मिले बढे चलें, ऐसा विचार लायेंगी।

['हंस', मासिक, बनारस, दिसम्बर, 1945। बेला मे सकलित]

किनारा वह हमसे…

किनारा वह हमसे किये जा रहे है।
दिखाने को दर्शन दिये जा रहे है।

जुडे थे सुहागिन के मोती के दाने,
वही सूत तोडे लिये जा रहे है।

छिपी चोट की बात पूछी तो बोले
निराशा के डोरे सिये जा रहे है।

जमाने की रफ्तार मे कैसा तूफाँ,
मरे जा रहे हैं, जिये जा रहे है।

खुला भेद, विजयी कहाये हुए जो,
लहू दूसरे का पिये जा रहे है।

['हंस', मासिक, बनारस, दिसम्बर, 1945। बेला में संकलित]

विनोद प्राण भरे

विनोद प्राण भरे,
आनवान रहने दे।
मिटा न दे जवतक तीर,
शान रहने दे।

कहीं की खूवियों से
नाज़ का पड़ा पाला,
सितार रहने दे,
आलाप-तान रहने दे।

मिला गला, जनगीतों का
राग जो वदला,
धुली वितान-मुकुल-सुकुल
कान रहने दे।

वुराई छोड़, किसी की
भलाई कर या न कर,
जमी रहने दे, जा रहने दे।
जान रहने दे।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 20 जनवरी, 1946। बेला मे संकलित]

पड़े थे नींद में···

पड़े थे नीद मे उनको प्रभाकर ने जगाया है।
किरन ने खोल दी आँखे, गले फिर-फिर लगाया है।

हवा ने हल्के झोको से प्रसूनों की महँक भर दी,
विहङ्गों ने द्रुमों पर स्वर मिलाकर राग गाया है।

तितलियाँ नाचती उड़ती रँगों से मुग्ध कर-करके,
प्रसूनों पर लचककर वैठती हैं, मन लुभाया है।

प्रवासी दूर के परिचित किसी से मिलने को आतुर
प्रकृति ने स्वर्ण-केशर से वसन जैसे रँगाया है।

कल्लोलों से भरे, देखा, सकल जलचर बराती हैं,
नदी का सिन्धु ने सवेद से गौना कराया है।

['हंस', मासिक, बनारस, जनवरी, 1946। बेला में संकलित]

शान्ति चाहूँ मैं···

शान्ति चाहूँ मैं, तुम्हारा दुःख-कारागार है जग।
हार झूला, नील-नभ तरु, सृष्टि झूली, सहज जगमग।

हुआ सूना हृदय दूना, याद आया चरण-छूना,
कामना की रही बाकी माल-पूँजी ले गये ठग।

अँखड़ियों की सजी काया कुछ नहीं, विज्ञान आया,
ओस के आँसुओं रोये, दरस करने चल पड़े पग।

['पारिजात', त्रैमासिक, पटना, फरवरी, 1946। बेला में संकलित]

पग आँगन पर रखकर आयी

पग आँगन पर रखकर आयी।

पल्लव-पल्लव पर हरियाली फूटी, लहरी डाली-डाली,
बोली कोयल, कलि की प्याली मधु भरकर तरु पर उफनायी।

झोंके पुरवाई के लगते, बादल के दल नभ पर भगते,
कितने मन सो-सोकर जगते, नयनों में भावुकता छायी।

लहरें सरसी पर उठ-उठकर गिरती हैं सुन्दर से सुन्दर,
हिलते हैं सुख से इन्दीवर, घाटों पर बढ़ आयी काई।

घर के जन हुए प्रसन्न-वदन, अतिशय सुख से छलके लोचन,
प्रिय की वाणी का आमन्त्रण लेकर जैसे ध्वनि सरसाई।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 3 मार्च, 1946। बेला में संकलित]

समर करो जीवन में

समर करो जीवन में,
जन के लिए कभी
पीछे न रहो गण के मन हे विदेश को न वरो।

बढ़े हाथ रोको न लुटो
रोटी के कारण
मारण तक लो अमर सदा स्मरगरल हे हरो।

मरो सत्य पर अविकल
शर की तरह मारकर,
छल छाया से तरो, न भय से तुम विदेश विचरो।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 10 मार्च, 1946। बेला में संकलित]

खुल गया दिन खुली रात

खुल गया दिन खुली रात,
विरह की बात गयी अब।
रूप खिले मिले अधर कली के,
नयनों की बरसात गयी अब।

सागर की उठती हैं हिलोरें,
नयनों की बढ जाती हैं कोरें,
भवरों-भरी छूटती हैं मरोरें,
पहले की पीली गात गयी अब।

उनके नयनों में जो लुटे हैं,
आज उन्हीं के हाथ उठे हैं;
कैसे नये - नये तीर छुटे हैं,
मौत की गोंठिल घात गयी अब।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 17 मार्च, 1946। बेला में संकलित]

रहे चुपचाप मन मारकर हाथ पर

रहे चुपचाप मन मारकर हाथ पर
हाथ रखकर; गयी अपनी सही नाप।

विश्व की विकलता अनुपम शकुन्तला
रह गयी, दिग्देश ऋषि का लगा शाप।

साहस गया, बदलते रहे दिवस - छन,
लग गया ग्रीष्म यह युग का बड़ा ताप।

प्रशमन जहाँ अखिल चेतन सुरसराशि
पहुँची अकाल तक मन की उड़ी भाप।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 24 मार्च, 1946। बेला में संकलित]

राह पर बैठे···

राह पर बैठे, उन्हे आबाद तू जब तक न कर।
चैन मत ले, गैर को बरबाद तू जब तक न कर।

पैर उखाड़े रह कजा के, हाथ जब तक चलता है,
बैठने मत दे किसी को, याद तू जब तक न कर।

रोक रहजन को प्रगति का, फेर से, बाधक जो है
दर-बदर भटका उसे, मर्याद तू जब तक न कर।

अडिग डग से भूमि जल-नभ पर फिरे जीवन नहीं,
दुर्दशा को सिंहिनी की माद तू जब तक न कर।

बदल शिक्षा-क्रम, बना इतिहास सच्चा, दम न ले,
सज्जनों को प्रगति-पद प्रह्लाद तू जब तक न कर।

सेठ होने को किसी की गठरियाँ लेकर न चल,
मान है अपमान को मनुजाद तू जब तक न कर।

स्वर विवादी ही लगा, गाना सुनाना हो जहाँ,
साथ से हर वाद का उन्माद तू जब तक न कर।

सूत सुलझा मत विदेशी देश के खातिरजमा,
हाथ धो ले, वयन को अपवाद तू जब तक न कर।

उलट तख्ता उपज की ताकत बढ़ाने के लिए,
डाल मत खेतों मे अपनी खाद तू जब तक न कर।

वेबुलाये आ विराजे, आज तक सबने कहा,
बीन मत छू ज्ञान की, उस्ताद तू जब तक न कर।

घर बसाने को, समझ तू, अपनो ने चरके दिये;
नभ बना रह, रहन की बुनियाद तू जब तक न कर।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 19 मई, 1946। बेला मे संकलित]

आँखें वे देखी हैं जब से

आँखें वे देखी हैं जब से,
और नहीं देखा कुछ तब से।

देखे हैं कितने तारादल
सलिल-पलक के चञ्चल-चञ्चल,
निविड निशा मे वन-कुन्तल-तल
फूलो की गन्ध से बसे।

उषःकाल सागर के कूल से
उगता रवि देखा है भूल से;
सन्ध्या को गिरि के पदमूल से
देखा भी क्या दबके-दबके!

सभाएँ सहस्रों अब तक की;
वैसी आँखें न कहीं देखी;
उपमाओं की उपमाएँ दी,
एक सही न हो सकी सबसे!

[बेला मे संकलित]

स्वर के सुमेरु से झरझरकर

स्वर के सुमेरु से झरझरकर
आये हैं शब्दों के शीकर।

कर फैलाये थी डाल-डाल
मञ्जरित हो गयी लता-माल,
वन-जीवन में फैला सुकाल,
बढ़ता जाता है तरु-मर्मर।

कानों में बतलायी चम्पा,
कमलों से खिली हुई पम्पा,
तट पर कामिनी कनक-कम्पा
भरती है रँगी हुई गागर।

कलरव के गीत सरल शतशत
बहते है जिस नद में अविरत,
नाद की उसी वीणा से हत
होकर झङ्कृत हो जीवन-वर।

[बेला मे संकलित]

कैसे गाते हो ? …

कैसे गाते हो ? मेरे प्राणो में
आते हो, जाते हो।

स्वर के छा जाते है बादल,
गरज - गरज उठते हैं प्रतिपल;
तानों की बिजली के मण्डल
जगतीतल को दिखलाते हो।

ढह जाते है शिखर, शिखरतल;
बह जाते है तरु, तृण, वल्कल;
भर जाते है जल के कलकल;
ऐसे भी तुम बल खाते हो।

लोग - बाग बैठे ही रह गये,
अपने में अपना सब कह गये,
सही छोर उनके जो गह गये,
बार बार उन्हे गहाते हो।

[बेला मे संकलित]

खिला कमल, किरण पड़ी

खिला कमल, किरण पड़ी।
निखर-निखर गयी घड़ी।

चुने डली में सुथरे
बड़े-बड़े भरे-भरे,
गन्ध के गले सँवरे;
जादू की आँख लड़ी।

तारों में जीवन के
हार सुघर उपवन के,
फूल रश्मि के तन के,
यौवन की अमर कड़ी।

विरह की भरी चितवन
करुण मधुर ज्योति-पतन,
क्षीण उर, अलख-लेखन
आँखें हैं बड़ी-बड़ी।

[बेला में संकलित]

कुन्द-हास में अमन्द

कुन्द-हास में अमन्द
श्वेत गन्ध छायी।
तान-तरल तारक-तनु
की अति सुघराई।

तिमिर गहे हुए छोर
खिची हुई तुहिन-कोर,
वन्दी है भानु भोर,
किरण मुस्करायी।

पथिक की थकी चितवन
थिर होती है कुछ छन,
चलता है गहे गहन
पथ, फिर दुखदाई।

आते हैं पूजक - दल,
चुनते हैं फूल सजल,
भरती है ध्वनि से
कल वीथी, अमराई।

[बेला मे संकलित]

फूलों के कुल काँटे…

फूलो के कुल काँटे, दल, वल।
कवलित जीवन की कला अकल।

विष, असगुन, चिन्ता और सोच,
उकसाये, खाये बुरे लोच,
कर गये पोच से और पोच;
मुरझे तरु - जीवन के सम्बल।

नीरस फल, मुरझायी डाली,
जलहीन, सजल लोचन माली;
पल्लव - ज्वाला उर की पाली,
सुर की वाणी फूटी उत्कल।

[बेला मे संकलित]

उठकर छवि से आता है पल

उठकर छवि से आता है पल
जीवन के उत्पल का उत्कल।

वर्षा की छाया की मर्मर,
गूँजी गणिका; ध्वनि, भाव सुघर;
आशा की लम्बी पलकों पर
पुरवाई के झोंके प्रतिपल।

पङ्कज के ईक्षण शरद हँसी;
भू-भाल शालि की बाल फँसी;
वह चला सलिल, खुल चली नसी;
सीझे दल इधर पसीजे फल।

कुन्द के दुग्ध के नयन लुब्ध;
विपरीत, शीत के त्राम क्षुब्ध;
व्यय के, अर्जन के, अर्थ मुग्ध;
फूलों से फल, तरु से वल्कल।

नैष्पत्रय गया, पल्लव - वसन्त
आया कि मुस्कराया दिगन्त;
यौवन की लाली भरी, हन्त,
किसलय की कल चितवन चलदल।

खेती का, खलिहानों का, सुख
ग्रीष्म का खुला ज्योति से सुमुख,
आकांक्षा का कुसुमित किंशुक,
निर्मल मणिजलसलिला निस्तल।

[बेला में संकलित]

हँसी के तार के होते हैं ये…

हँसी के तार के होते है ये वहार के दिन।
हृदय के हार के होते है ये वहार के दिन।

निगह रुकी कि केशरो की वेशिनी ने कहा,
सुगन्ध - भार के होते है ये वहार के दिन।

कही की वैठी हुई तितली पर जो आँख गयी
कहा, सिगार के होते है ये वहार के दिन।

हवा चली, गले खुशवू लगी कि वे वोले,
समीर - सार के होते हैं ये वहार के दिन।

नवीनता की आँखे चार जो हुई उनसे,
कहा कि प्यार के होते है ये वहार के दिन।

[बेला में संकलित]

हँसी के झूले के झूले हैं वे…

हँसी के झूले के झूले है वे वहार के दिन।
सलास वृन्तों के फूले है वे वहार के दिन।

जगे है सपनो मे किरणो की आँखे मल-मलकर,
मधुर हवाओ के, भूले है वे वहार के दिन।

क़दम के उठते कहा प्रियतमा ने फूलो से,
उरो मे तीरों के हूले है वे वहार के दिन।

पुटों में होठो के कलियो का राज़ दव न सका,
सुगन्ध से खुला, सूले हैं वे वहार के दिन।

[बेला में संकलित]

अशब्द हो गयी वीणा

अशब्द हो गयी वीणा,
विभास बजता था।
अमिय-क्षरण नव-जीवन-
समास बजता था।

कलुष मिला, मनसिज की
विदग्धता फैली,
चल उँगलियाँ रुकी डरकर
विलास बजता था।

उठी निगह कि कहाँ से
कहाँ हुए हम भी,
दिखा कि ज्योति की छाया
मे ह्रास बजता था।

[बेला मे संकलित]

तुम्हें देखा…

तुम्हे देखा, तुम्हारे स्नेह के नयन देखे;
देखी सलिला, नलिनी के सलिल-शयन देखे।

प्रेम की आग बुझी, आग देह की जो लगी,
सुख के हाथ जले, दुःख के अयन देखे।

सत्य की आँख बँधी आँखमिचौनी के लिए,
सुब्हो-शाम ऐसे कामनाओ के चयन देखे।

[बेला मे संकलित]

निगह तुम्हारी थी

निगह तुम्हारी थी,
दिल जिससे बेक़रार हुआ;
मगर मै ग़ैर से मिलकर
निगह के पार हुआ।

अँधेरा छाया रहा,
रौशनी की माया मे,
कही भी छाया का आँचल
न तार-तार हुआ।

वही नवीना सजी और
वही बजी वीणा,
शराबो-प्याले का अब तक
न बहिष्कार हुआ।

निगह लड़ी, उठी शमशीर,
बाँके - तिरछे कटे,
गले लगे छुटे,
संसार कारागार हुआ।

[बेला में संकलित]

छाये आकाश में…

छाये आकाश में काले - काले बादल देखे,
झोंके खाते हवा में सरसी के कमल देखे।

कानों में बातें बेला और जुही करती थीं,
नाचते मोर, झूमते हुए पीपल देखे।

दिल की बुझने के लिए नर्म-नर्म मिट्टी पर,
टूटते बाज जैसे लावों के दङ्गल देखे।

किसान खेतों मे लड़के अखाड़ो मे आये,
बारहमासी गाती हुई लड़कियो के दल देखे।

[वेला मे संकलित]

स्नेह की रागिनी बजी

स्नेह की रागिनी बजी
देह की सुर-बहार पर,
वर विलासिनी सजी
प्रिय के अश्रुहार पर।

नयन हो गये है वे
अयन जिनका खो गया,
सुख के शयन के लिए
आये हैं असि की धार पर।

ओस से धुल गयी कली,
रवि की आँख खुल गयी,
तरुण मूर्छना जगी
विश्व के तार-तार पर।

[बेला में संकलित]

अपने को दूसरा न देख

अपने को दूसरा न देख,
दूसरे को अपना न कह।
सपने को कल्पना न मान,
कल्पना को सपना न कह।

आँख की आन के लिए
आन की आँख से गुजर,
तपने को बैठना सही,
बैठने को तपना न कह।

जैसे हुबाब गाँठ बाँध,
जैसे गुलाब गाँठ खोल,
आँख के लगने मे सुघर
आँख का तू झपना न कह।

[बेला मे संकलित]

किरणें कैसी-कैसी फूटीं

किरणें कैसी - कैसी फूटी,
आँखें कैसी - कैसी तुली।
चिड़ियाँ कैसी - कैसी उड़ी,
पाँखे कैसी - कैसी खुली।

रङ्ग कैसे - कैसे बदले,
छाये कैसे - कैसे बादल,
बूंदें कैसी - कैसी पड़ी,
कलियाँ कैसी- कैसी धुली।

भाई - भतीजों के सङ्ग,
नैहर को आयी हुई,
सहेलियाँ कैसी - कैसी
बगीचों मे मिली - जुली।

कैसे - कैसे गोल बाँधे,
कैसे - कैसे गाने गाये
छडियों ऐसी कैसी - कैसी
कडियो मे हिली - डुली।

[बेला मे संकलित]

कहाँ की मित्रता...

कहाँ की मित्रता, वे हँसके बोले,
न कोई जब कि दिल की गाँठ खोले।

बुरा दुश्मन से है जो जी को भाया,
खरा काँटा कली की आँख तोले।

सफाई कट गयी है चाँद की भी,
जुही के उसने जो जोबन टटोले।

गयी पत देवतापति की कि उसने
प्रिया मीरा को विष के घूँट घोले।

[बेला में संकलित]

नये विचार के संसार में...

नये विचार के संसार मे आया है सभी।
सही, चढ़ाव को उतार से लाया है सभी।

पड़े थे पैरों-तले जो उन्हे किया है खड़ा,
शरीर कैसा कि रग-रग मे समाया है सभी।

शराब लोहे की ऐसी पिलायी है उसने,
कि चाँदी-सोने की भी आँखों को भाया है सभी।

तरङ्गें और बढ़ी और उमङ्गें और आयी,
जवानो, आज बुड्ढे-बुड्ढे पर छाया है सभी।

[बेला मे संकलित]

प्रभु के नयनों से निकले कर

प्रभु के नयनों से निकले कर
ज्योति के सहस्त्रो कोमल शर।

हर गये धरा के व्याध - शत्रु,
बह चली अमृत - जल की शतद्रु,
जीवन के मरु का छाया - तरु
लहराया, उत्कल - जल निर्झर।

पड़ती है किरणें मस्तक पर,
जग का सुख जैसे व्याकुलतर;
सामने दूर विस्तृत सागर
स्थिर है शान्ति का स्पर्श निर्जर।

चूमते कृपा का कर चलते,
नर बाते करते है छलते,
जग के जीवन से न सँभलते
इस तरु - पत्रों की पृथ्वी पर।

[बेला मे संकलित]

आये हो आस के…

आये हो आस के, देखते हो भरकर;
रङ्ग के रूप के, रहते हो हरकर।

सामने बैठे हो, दीपक जलता है;
प्रिया की जोत से जीवन चलता है;
छाये हो ऐ किसलय पतझर से झरकर।

जलधि में तरी चली है वेग से,
पवन मन्द - मन्द मिला है नेग से;
जीवन पाते हो जीवन से तरकर।

[बेला में संकलित]

फूल से चुन लिया…

फूल मे चुन लिया ज्योति का वर अमर;
घात से सुन लिया जीवन है नश्वर।

व्यर्थ उधेड़बुन, लक्ष्य पर आँखें हैं;
चलती है हवा, अचल पाँखें हैं;
खोल दिया हृदय, बहता है निर्झर।

गुनगुनाये जा, धुन सुनाये जा,
कल जो है मरना, तू कलपाये जा;
ताल से जो तुला, रहेगा स्वर सुघर।

आँखो मे आ गये, नभ पे छा गये;
सबको भा गये, खोया जो पा गये;
पाठ पुराना है, रहा सुनाना-भर।

[बेला मे संकलित]

बन्दीगृह वरण किया…

बन्दीगृह वरण किया; जनता के हृदय जिया।

बहिर्जगत के निर्मम हरने के लिए नियम
साधन कितना उत्तम किया, जला दिया दिया।

उसका निर्मल प्रकाश करता है तिमिरनाश,
नारी-नर ने सहास ज्योतिर्मय अमृत पिया।

गीत से ध्वनित अन्तर, फैला फेनिल कल स्वर,
सत्य का तरङ्ग-मुखर रहा सुघर वही जिया।

प्राणो मे परम स्पन्द, भाषा मे सुषम छन्द,
भरा चरण-गमन-मन्द जीवन विष-विषम-लिया।

[बेला में संकलित]

मन में आये संचित होकर···

मन मे आये संचित होकर,
हम जग के जीवन से रोकर।

भव के सागर के स्रोत प्रखर,
होते है नीचे से ऊपर,
कितनी भूमि के नेमि-प्रस्तर,
बेबस घबराये धो-धोकर।

मेघो से मँडलाये ऊपर,
छाये दिग्-देश-काल प्रान्तर;
गाये वज्र के घोरतर स्वर,
हो गये शून्य में लय खोकर।

बह गया युगों का अन्तराल,
ऋतुपुष्पों की शोभा सनाल,
ग्रह-उपग्रह के उन्मन विकाल
मग मे हम जागे है सोकर।

हटकर छटकटकर जो उत्कल
होती है भूमि, उपल - केवल,
जग के उर्वर मरु का कृषिफल
जीवन मे काटेंगे बोकर।

[बेला में संकलित]

बाहर मैं कर दिया गया हूँ।···

बाहर मैं कर दिया गया हूँ। भीतर, पर, भर दिया गया हूँ।

ऊपर वह वर्फ गली है, नीचे यह नदी चली है;
सख्त तने के ऊपर नर्म कली है;
इसी तरह हर दिया गया हूँ। बाहर मैं कर दिया गया हूँ।

आँखों पर पानी है लाज का, राग बजा अलग - अलग साज का;
भेद खुला सविता के किरण - व्याज का;
तभी सहज वर दिया गया हूँ। बाहर मैं कर दिया गया हूँ।

भीतर, वाहर; वाहर भीतर; देखा जव से, हुआ अनश्वर;
माया का साधन यह सस्वर;
ऐसे ही घर दिया गया हूँ। वाहर मैं कर दिया गया हूँ।

[वेला में संकलित]

आने-जाने से पहले···

आने-जाने से पहले, कैसे तुम दहले?

शायद अपमान किया किसी ने,
या तुमको जान लिया किसी ने,
अथवा आने न दिया किसी ने,
कैसे इस पर कोई रह ले?

हाथ मारते फिरें, कहाँ के है?
गफलत से वे घिरें, जहाँ के है;
अपनी तरणी तिरें, यहाँ के है;
इनसे जैसी चाहे, कह ले।

हमारा उसूल सभी को पसन्द,
हमारी गली न खुला कोई वन्द,
हमारी किताव का न टूटा छन्द,
कैसे फिर कोई यह सह ले?

[वेला मे संकलित]

सबसे तुम छुटे और···

सवसे तुम छुटे और आँखों पर आये,
फूलों के, सुघर-सुघर शाखों पर छाये।

तुम्हें न खो दे, मन में शङ्का की रेखा
उठती है आलस के बल, तुमने देखा;
वंसी के रजनी-दिन राग अलापे अनगिन;
छाया के मलिन-मलिन छल पर मडलाये।

पापों के शुद्धिकरण चारुचरण धोये,
तुम्ही अखिलवेश-वरण विश्व-शरण रोये,
रथ के पथ पर पैदल, अपनी अञ्जलि का जल
भिक्षा से ईश - कमल गन्ध - भरे भाये।

[बेला में संकलित]

मृत्यु है जहाँ…

मृत्यु है जहाँ, क्या वहाँ विजय ?
करती है क्षिति जीवन का क्षय।

सुख के उत्सव का चटुल रङ्ग,
जैसे जल पर पङ्कज विभङ्ग,
नभ के चरणों के तल मर्दित,
आलय से हो जाते है लय।

केशर शर, यह कलिका निषङ्ग,
भोग के नही साधन - प्रसङ्ग,
तरु की तरुणी के तीर तीक्ष्ण,
छूते चुभते है निःसंशय।

माया का सुन्दर बिछा जाल,
जो सरल वही देखा अराल,
जग की मिथ्या से छुटने को
सत्य भी सदा भ्रम है परिचय।

[बेला मे संकलित]

क्या दुःख, दूर कर दे बन्धन

क्या दुःख, दूर कर दे बन्धन,
यह पाशव पाश और क्रन्दन।

विष से जर्जर कर विषय, अनल
त्याग की जला निःशिख अचपल,
हो भस्म स्वार्थ के दुष्प्रसङ्ग,
देख ले विश्व यह अभिनन्दन।

यह देख दाव मे छिपी आग,
साधन घर्षण कर, जाग जाग,
मोह के तिमिर मे मिहिरसदृश
तू ज्योतिर्मय जन, कर वन्दन।

दीर्घता देहदेश की छोड,
मिथ्या अपनापन, मुँह मरोड़,
केवल चेतन तू जहाँ, वही
मेरा-तेरा तन-मन धन-जन।

[बेला मे संकलित]

तू कभी न ले दूसरी आड़

तू कभी न ले दूसरी आड़,
शत्रु को समर जीते पछाड।

सैकड़ों फलेंगे फूलेंगे,
जीवन ही जीवन भर देंगे,
झरने फूटेंगे उबलेंगे,
नर अगर कही तू बन पहाड़।

तेरी ही चोटी पर चढकर
देखेगे लोग दृश्य सुन्दर,
उतरेंगे रवि-शशि के शुचि कर,
नीचे से ऊँचा सर उभाड़।

हिम का किरीट होगा उज्वल,
बदलेंगे रङ्ग - पीठ प्रतिफल,
जल होगा जीवन का सम्बल,
पदतल शत सिंहों की दहाड़।

[बेला मे संकलित]

छला गया, किरनों का···

छला गया, किरनों का प्रकाश कैसे करे?
विरज नही, रज से रजत-हास कैसे करे?

सरोरुहों के उरोजों की चाल वल खाया
धवल - पुरी - पुर - परिसर विलास कैसे करे?

अवल . दशा, दवकर, रूप देखते रहते,
गिरते - गिरते गिरकर अट्टहास कैसे करे?

रहे प्रभास, मगर उच्छला कला, खरतर,
तरुण - नयन वय मे शर - निवास कैसे करे?

[बेला में संकलित]

वह चलने से तेरे···

वह चलने से तेरे छुटा जा रहा है।
इसी सोच से दम घुटा जा रहा है।

तेरे दिल की क़ीमत चुकाने से पहले,
तरह पानी की वह फुटा जा रहा है।

पता उसकी दुनिया का कैसे लगायें,
सितारे - सितारे टुटा जा रहा है।

यह क्या मौज है रूप से, रंग से भी,
लिये जा रहा है, लुटा जा रहा है।

ललककर किसी से कभी जो न लिपटा,
भरा धान जैसा कुटा जा रहा है।

[बेला में संकलित]

मुसीबत में कटे हैं दिन

मुसीबत में कटे हैं दिन,
मुसीबत में कटी रातें।
लगी हैं चाँद - सूरज से
निरन्तर राहु की घातें।

जो हस्ती से हुए हैं पस्त,
समझे हैं वही क्या है,
गुज़रती ज़िन्दगी के साथ
हरकत से भरी बातें।

कड़ाई से दबी है कोमला,
यह माजरा, सच है—
झपटने के लिए बलि पर
सिकुड़ती है बली आँतें।

सुखों की सोयी दुनियाँ में
जगी जो वह भी गफ़लत है,

कहाँ है गेह की बातें,
कहाँ है स्नेह की मातें।

[बेला मे संकलित]

नहीं देखे हैं पर केवल…

नही देखे है पर केवल, कवल से छूटते शर देखे।
अँधेरे में जगे है रात, दिन को कर-निकर देखे।

उतरती धूप से खुलकर कली की ओस से चमके
न चूमे बिम्ब विहगों के सुकेशा के अधर देखे।

जिन्होने ठोकरें खायी गरीबी में पड़े, उनके
हज़ारो-हा हज़ारों हाथ के उठते समर देखे।

गगन की ताकतें सोयी, जहाँ की हसरते रोयी,
निकलते प्राण बुलबुल के बगीचे मे अगर देखे।

अलख किरने अँधेरे के उपद्रव से निकलती है,
कृपा के जैसे कोमल कर नही देखे, मगर देखे।

नही झेली झिली ऋतु की प्रगति, हम देखते आये,
विजन देखे, विपिन देखे, बसे हँसते नगर देखे।

जमाते-रह गये लेकिन ज़माने को नही भाये
यहाँ कितने अजर देखे, वहाँ कितने अमर देखे।

पुराने घाट पर चढ़ता नया पानी बदलता है
निकलते शब्द जैसे निस्तला के सरवसर देखे।

[बेला में संकलित]

अगर तू डर से पीछे···

अगर तू डर से पीछे हट गया तो काम रहने दे।
अगर बढ़ना है और की ओर तो आराम रहने दे।

बिगड़कर बनते और बनकर बिगड़ते एक युग बीता,
परी और शाम रहने दे, शराब और जाम रहने दे।

अगर जर्रे को जर कर तू, बड़े मूजी को शर कर तू,
जमाने से बिगड़कर चलता हो वह नाम रहने दे।

न पड़ जाये तो क्या परदा; न गड़ जायें तो क्या आँखें,
धनी से काम होने को धनी का धाम रहने दे।

नज़ीरें क्या पुरानी दे रहा है, फैसला किसका?
पुराने दाम रहने दे, पुराने याम रहने दे।

[बेला में संकलित]

आँख के आँसू न शोले···

आँख के आँसू न शोले बन गये तो क्या हुआ?
काम के अवसर न गोले बन गये तो क्या हुआ?

जान लेने को जमी से आसमाँ जैसे बना,
काठ के ठोंके न पोले बन गये तो क्या हुआ?

पेच खाते रह गये गैरों के हाथों आज तक,
पेच में डालें, न चोले बन गये तो क्या हुआ?

नींद में जगकर बला की आफ़तों के सामने
जी से घबराये, न तोले बन गये तो क्या हुआ?

धार से निखरे हुए ऋतु के सुहाये बाग़ में
आम भरने के न झोले बन गये तो क्या हुआ ?

[बेला में संकलित]

भेद कुल खुल जाय वह

भेद कुल खुल जाय वह
सूरत हमारे दिल मे है।
देश को मिल जाय जो
पूँजी तुम्हारी मिल में है।

हार होंगे हृदय के
खुलकर सभी गाने नये,
हाथ मे आ जायगा
वह राज़ जो महफ़िल में है।

तर्स है यह, देर से
आँखें गड़ी शृङ्गार में,
और दिखलायी पड़ेगी
जो गुराई तिल मे है।

पेड़ टूटेंगे, हिलेंगे,
ज़ोर की आँधी चली,
हाथ मत डालो, हटाओ
पैर, बिच्छू बिल में है।

ताक़ पर है नमक-मिर्चा,
लोग बिगड़े या बने,
सीख क्या होगी परायी
जब पिसाई सिल में है।

[बेला में संकलित]

विजयी तुम्हारे दिशामुक्ति से प्राण

विजयी तुम्हारे दिशामुक्ति से प्राण।
मौन में मुखरतर फूटे अमर गान।

ताप से तरुण आकाश घहरा गया,
घनों में घुमड़कर भरा फिर स्वर नया,
विद्युत्-प्रभा कौंधती रही निर्भया,
सृष्टि ने सानन्द किया नव-जल-स्नान।

कार्य पर शक्ति पाकर सभी जन बढ़े,
अर्थ के गर्त में सर्प जैसे पढ़े
धनिक जन सजग होकर हुए हैं खड़े,
देश को दे रहे हैं देह - धन - मान।

[बेला में संकलित]

जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ…

जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ।

आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला,
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अँधेरे का ताला,
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ।

यहाँ जहाँ सेठ जी बैठे थे
बनिये की आँख दिखाते हुए,
उनके ऐंठाये ऐंठे थे
धोखे पर धोखा खाते हुए,
बैंक किसानों का खुलाओ।

सारी सम्पत्ति देश की हो,
सारी आपत्ति देश की बने,
जनता जातीय वेश की हो,
वाद से विवाद यह ठने,
काँटा काँटे से कढ़ाओ।

[बेला में संकलित]

राजे दिनकर जैसे

राजे दिनकर जैसे,
विचरे नर पृथ्वी पर,
सकल-सुकृत-भार-भरण
हुए, वरण लाजे।

ऋतु के सहकार तरुण
किसलय-दल-मञ्जरि-फल,
सुषमा-सुख-शील-नील
जल-कुवलय छाजे।

अनिला के छूते पल
हुए सकल सुमन चपल,
शुक-सारिक-पारावत
भ्रमरावलि गाजे।

वधू मधुर-गति यमुना-
जल लेकर चली, मिली
ललित अप्सरा अपरा-
जिता नयन राँजे।

[बेला में संकलित]

जग के, जय के, जीवन

जग के, जय के, जीवन,
शोभा के प्रतनु, प्रमन,
करुणायन, कोटि - मयन,
दीनो के दुरित - शमन।

गुञ्जित-कलि-माल-मधुर
शत-छवि-निन्दक - हरिदुर
गन्ध-मन्द - मोदित - पुर,
नन्दन - आनन्द - गमन।

शायित जन जगे सकल,
कला के खुले उत्पल,
निरत हुए विरत अकल,
विश्व के तरण - तारण।

[बेला मे संकलित]

प्रतिजन को करो सफल

प्रतिजन को करो सफल।
जीर्ण हुए जो यौवन,
जीवन से भरो सकल।

नही राजसिक तन - मन,
करो मुक्ति के बन्धन,
नन्दन के कुसुम - नयन
खोलो मृदु - गन्ध विमल।

जागरूक कलरव से
भरें दिशाएँ स्तव से,
सरसी के नव, नव से,
मुदे हुए खुलें कमल।

रँगे गगन, अन्तराल,
मनुजोचित उठे भाल,
छल का छुट जाय जाल,
देश मनाये मङ्गल।

[बेला में संकलित]

साधना आसन हुई संसार के व्यापार में

साधना आसन हुई ससार के व्यापार मे।
सत्य की अनवद्यता मे आ गये विस्तार में।

बात की आयी, उठी आँखें, न कोई सम दिखा,
तुल गये पथ पार करने पर नुकीले वार में।

कामना की किरन की तेजी मलिन पड़ती गयी,
सृष्टि का धन खुल गया, भूला अखिल के प्यार में।

सिन्धु उमड़ा पूर्णिमा के चन्द्र से जैसे, बढे,
स्रोत से सब धो गये आये हुए प्रस्तार में।

[बेला में संकलित]

तुमसे (मिले) मेरे प्राण गान के

तुमसे (मिले) मेरे प्राण गान के;
रचना के दल, रञ्जन - गीले,
गन्ध - भाव - फैले,
अमन्द छन्दों रखते डग,
तरलतर तान।

प्रिया साथ;
वीथियाँ विविध बातों से कटतीं,
खिले गुलाब-मिले,
कलि - कलि के अधर - सजे,
केशर के वेशों के वर वितान।

[वेला में संकलित]

अन्तस्तल से यदि की पुकार

अन्तस्तल से यदि की पुकार,
सब - सहते साहस से बढ़कर
आयेंगे, लेंगे भी उबार।

विज्ञान झुकायेगा आँखें;
वायुयान की पीछे पाँखें;
सुलझेंगी मन - मन की मार्खें;
ज्योतिर्जग का होगा सुधार।

सादा भोजन, ऊँचा जीवन
होगा चेतन का आश्वासन;
हिंसा को जीतेंगे, सज्जन;
सीधी कपिला होगी दुधार।

अपने ही पैरो ठहरेंगे;
अपनी ही गरजों घहरेंगे;
अपनी ही बूँदो छहरगे;
अपनी ही रिमझिम तू-तुकार।

छूटेगी जग की ठग-लीला;
होंगी आँखें अन्तःशीला;
होगा न किसी का मुँह पीला;
मिट जायेगा लेना उधार।

[बेला मे संकलित]

ऐंड़ ली…

ऐंड़ ली, तिरछी छवि की मान।
तम के अपर पार सजधजकर
आया ज्योतिर्यान।

हाथ मिलाकर साथ खिलाकर
देह हिलाकर स्नेह दिलाकर
बँध रहने के खुले हृदय से
उतरे सहज अजान।

छिपकर चलते - पग कपकपकर
जगते लोग रहे झपझपकर;
व्यर्थ गये अबतक के उनके
जितने भरे उठान।

[बेला मे सकलित]

आये नतवदन शरण

आये नतवदन शरण
जग के उद्धत जनगण।
कठिन समर के कारण
शत - शत वारण - वारण

गृह के खुल गये काज;
अपनो से मिटी लाज;
मङ्गल के साजे साज;
घुला, हुआ निर्मल मन।

अपने बाज़ार चले;
अपने अधिकार जले;
देश - विश्व मिले गले;
हुए परस्पर पावन।

[बेला में संकलित]

अति सुकृत भरे

अति सुकृत भरे
जो सहज करे,
जल-स्थल-नभ पर
निर्भय विचरे।

शशि से उतरे,
रस पर छहरे,
पत्तो मे ध्वज-
पताक फहरे,
आँखो मे हरियाली
लहरे,
जीवन रस की
प्याली ठहरे।

तरुणाई की
लपटें फूटें,
पापों के बढते
दिल टूटें,
इल्लत की सहज
लतें छूटें,
पहले की नम
धरती हहरे।

[बेला में संकलित]

सहज चाल चलो उधर

सहज चाल चलो उधर।
छिपा हुआ जाय उधर।

चांदी की हँसी हँसे जो, अपने आप फँसे;
बन्द - बन्द खुले, गँसे बन्धन के छन्द सुघर।

खुली हवा में जीवन वहे सदा निर्वेदन;
भरें सुमन-फल वन-वन; देश और हो सुन्दर।

एक-एक प्राण चलें जहाँ चराचर न मलें,
हाथ, आँख से न छलें मिले अनाकामित वर।

[बेला में संकलित]

आँख से आँख मिलाओ

आँख से आँख मिलाओ,
उनका डर छोड़ो।
पार करके नयी दुनिया
अपना घर छोड़ो।

नोक से काँटा निकाला है
जहाँ भी देखा;
काँटे से नोक निकल जाय,
काम कर छोड़ो।

आँसू की धार बहाते रहे;
अच्छा ही किया;
धार के आँसू बहाकर
अपने पर छोड़ो।

[बेला में संकलित]

वही राह देखता हूँ…

वही राह देखता हूँ, हँस - हँसकर;
आती है धूप, छाँह लस - लसकर।

किनने आते है, सुघराई छहराते हैं;
खुले हुए भावों के झण्डे फहराते हैं;
गली - गली गीत उन्ही के लहरे खाते हैं;
अपने बन जाते है बस - बसकर।

जड़ना तामस, संशय, भय, बाधा, अन्धकार,
दूर हुए दुर्दिन के दु.ख; खुले बन्द द्वार,
जीवन के उतरे कर; आँखों को दिखा सार;
छुई बीन नये तार कस - कसकर।

त्याग तप, व्रत की शिक्षा ली, सँभले जनगण;
पीठ न दी अरि को, निःशरण किया मृत्यु-वरण;
इसी भाव से आया जीवन का सिन्धु - तरण;
निकले मानव गृह से फँस - फँसकर।

[बेला मे संकलित]

बिना अमर हुए यहाँ काम न होगा

बिना अमर हुए यहाँ काम न होगा।
बिना पसीना आये नाम न होगा।

मुक्ति के गुलाब न चटकेंगे;
बढ - बढकर छन-छन अटकेंगे—
लोग सचाई को भटकेंगे,
धन के धारण का जब धाम न होगा।

चढा राग पिनपिन होगा जब,
तार क्षीण अनुदिन होगा तब;
मलिन मान अमलिन होगा जब
जनने को जनता का बाम न होगा।

[बेला मे सकलित]

साहस कभी न छोड़ा...

साहस कभी न छोड़ा, आगे कदम बढ़ाये।
पट्टी पढ़ी कब उनकी, झाँसे में हम कब आये ?
पानी पड़ा समय पर, पल्लव नवीन लहरे,
मौसम मे पेड़ जितने फूले नहीं समाये।
महकें तरह - तरह की, भौंरे तरह - तरह के,
बौरे हुए विटप से लिपटे, वसन्त गाये।
कलरव - भरे खगों के आवास - नीड़ सोहे;
मन साधिकार मोहे, कितने वितान छाये।
जिनसे फला हुआ है यह बाग क़ौम का, हम;
हमसे मिले हुए वे आये बसे, बसाये।
जो झुर्रियाँ पड़ी थी गालों पर आफतों की
उनको मिटा दिया है, रस के अधर हँसाये।

[बेला में संकलित]

किसकी तलाश में हो...

किसकी तलाश में हो इतने उतावले - से ?
दुनियाँ ने मुँह चुराया सायास बावले से।

खींचे बगैर नभ से झरता नही शिशिर - कण;
तेल आँच जब न खाया निकला कब आँवले से ?

बहुतों ने राह तै की, सँभले न पैर फिर भी;
जैसा दिखा था पहले, देखा न काँवले से।

आया मजा कि लाखों आँखों से दम घुटा है,
पटली है बैठने को गोरे की साँवले से।

[बेला में संकलित]

सारे दावपेच खुले...

सारे दावपेच खुले पेचीदगी आने पर।
यार गिरफ़्तार हुआ ख़ून के बहाने पर।

छिपी हुई बात खुली, जो न गये, जान गये,
आये, पीटा किये सिर, लाख-लाख पाने पर।

बेवमी के परदे पे खुला जमाने का रङ्ग,
लोगों मे प्रसिद्ध वही लापता है थाने पर।

भाप से जो पानी उडा, बादलो मे बरसा है,
आदमी का खोया हुआ रखा मालखाने पर।

इतना ही रहे बयाँ, कहाँ तक हो और बयाँ,
शाप को भी आना पड़ा पाप के न जाने पर

[बेला मे संकलित]

अगर समस्त-पदों का...

अगर समस्त-पदो का किसी को डर होता,
तो हाथ-पैरोवाला भी न कही सर होता।

कहाँ रहा है कौन खब्र ले आने के लिए
न घर होता, न नभ होता, न कबूतर होता।

कली न खिलती समीरण से खेलने के लिए,
न मन्द गन्ध मे कलेजा ताजा-तर होता।

चढ़े हुए जन ऐसे जग से न रूठे होते,
न हाथ बढ़ते, न गिरते, न आया बर होता।

होती अनहोनी एक बिगड़ी बात बन जाती,
जवानी चढ़ती, आँखो से उतरता ज़र होता।

[बेला मे सकलित]

माया की गोद…

माया की गोद, खेलता है चराचर तेरा;
न लगा हाथ, कैसा भर गया सागर तेरा।

रच गये तलवे, हथेलियाँ और नाखून कैसे,
आप लाली सुहायी ऐसा महावर तेरा।

भटके दर-दर, जिन्होंने सीधा रास्ता छोड़ा;
वल से पकड़ा है, तभी छलका है सागर तेरा।

उल्टे पैरों लौटे द्वैत छोड़ने के लिए,
देखी नगरी तेरी, रम गया नागर तेरा।

[बेला में संकलित]

यह जीने का संग्राम…

यह जीने का संग्राम करते हुए चले।
पहले के रहे दाम जो भरते हुए चले।

दम लेता कौन वार होते ही रहे जहाँ,
जीते हुए भी लोभ मे हरते हुए चले।

आया यही विचार कि यह कौन सजा है,
जो अमर हैं संसार में मरते हुए चले।

किस्सा सुनाने को हुए तो वोले, दरकिनार;
हम डूबे पारावार में तरते हुए चले।

ऐसा मिला है शाप कि ये बड़े आदमी
कहलाते हुए, आपसे डरते हुए चले।

[बेला मे संकलित]

मन हमारा मग्न दुख की

मन हमारा मग्न दुख की
दुर्धरा मे हो गया।
कुछ न था तव लग्न वह
विश्वम्भरा मे हो गया।

इन्द्र के अनुचर घनों ने,
प्रलय की, तो डूबकर
जन्म पाया जलधि मे,
फिर अप्सरा मे हो गया।

गीत गाये घुमड़कर
घन मे मगर घातक वना
प्रथम अपना, मोह जव
मेघाम्वरा मे हो गया।

कप्ट पाये वहुत यों
गमनागमन से, तव कही
ऋपि अगस्त्य वना, अलौकिक
निष्करा मे हो गया।

विश्व को वैपयिकता से
सीख देने के लिए
देह छोडी स्नेह से
ज्योतिस्सरा मे हो गया।

[वेला मे संकलित]

तुम हो गतिवान जहाँ

तुम हो गतिवान जहाँ,
तुमको पृथ्वी पर जल,
फलदल, गोदुग्ध धवल,
मिले खेत, खान, धान।

तापस के वेश रहे
कहे कौन क्या देखे
योग से वही यमुना
अथवा गङ्गा, महान।

उगा दूसरा ही रवि
अब के कवि ने देखा,
बचने से चले हाथ,
साथ पड़ी छुटी बान।

[बेला में सकलित]

उन्हें न देखूँगा जीवन में

उन्हें न देखूँगा जीवन मे।
तुम्ही मिले, भरा रहे मन मे।

जग के कामों में,
राहों मे, ग्रामों मे,
झोंपड़ियो में या धवल धामो मे
तुम्ही बँधी-मूठोंवाले जन मे।

गली-गली हाथ पसारे
फिरते है जो मारे-मारे
भिन्न-भिन्न भाव के किनारे,
तुम्हारे न हुए कभी धन मे।

धूल जहाँ सोने की,
गयी बात रोने की,
खुली जिन्दगी सुख होने की,
तनुता बढ़कर आयी तन में।

[बेला में संकलित]

अहरह तुम्हारे न जो प्राण, हारे

अहरह तुम्हारे न जो प्राण, हारे।

धूल उन पर पड़ी,
गयी सुख की घड़ी,
टूटी सजी कड़ी, छूटे सहारे।

रंग उनका उड़ा,
कलुष आकार जुडा,
सत्य से जो मुड़ा, मन रहे मारे।

रह गये वे दास
निष्फल निराश्वास
रुक गया उच्छ्वास तट के किनारे।

[बेला मे संकलित]

कैसी यह हवा चली...

कैसी यह हवा चली। तरु-तरु की खिली कली।

लगने को कामों मे जगे लोग धामों मे,
ग्रामो ग्रामों मे चल पड़े बड़े-बड़े बली।

जान गये जान गयी, खुली जो लगी क़लई,
उठे मसुरिया, बलई भगे बड़े - बड़े छली।

अपना जीवन आया, गयी परायी छाया,
फूटी काया - काया, गूँज उठी गली - गली।

[बेला में सकलित]

थोड़ों के पेटे में बहुतों को आना पड़ा

धूहो और गुफाओ और पत्थरों के घरो से
आजकल के शहरों तक, दुनियाँ ने चोली बदली।
विजली और तार और भाप और वायुयान
उसके वाहन हुए।
जान खीची खानो से
कल और कारखानों से।
रामराज के पहले के दिन आये।
बानिज के राज ने लक्ष्मी को हर लिया।
टापू में ले चलकर रखा और क़ैद किया।
एक का डंका बजा,
बहुतो की आँख झपी।
लहलही धरती पर रेगिस्तान जैसा तपा।
जोत मे जल छिपा,
धोखा छिपा, छल छिपा।
बदले दिमाग बढ़े,
ग़ोल बाँधे, घेरे डाले,
अपना मतलब गाँठा,
फिर आँखे फेर ली।
जाल भी ऐसा चला।
कि थोड़ो के पेटे मे बहुतो को आना पड़ा।

[नये पत्ते में संकलित]

राजे ने अपनी रखवाली की

राजे ने अपनी रखवाली की;
क़िला बनाकर रहा;
बड़ी - बड़ी फ़ौजें रखीं।
चापलूस कितने सामन्त आये।
मतलब की लकड़ी पकड़े हुए।

कितने ब्राह्मण आये
पोथियो मे जनता को बाँधे हुए।
कवियों ने उसकी बहादुरी के गीत गाये,
लेखको ने लेख लिखे,
ऐतिहासिको ने इतिहासों के पन्ने भरे,
नाट्यकलाकारो ने कितने नाटक रचे,
रङ्गमञ्च पर खेले।
जनता पर जादू चला राजे के समाज का।
लोक-नारियो के लिए रानियाँ आदर्श हुईं।
धर्म का बढ़ावा रहा धोखे से भरा हुआ।
लोहा बजा धर्म पर, सभ्यता के नाम पर।
खून की नदी बही।
आँख-कान मूदकर जनता ने डुबकियाँ ली।
आँख खुली—राजे ने अपनी रखवाली की।

[नये पत्ते मे संकलित]

दशा की

चेहरा पीला पड़ा।
रीड झुकी। हाथ जोड़े।
आँख का अँधेरा बढ़ा।
सैकड़ो सदियाँ गुज़री।
बड़े-बडे ऋषि आये, मुनि आये, कवि आये,
तरह-तरह की वाणी जनता को दे गये।
किसी ने कहा कि एक तीन है,
किसी ने कहा कि तीन तीन है।
किसी ने नसें टोईं, किसी ने कमल देखे।
किसी ने विहार किया, किसी ने अँगूठे चूमे।
लोगो ने कहा कि धन्य हो गये।
मगर खँजड़ी न गयी।
मृदङ्ग तबला हुआ,
वीणा सुर-बहार हुई।
आज पियानो के गीत सुनते है।

पौ फटी।
किरनों का जाल फैला।
दिशाओं के होंठ रँगे
दिन मे, वेश्याएँ जैसे रात मे।
दगा की इस सभ्यता ने दग़ा की।

[नये पत्ते में संकलित]

चर्ख़ा चला

वेदो का चर्ख़ा चला,
सदियाँ गुजरी।
लोग-वाग बसने लगे,
फिर भी चलते रहे।
गुफ़ाओं से घर उठाये।
ऊँचे से नीचे उतरे।
भेड़ो से गायें रखी।
जंगल से बाग़ और उपवन तैयार किये।
खुली ज़बाँ बँधने लगी।
वैदिक से सँवर-दी भाषा संस्कृत हुई।
नियम बने, शुद्ध रूप लाये गये,
अथवा जंगली सभ्य हुए वेशवास से।
कडे कोस ऐसे कटे।
खोज हुई, सुख के साधन बढ़े—
जैसे उवटन से साबुन।

वेदो के बाद जाति चार भागो में बँटी,
यही रामराज है।
वाल्मीकि ने पहले वेदों की लीक छोडी,
छन्दों मे गीत रचे, मन्त्रों को छोड़कर,
मानव को मान दिया,
धरती की प्यारी लड़की सीता के गाने गाये।

कली ज्योति मे खिली
मिट्टी से चढ़ती हुई।
"वर्जिन स्वैल", "गूड अर्थ", अव के परिणाम है।
कृष्ण ने भी ज़मीपकड़ी,
इन्द्र की पूजा की जगह
गोवर्धन को पुजाया;
मानवो को, गायो और वैलो को मान दिया।

हल को वलदेव ने हथियार बनाया,
कन्धे पर डाले फिरे।
खेती हरी - भरी हुई।
यहाँ तक पहुँचते अभी दुनियाँ को देर है।

[नये पत्ते मे संकलित]

तारे गिनते रहे

राज-चेतना की राह रोककर
लोग खड़े हुए, कामयाव हुए।
दुश्मनो के पैर न जमने दिये।
आपस मे मिले रहे, ज़वाँदराज़ी न की।
लोक की, समाज की लाज रखी,
वढ़े चले।
    राज मे वेकारो की आखिरी साँसें रही।
    ज़मीदार चाँद-जैसे कर के लिए लगे रहे
    देश के आकाश पर,
    कपड़े की ज़मी पर।
    दूसरे प्रकाश के लिए जैसे चोला पाया।
    मेह जैसे तने रहे,
    टपके भी, वरसे भी।
वालों के नीचे पड़ी जनता वलतोड़ हुई।
माल के दलाल ये वैश्य हुए देश के।
सागर भरा हुआ,
लहरो से वहले रहे;

वानिज की राह खोयी।
किरनें समन्दर पर कैसी पडती दिखी !
लहरो के झूले झूले,
कितना विहार किया कानूनी पानी पर;
बंधे भी खुले रहे।
रात आकाश के तारे गिनते रहे !

[नये पत्ते में संकलित]

कुत्ता भौंकने लगा

आज ठण्ढक अधिक है।
बाहर ओले पड़ चुके हैं,
एक हफ्ते पहले पाला पडा था—
अरहर कुल-की-कुल मर चुकी थी,
हवा हाड़ तक वेध जाती है,
गेहूँ के पेड़ ऐंठे खड़े है,
खेतिहरों मे जान नही,
मन मारे दरवाज़े कौडे ताप रहे है
एक दूसरे से गिरे गले बातें करते हुए,
कुहरा छाया हुआ।
ऊपर से हवाबाज़ उड़ गया।
ज़मीदार का सिपाही लट्ठ कन्धे पर डाले
आया और लोगो की ओर देखकर कहा,
"डेरे पर थानेदार आये हैं;
डिप्टी साहब ने चन्दा लगाया है,
एक हफ्ते के अन्दर देना है।
चलो, बात दे आओ।"
कौडे से कुछ हटकर
लोगों के साथ कुत्ता खेतिहर का बैठा था,
चलते सिपाही को देखकर खड़ा हुआ,
और भौकने लगा,
करुणा से बन्धु खेतिहर को देख-देखकर।

[नये पत्ते मे सकलित]

गान्धीवादी आये,
कांग्रेसमैन टेढ़े के;
देर तक, गान्धीवाद क्या है, समझाते रहे।
देश की भक्ति से,
निर्विरोध शक्ति से,
राज अपना होगा;
जमींदार, साहूकार अपने कहलायेंगे
शासन की सत्ता हिल जायगी;
हिन्दू और मुसलमान
वैरभाव भूलकर जल्द गले लगेंगे,
जितने उत्पात हैं,
    नौकरों के लिए हुए;
    जब तक इनका कोई
    एक आदमी भी होगा,
    चून नहीं बैठने को।
इस प्रकार जब बयार चलती थी,
जमींदार का गोड़इत
दोनाली लिये हुए
एक खेत फ़ासले से
गोली चलाने लगा।
भीड़ भगने लगी।
कान्स्टेबल खड़ा हुआ ताकता रहा।
    झींगुर ने कहा,
    "चूंकि हम किसान-सभा के,
    भाईजी के मददगार
    जमींदार ने गोली चलवायी
    पुलिस के हुक्म की तामीली की।
    ऐसा यह पेच है।"

[नये पत्ते में संकलित]

देवी सरस्वती

मानव का मन विश्वजलधि,
आत्मा सित शतदल,
विकच दलों पर अधर
सुहाये सुघर चरणतल;
वीणा दो हाथों में,
दो में पुस्तक, नीरज;
जादू के जीवन के
शोभन स्वर, जैसे स्रज्।
नील वसन, शुभ्रतर
ज्योति से खिला हुआ तन,
एक तार से मिला
चराचर से शाश्वत मन।
हंस चरणतल तैर रहा है
लघूर्मियों पर,
सुनता हुआ तीव्र - मृदु
झंकृत वीणा के स्वर।
सामगीत गाये आर्यों ने
तुम्हें मानकर,
किया समाहित चित्त
ज्ञान - धन तुम्हें जानकर।
एक तुम्हारी अर्चा
सहज ऋचाओ से की,
चरणों पर पुष्पो की
माला की अञ्जलि दी।
सरल, निरङ्कुश देवी तुम
आर्यों की, विमले,
कौन विश्व मे जो
सकाम जीवन मे कम ले ?
शुभ्रे, कुल रङ्गों की,
रागों की, शब्दों की,
नित्यनवीना हो
वन्दित यद्यपि अब्दो की।

ऋतु के पुष्प
भिन्न गन्धों से बना दिये हैं
जग के दुख के मुरझाये मुख
हँसा दिये हैं।

तुम वर्षा हो,
हार बलाकाओं की पाँतें;
वन की शाखा की
पत्तों से टपकीं आँखें;
उतराईं सरिताएँ;
मोर तटों पर नाचे;
गुञ्जित-अलि-कलि-गन्ध छोर
अवनी के आँचे;
झूले हँसी-हिंडोले,
सावन के, भादों के;
वासनाओं ने स्रोत
बहाये सङ्गीतों के;
घन-मृदङ्ग-वादन
विद्युत के करों निपुणतर;
नृत्य परी का जैसे
अर्जुन से अर्जन पर;
जल तरङ्ग; खग-कुल-कलरव
बोल के मधुर स्वर,
दृश्यावली सुघर;
दर्शक-दर्शिका मनोहर;
जग के सर से
सरस्वती शत-शत रूपों की
निकली क्षिप्र-मन्द-गति,
रङ्गों की, भूपों की।
बीजों से जैसे अङ्कुर,
अङ्कुर से पल्लव,
पल्लव से शाखा, शाखा से,
द्रुम, द्रुम से नव
पुष्प और फल
ऐसे बढ़े धान खेतों में

जल पर हरे रेत जैसे,
ज्वारी नेतों में।
अरहर, काकुन, सावाँ,
उड़द और कोदो की
खेती लहरायी।
बन आयी है आमो की।
निकले कमल सरो मे
और करँवुए लहरे;
आये खग; ऊँचे-ऊँचे
पेड़ों पर ठहरे।
खेत निराती हैं बालाएँ
लिये खुरपियाँ
गाती बारहमासी
सावन और कजलियाँ।
जुही मुस्करायी। नागन
बलखायी आयी
मन्द गन्ध से पुरवाई
डस गयी सुहायी।

शरत् पङ्कजों से,
खञ्जन - नयनों से प्रेक्षण,
हरसिंगार के हार
विश्व के द्वार प्रतीक्षण,
नमित शालि से भरी हुई,
सुन्दर - वन - वसना,
श्वेत - शशि - मुखी,
जगती पर मधुराधर-हसना।
कृषकों की आशा से,
श्रम से जीवन - सम्बल,
घन से, धारा से, धान्य से,
धरा का कृषि - फल।
सिमटा पानी खेतों का;
ओठ पर चले हल;
पाँसे खेत, किये जो गये
जोतकर मखमल।

डाले बीज चने के, जौ के
और मटर के,
गेहूँ के, अलसी - राई -
सरसों के, कर में।
ऐसे वाह - वाह की वीणा
बजी सुहायी,
पौधों की रागिनी सजीव
सजी सुखदाई।
सुख के आँसू दुखी
किसानों की जाया के
भर आये आँखों में
खेती की माया से।
हरीभरी खेतों की
सरस्वती लहरायी,
मग्न किसानों के घर
उन्मद बजी बधाई।
खुली चाँदनी में डफ
और मजीरे लेकर
बैठे गोल बाँधकर
लोग बिछे खेसों पर,
गाने लगे भजन कबीर के,
तुलसिदास के
धनुषभङ्ग के और राम के
बनोवास के।
कतकी में गङ्गा-नहान की
बढ़ी उमङ्गें,
सजी गाड़ियाँ, चले लोग,
मन चढ़ती चङ्गे।
मेले में, खेती के
कुछ सामान खरीदे,
देखे हाथी - घोड़े - रत्ने,
लौटे सीधे।

कुन्दों के विकास के
शुभ्र हास पर उतरीं

ओस - बिन्दुओं से शीतल
हेमन्त की परी,
भू की तुम्हीं हरित नभ पर
हो श्वेत मञ्जरी,
मन्द - गन्ध - सञ्चरिता
शीता, ऋता, किन्नरी।
बाग-बाग, बन-बन रन की
सुगन्ध - मद पीकर
झूम रही हो हिम - शीकर
पल्लव - पल्लव पर
स्निग्ध पवन में;
शस्य-शीर्ष से उठी हुई तुम
मटर-पुष्प के सौरभ-धन से,
लुटी हुई तुम,
सरसों के पीले पुष्पो की
साड़ी पहने,
अलसी के नीले फूलों की
रेखा जिसमे।

प्रखर शीत के शर से
जग को वेधा तुमने,
हरीतिमा के पत्र - पत्र को
छेदा तुमने।
शीर्ण हुईं सरिताएँ;
साधारण जन ठिठुरे;
रहे घरों में जैसे हों,
बागों में गिठुरे।
छिना हुआ धन, जिससे
आधे नही वसन तन,
आग तापकर
पार कर रहे है गृह-जीवन।
उनको दिखा रही हो,
तारे टूट रहे है।
पत्तों के, डाल के
सहारे छूट रहे है।

जीवन फिर दूसरा
उन्हें पल्लवित करेगा,
किसी अस्त्र से
अन्न-वस्त्र के दुःख हरेगा।
ज़मीदार की बनी,
महाजन धनी हुए है,
जग के मूर्त पिशाच
धूर्तगण गनी हुए है।
विश्वरूपिणी तुम हो,
तुम्हें मूर्ति मे रचकर
पूजा की वसन्त के दिन
दीनता - विकच - कर,
गीत और वाद्य से
बड़ी सामाजिकता की,
फूलो की अञ्जलि दी,
गङ्गा की सिकता की
वेदी रची, मन्त्र पढकर
घृत - यव लेकर कर
किया स्वस्त्ययन, हवन,
विसर्जन अन्तिम सुन्दर।

नव पल्लविन वसन्त
धरा पर आया सुखकर।
फूटी तुम नव-किसलय-दल से
वृन्त - वृन्त पर।
कूजित पिक-उर-मधुर कण्ठ;
कुण्ठा सब टूटी;
मुक्त समीरण से धीरता
धरा की छूटी।
पके खेत, सोने के
जैसे अञ्चल लहरे,
नव मनोज के मनोभाव
लोगो मे घहरे।
प्रतिसन्ध्या समवेत हुए
ग्रामीण सभ्यजन

ढोलक और मजीरे पर
करते हैं गायन;
फाग हो रहा, उठा रहे है
धुन धमार की
होली, चैती, लेज,
गा रहे है सवाँर की।
बौरे आमो की सुगन्ध
धरती पर छायी,
नये वर्ष का हर्ष भरा,
चाँदनी सुहायी।
रबी कटी आम के तले
खलिहान लगाया,
चना, मटर, जौ, गेहूँ, सरसो
कटकर आया।
पड़ी चारपाई, जिस पर
बैठा तकवाहा
चूल्हा वही कही लगवाया
जिसने चाहा
ज़रा दूर मेड़ के किनारे,
जैसे बस्ती
बसी, लगे खलिहान,
सुवेशा जैसे मस्ती।

ग्रीष्म तापमय, लू की
लपटों की दोपहरी
झुलसाती किरणों की,
वर्षो की आ ठहरी,
तुम हो शीतल कूप-सलिल,
जामुन - छाया - तल,
लदे आम के बागों से
जीवन का सम्बल।
गेहूँ, चने, मटर, मड़कर
घर आये अतिशय
दिखा ग्राम मे जहाँ नही
साधन या सञ्चय;

नहीं दीक्षा जन-समाज की,
नहीं प्रीतिकर
शासन, समाराधना
वहीं और भी दुस्तर।
शहरों की बिजली से
झुलसी जनता की रट,
उठते कदमों की,
भगती तेज़ी से सरपट,
रुद्र ताल की, भैरव जैसी,
रण की छाया,
नाच रही हो भिन्न जगत् की,
जैसे काया।
हर चक्र के विवर्तन से
वर्ष का जन्म कल
उगा रहा है गति के
क्रम-उपक्रम का शतदल;
ऊपर तुम नीलाम्बर-
आभा मे सित तन्वी
सायक चढ़ी हुई हो
जनता का जी धन्वी।
वाल्मीकि का क्रौञ्च-मिथुन;
व्यास का जन्म-फल;
कालिदास की दशा;
हर्ष का मर्पण उत्कल;
नवालोक मञ्जुलतर;
वकुलों से जैसे तुम
टूटीं शब्द-शब्द पर
छन्द-छन्द पर, कुंकुम
उड़ते हैं पराग,
झङ्कारी अन्तस्तल से,
जीवन की वीणा के
तारों के मङ्गल से।
राग-रङ्ग की रामायण
दुख की गाथा से
पूरी हुई; सँभाले
जैसे स्वर भाषा के

अधिक मनोहर, वीरजाति के
चित्र सुघरतर
वृहद्रूप से खिले हुए,
मृदु-मृदु वल्कल पर
खिली सभ्यता।
महाभारतीया कुछ बदली,
जैसे भिन्न रूप की,
भिन्न गन्ध की कदली,
सीता और द्रौपदी,
अर्जुन और राम से,
एक और बहु पतियों के
व्रत और काम से।
भारत की प्रान्तीय
सभ्यता का आलेखन,
राजनीति का जीवन,
जगती का सम्मोहन।
श्री-समृद्धि का कालिदास में
अमृतास्वादन,
साहित्यिकता में
धार्मिकता का सम्वादन।
हर्ष प्रौढ़ता की पीढ़ी,
कविकम्बु स्वयम्भू,
रामायण के मौलिक,
प्राकृत - शम्भु - स्वयम्भू—
भिन्न रूप की राम-कथा के
कविर्मनीषी,
श्रीतुलसी तक सहस्राब्दि के
रविर्मनीषी।
उसी छन्द मे उसी प्रकार
किया है अन्तर
तुलसिदास ने महाकाव्य
लिखकर मन्वन्तर,
भक्ति - भावना से रचना
आलोक - समन्वित
हुई उसी स्वाधीन
चेतना से उत्कल - चित।

सूरदास के गीत,
रसों के स्रोत निरन्तर,
फूटी सरिताएँ,
उमड़ा शशधर से सागर।
मीरा की मानसी
गीतिका सहृदयता की
छवि से भरी हुई
निरवधि कलियो की राखी।
ज्ञानालोक विकीर्ण हुआ
कबीर से, निर्झर
फूटे कितने, ज्ञानदास के,
दादू के स्वर।
तुम्ही चिरन्तन जीवन की
उन्नायक, भविता,
छवि विश्व की मोहिनी,
कवि की सनयन कविता।

[नये पत्ते मे संकलित]

युगावतार परमहंस श्रीरामकृष्णदेव के प्रति

पराधीन भारत की प्रज्ञा
क्षीण हुई जब,
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, वर्णत्रय
पश्चिम मे गत,
जागे पराशक्ति के वैभव
स्वप्रकाश तब,
आरपार के, विना तार के
नाद अनाहत।
हे समृद्ध, वहुविध साधन से
सिद्ध हुए तुम,
अक्षर विविध रूप के, एक
विन्दु मे अवसित;

अनायास हे, स्नेह - पाश से
विद्ध हुए तुम,
अरचित, रुचि की रचनाओं मे
हुए समाहित।
अभिनन्दन के नूतन
वन्दनवार बने तुम,
तरुणों के उच्छ्वास करों से
उत्थित होकर,
जैसे बादल में विद्युत्,
व्यञ्जना घने तुम,
खोयी सृष्टि सकल
नव - जल - धारा में रोकर।
फिर नूतन प्रभात में
नूतन कर से आये,
ज्योतिर्मय, फिर हँसकर
दिङ्मण्डल पर छाये।

[**नये पत्ते** में संकलित]

छलाँग मारता चला गया

ज़मीदार के सिपाही की
लाठी का गूला, लोहाबँधा,
दरवाज़े गढ़ा कर जाता है।
लोगों के सर
जैसे ढाल देखती आँखों के नीचे गड़े हो।
निगह कभी भले-भले
उठने न देनेवाली।
हाथ-पैर किसी तरह मानकर नही चले।
अगर किसी जोत या बाग़ की मेड़ को
छूता भी पेड़ हो,
बढ़ा हो किसान भी अधिकार के लिए

भूला उस पेड़ के
तने पर रखकर वह
उठ-उठकर देखता है।
आँखों में उस अवसर पर,
धुन्धी छा जाती है,
आदमी जैसे कमान,
बन जाता है किसान।
सामाजिक और राजनीतिक सहारे कुल
छूटकर भग जाते हैं।
धर्म-कर्म, लोग-जन
जान पर खेलते हैं।
राक्षस विशालकाय
आध्यात्मिक नसों का
खून चूसता हुआ।
पास का मेढक थाले के पानी से उठकर
मूत-मूतकर छलाँग मारता चला गया।

[नये पत्ते में संकलित]

डिप्टी साहब आये

बदलू अहिर के दरवाज़े भीड़ है।
गोड़इत कह रहा है,
"ऐसे-वैसे नहीं हैं,
डिप्टी साहब बहादुर तशरीफ़ ले आये हैं।"
डरकर दबकर बदलू गोड़इत को देखता है।
फिर खँखारकर सारे गाँव को गुंजाता हुआ
गोड़इत कह रहा है,
"अहिर के मूसर, ये दई के दूसर हैं,
इनसे एक घाट में भेड़ और भेड़िये
बिना वैरभाव के पानी पी रहे हैं।
इनके साथ और अफ़सरान हैं,
जैसे दारोगाजी,
बीस सेर दूध दोनों घड़ों में जल्द भर।"

"अरे भाई, सुन तो लो," वदलू कह रहा है,
"हम भी देख रहे है, लछमिन का बाग़ है,
ज़मीदार अमले है, वनजर कह रहे है,
लछमिन को कहते है,
दोगली लड़की है,
सारा गाँव जानता है,
रघुवर की कोई नही।
इसीलिए आये है।
तुम भी कुछ कहोगे ?"
"जानता नही है वे,"
गोड़इत ने पैर रोपा,
"ज़मींदार के है हम,
मालिक का भला जहाँ वहाँ है हमारा भला।"
जमकर वदलू ने वदमाश को देखा, फिर
उठा क्रोध से भरकर
और एक घूँसा तानकर नाक पर दिया।
गोड़इत प्रेमीजन था,
ज़मी चूमने लगा।
तव तक वदलू के कुल तरफ़दार आ गये—
मन्नी कुम्हार, कुल्ली तेली, भकुआ चमार,
लुच्छू नाई, वली कहार, कुल टूट पड़े,
कुछ नही हुआ, कुछ नही हुआ, होने लगा।
वदल गया रावरङ्ग,
सव लोग सत्य कहने के लिए तुल गये।
तव तक सिपाही थानेदार के भेजे हुए
आये और दाम दे-देकर माल ले गये।
सारा गाँव वाग की गवाही मे वदल गया,
सही-सही बात कही।

[नये पत्ते में संकलित]

वर्षा

घने-घने वादल है,
एक ओर गड़गड़ाते;
पुरवाई चलती है;
जुही फूलो से भरी;
दूर तक हरियाली ज्वार की, अरहर की,
सन, मूग, उड़द और
धानो के हरे खेत;
दूर के पहाड़ो की और घनी नीलिमा;
तालों मे करँवुए;
कोकनद खिले हुए;
ढोर चरते हुए;
कही हिरनों का झुण्ड;
आम पकते हुए;
वागों मे लगी भीड़
मर्दों की औरतो की,
वच्चों की, वुड्ढो की;
आम वीन-वीनकर
पंजों वाँटते हुए
आमों के हिस्सेदार
गाँव-गाँव के किसान।
खाने को एक-एक हिस्सा लिये हुए
जमीदार लोगों से।
नाले वहते हुए,
नदियाँ तराई लिये।
घने कास उगे हुए।
युवक अखाड़ों मे और ज़ोर करते हुए।
देश के प्रतीक सभी,
देश की भलाई की वातें सोचकर करते।

['नया साहित्य', वम्बई, अंक 4, 1946 ई. (पूर्वार्ध)। **नये पत्ते में संकलित**]

आजकल पण्डितजी देश मे बिराजते है।
माताजी को स्वीजरलैण्ड के अस्पताल,
तपेदिक़ के इलाज के लिए छोड़ा है।
वड़े भारी नेता है।
कुइरीपुर गॉव मे व्याख्यान देने को
आये हैं मोटर पर
लण्डन के ग्रैज्युएट,
एम. ए. और बैरिस्टर,
वड़े वाप के वेटे,
वीसियों भी पर्तों के अन्दर, खुले हुए।
एक-एक पर्त वड़े-वड़े विलायती लोग।
देश की भी वड़ी-वड़ी थातियाँ लिये हुए।
राजों के वाजू पकड़, वाप की वकालत से;
कुर्सी रखनेवाले अनुल्लंघ्य विद्या से
देशी जनों के वीच;
लेड़ी ज़मींदारों को आँखों तले रक्खे हुए;
मिलों के मुनाफ़े खानेवालों के अभिन्न मित्र;
देश के किसानों, मजदूरो के भी अपने सगे
विलायती राष्ट्र से समझौते के लिए।
गले का चढाव बोर्झुआज़ी का नही गया।
धाक, रूस के वल से ढीली भी, जमी हुई;
आँख पर वही पानी;
स्वर पर वही सँवार।
गाँव के अधिक जन कुली या किसान है;
कुछ पुराने परजे जैसे धोवी, तेली, वढ़ई,
नाई, लोहार, वारी, तरकिहार, चुड़िहार,
वेहना, कुम्हार, डोम, कुइरी, पासी, चमार,
गङ्गापुत्र, पुरोहित, महाब्राह्मण, चौकीदार;
कामकाज, दीवाली-जैसे परवों के दिन
मनों ले जानेवाले पिछली परिपाटी से;
हुए, मरे, व्याह में दीवाला लाते हुए
जमींदार के वाहन।

वाकी परदेश मे कौड़ियो के नौकर है
महाजनो के दवैल,
स्वत्व वेचकर विदेशी माल वेचनेवाले;
शहरो के सभासद।
ऐसे ही प्रकार के प्राकार से घिरे
लोगो में भाषण है।
जव भी अफ़ीम, भाँग, गाँजा, चरस, चण्डू, चाय,
देशी और विलायती तरह-तरह की शराव
चलती है मुल्क में,
फिर भी आज़ादी की हाँक का नशा वड़ा;
लोगो पर चढता है।
विपत्तियाँ कई है घूस और डण्डे की;
उनसे वचने के लिए
रास्ता निकाला है, सभाओ मे आते है
गाँवों के लोग कुल।
एक-एक आ गये।
पण्डितजी काग्रेस के चुनाव पर वोले·
आज़ादी लेते है, एक साल और है,
आततायियो से देश पिस-पिसकर मिट गया;
हमको वढ जाना है;
चैन नही लेना है जव तक विजयी न हो।
जनता मन्त्रमुग्ध हुई।
ज़मीदार भी वोले जेल हो-आनेवाले,
कांग्रेस-उम्मीदवार। सभा विसर्जित हुई।
महगू सुनता रहा।
कम्पू को लादता है लकड़ी, कोयला, चपड़ा।
लुकुआ ने महगू से पूछा, 'क्यों हो महगू, कुछ
अपनी तो राय दो?
आजकल, कहते है, ये भी अपने नहीं?"
"महगू ने कहा, हाँ, कम्पू में किरिया के
गोली जो लगी थी,
उसका कारण पण्डितजी का शागिर्द है;
रामदास को कांग्रेसमैन वनानेवाला,
जो मिल का मालिक है।
यहाँ भी वह ज़मीदार, वाजू से लगा ही है।
कहते है, इनके रुपये से ये चलते है,

कभी-कभी लाखों पर हाथ साफ़ करते हैं।"
लुकुआ घवरा गया। "भला फिर हम कहाँ जायँ ?"
महगू से प्रश्न किया।
महगू ने कहा, "एक उड़ी खवर सुनी है,
हमारे अपने हैं यहाँ वहुत छिपे हुए लोग,
मगर चूंकि अभी ढीला-पोली है देश मे,
अखवार व्यापारियो ही की सम्पत्ति है,
राजनीति कड़ी से भी कड़ी चल रही है,
वे सव जन मौन है इन्हे देखते हुए;
जव ये कुछ उठेंगे,
और वड़े त्याग के निमित्त कमर वाँधेंगे,
आयेंगे वे जन भी देश के धरातल पर,
अभी अखवार उनके नाम नही छापते।
ऐसा ही पहरा है।"
"तो फिर कैसा होगा ?" लुकुआ ने प्रश्न किया।
"जैसा तू लुकुआ है, वैसा ही होना है,
वड़े-वड़े आदमी धन मान छोडेगे,
तभी देश मुक्त है,
कवि जी ने पढ़ा था, जव तुम वदले नही;
अपने मन मे कहा मैंने, मैं महगू हूँ,
पैरों की धरती आकाश को भी चली जाय,
मैं कभी न वदलूँगा, इतना महगा हूँगा।"

['नया साहित्य', वम्वई, अंक 4, 1946 ई. (पूर्वार्ध)। नये पत्ते मे संकलित]

ख़ून की होली जो खेली*

युवकजनों की है जान;
खून की होली जो खेली।
पाया है लोगों मे मान,
खून की होली जो खेली।

* '46 के विद्यार्थियो के देशप्रेम के सम्मान मे।

रँग गये जैसे पलाश;
कुसुम किंशुक के, सुहाये,
कोकनद के पाये प्राण;
ख़ून की होली जो खेली।
निकले क्या कोपल लाल,
फाग की आग लगी है,
फागुन की टेढ़ी तान,
ख़ून की होली जो खेली।
खुल गयी गीतों की रात,
किरन उतरी है प्रात की;—
हाथ कुसुम - वरदान,
ख़ून की होली जो खेली।
आयी सुवेश बहार,
आम - लीची की मञ्जरी;
कटहल की अरघान,
ख़ून की होली जो खेली।
विकच हुए कचनार;
हार पडे अमलतास के;
पाटल - होंठो मुसकान,
ख़ून की होली जो खेली।

['ऊषा', साप्ताहिक, गया, मार्च, 1946 (होलिकांक)। नये पत्ते मे संकलित]

कैलाश में शरत्

चले हम घोडे पर।
संन्यासिश्रेष्ठ श्रीविवेकानन्दजी भी है,
श्रीमती श्रीमाताजी और शिष्यशिष्यावर्ग।
साथ श्रेष्ठ राजपुरुष, नागरिक भारत के।
अफगानिस्तान की सीमा को पार करके
घोड़ों को छोड़ दिया।
क्योंकि पथ दुर्गम वह, घोडों के योग्य नही।
चढ़े वड़े वकरों पर।

पथदर्शक साथ है, शासक भी वहाँ के।
तातारी वीरों को देखा, मुग्ध हो गये।
वहाँ का इतिहास विश्वविख्यात है,
कुछ दूर आगे चलो, मंगोलिया देश है।
यहाँ बाद को गये।
यही के वीर अटीला के घोड़ों की तेज़ टाप
रोम तक वजी थी, नष्ट हो गया था साम्राज्य;
पददलित गान्धार, भारत, पारस्य आदि
सभ्यतम देश सब, वशवेश हुए थे;
यही का चङ्गेज, यही का था तैमूर लङ्ग,
बाबर यही का, आविष्कार तोपों का किया।
हवा मे स्वभाव ही ने वीरदर्प भरा हुआ।
पर्वत के शीश पर ऊँची समतल-भूमि
घोड़ों की टापो से आग उगलती हुई।
अस्तु, हम आगे के लिए सब छोड़कर
कैलाश को मुड़े।
आये उस स्थान पर।
तातारी दर्शक ने केवल "कैला" कहा।
पर्वतों के ऊँचे कई शृङ्ग एक साथ है,
हिमाच्छादित "कैला" है सबसे विशालकाय।
सबसे ऊँचा उठा, अति-शोभन, मनोरम।
पर्वतों की श्रेणी यह औरों से भिन्न है।
जितने ऊँचे हैं ये, उतने मोटे नहीं।
देखा है एवरेस्ट,
काञ्चनजङ्घा, गौरीशङ्कर पर्वत समूह;
आल्प्स, ककेसस, अराल;
किन्तु ऐसा समाँ, ऐसा दृश्य कही भी नही;
ससृति मे मूर्तिमान जैसे समाधि हो;
दुर्गा की रूपरेखा यही से ली गयी हो।
मन अपने आप स्थिर होकर मिट जाता है।
जिस स्थल के लिए कहा,
काम नाश पाता है,
जैसे यह वही हो।
पदतल राक्षस-ताल,
महिषासुर का प्रतीक,
आगे मानसरोवर,
इससे मिला हुआ।

चोटियों की वर्फ़ पर
किरने जव पड़ती है,
सप्तवर्णी रश्मियाँ
पडती है तालो पर;
प्रतिक्षण रेशमी रङ्ग वदलता हुआ,
कभी पीला, कभी नीला,
कभी इन्द्रधनुषी है,
छायापात जैसा हुआ;
जैसे किरीटिनी
प्रकृति क्षण-क्षण वाद
साडी वदलती हो;
उसके शरीर के
भीतर हमलोग हो।
गिरि के पदमूल मे
कोटि-कोटि फूल खिले;
रश्मि के रङ्गो के,
मुख्यत पीत-नील,
अतिशय सौरभ उनमे।
आगे काश्मीर पड़ा,
होकर हम आये थे,
वह वहुत फीका पड़ा।
ऐमा वायुमण्डल संसार में न फिर मिला।
सारे देशो की हम लोगों ने यात्रा की।
किश्तियाँ डाली गयी,
उन पर चढ-चढ़कर हम
मानसर पर चले।
सर्वोत्तम स्थान यह।
इन्दीवर करोड़ो,
करोड़ों अन्य कमल, कोकनद, शतदल,
ऐसी सुगन्ध की मदिरा न फिर मिली।
उन्मद विहार किया।
एक ओर सिन्धु, एक ओर व्रह्मपुत्र का
उद्‌गम सुहावना।
एक नदी और है
यहाँ से निकली हुई।

दिव्यता के भीतर हम
दिव्य बने ही रहे।
सान्ध्य समय पार हुआ,
मनोहर रात आयी।
नाव पर वहीं का
भोजन, जो मेष-मांस,
करके शुचि चन्द्र का
स्वागत करने लगे।
गीत-वाद्य होता रहा।
सब जन प्रसन्न है।
ऐसा दृश्य जीवन में
और कभी नहीं दिखा।
शरत्-काल; कमलों पर
आया विरोधाभास,
उतरी है चाँदनी,
मुद चले इन्दीवर,
कोकनद, शतदल;
पर अति-विकसित जो
ज्यों-के-त्यो रह गये।
मदिरा सुगन्ध की
ज्यों-की-त्यों ढलती हुई।
चन्द्र आकाश पर पूरी तरह निकल आया।
स्निग्ध वह चन्द्रिका
उतरी सरोवर पर
स्वर्ग की अप्सरा
स्नान करने के लिए
लोक-लोचनो से परे
जिसकी छवि देखकर
कमल वे मुद गये।
सब कुछ स्वर्गीय है,
लोग-जन कहा किये।

['हंस', मासिक, बनारस, अप्रैल, 1946। नये पत्ते मे संकलित]

गीत

रचना की ऋजु वीन वनी तुम।
ऋतु के नयन, नवीन वनी तुम।
पल्लव के उर कुसुम-हार सित,
गन्ध, पवन-पावन विहार नित,
मिलित अन्त नभ नील विकल्पित,
एक-एक से तीन वनी तुम।
रचना की ऋजु वीन वनी तुम।

चपल बाल-क्रीड़ा अव अवसित,
यौवन के वन मदन नही श्रित,
प्रौढ़ प्राण से शाश्वत विगलित,
तुम जानो, कव लीन वनी तुम।
रचना की ऋतु वीन वनी तुम।

['संगम', साप्ताहिक, इलाहावाद, 31 जुलाई, 1949। **असंकलित कविताएँ** मे सकलित]

गीत

कमरख की आँखे भर आयी।
वन वर का सौदा कर आयी।

नयनो की नाव चढ़ा कोई,
यह खाली पाँव वढ़ा कोई,
मोती के माल कढा कोई,
सागर से भँवर उतर आयी।

ये भय या परिणय के फूटे
आँखो से जो आँसू टूटे?
पूछें किससे संशय छूटे—
ये हर लायी या हर आयी?

[सम्भावित रचनाकाल : जुलाई-अगस्त, 1949। 'साधना', मासिक, कलकत्ता, आषाढ-कार्तिक, संवत् 2006 वि. (जून-नवम्बर, 1949) में प्रकाशित। **गीत-गुंज** मे संकलित]

मेघ मल्लार (1)

अयि सजल - जलद - वदने !
सुख - सदने, मुख - सदने !

तुम हहर-हहरकर हर-हरकर
बहती हो सर - सर पहर - पहर
भरती हो जीवन अजर - अमर
सित हंसपंक्ति - रदने !

सहज सरोरुह के वन विकसित
मानसरोवर पर जब सुहसित,
सिन्धु - ब्रह्मपुत्रादि उल्लसित,
नदि - नद मद - मदने !

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 7 अगस्त, 1949। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

मेघ मल्लार (2)

श्याम घटा घन घिर आयी।
पुरवाई फिर फिर आयी।

बिजली कौंध रही है छन - छन,
काँप रहा है उपवन - उपवन,
चिड़ियाँ नीड़ - नीड़ में निःस्वन,
सरित - सजलता तिर आयी।

गृहमुख बूँदो के दल टूटे,
जल के विपुल स्रोत थल छूटे,
नव - नव सौरभ के दव फूटे,
श्री जग - तरु के सिर आयी।

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 7 अगस्त, 1949। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

गीत

उमड़ - घुमड़ - घन
सावन आये।
मन - मन के
मनभावन आये।

मोर शोर करते है वन मे,
नाच रहे है फिर निर्जन मे,
दादुर की रट भी छन - छन मे,
विपुल - वलाक कि धावन आये।

बूंदो की रिमझिम फुहार है,
पवन-अवनि, फिर-फिर बुहार है,
खगकुल की पुलकित गुहार है,
पुर के पाहुन पावन आये।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 7 अगस्त, 1949। असंकलित कविताएँ मे संकलित]

गीत

छाये बादल काले काले।
मँडलाये, आये, मतवाले।

फुफकारें फुहार विप की है,
सन-सन धुन सुनिए रिस की है,
रैन विरहिनी की सिसकी हैं,
दिन आँसू के नाले नाले।

लहरो की वहरें भगती हैं,
उर - उर छवि - छवि मे जगती है,
दिन को सपने - सी लगती है,
कितने सुख के पाले पाले।

['भारत', दैनिक, इलाहाबाद, 7 अगस्त, 1949। असंकलित]

गीत

रस की बूँदें बरसो,
नव घन !
पावन सावन सरसो,
नव घन !

कमलों के वन वारि - विमोचन,
छा लो गगन बलाहक - वाहन,
धान - जुवार - उड़द, अरहर - धन
धारण कर कर हरसो, नव घन !

खेत निराती ग्राम - कामिनी
नभ - नयनों दमकती दामिनी
लखकर लौटी वास भामिनी,
सुख - समीर तन परसो, नव घन !

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 14 अगस्त, 1949। असंकलित कविताएँ मे संकलित]

यह गाढ़ तन, आषाढ़ आया...

यह गाढ़ तन, आषाढ़ आया, दाह दमक लगी, जगी री,—
रैन चैन नहीं कि वैरिन नयन नीर - नदी बही।
अति स्नेह करके गेह छोड़ा, स्नेह के दिन गिन रही;
कह कौन मेरी पीर जाने, हरे हरि के बिना भी !

फिर लगा सावन सुमन भावन, झूलने घर-घर पड़े;
सखि, चीर 'सारी की सँवारी झूलती, झोंके बड़े।
वन मोर चारों ओर बोले, पपीहे पी - पी रटे,
ये बोल सुनकर प्राण डोले, ज्ञान भी मेरे हटे।

फिर भरा भादों, धरा भीगी, नदी उफनायी हुई,
री, पड़ी जी की; प्राण-पी की सुधि न जो आयी हुई!
कर फूल-माला - थाल, सखियाँ तीज-पूजन को चलीं,
वर बजे बाजे, द्वार साजे, भक्ति से पति की गली!

खर कार कन्त विदेश छाये, कनक ही के वश हुए,
कह कौन-सी परतीति जो की शपथ, कर मेरे छुए;
शुभ रामलीला, सुकरशीला नगर - नगर जगी हुई,
दो - पितर - देवी - पाल बीते, नयन मुहर लगी हुई।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 21 अगस्त, 1949 ('चौमासी' शीर्षक से]। **आराधना** में संकलित]

बिजली का जीवन

जावक चरणों से जब शिंजन
होता है गृह के रुचिरांगन
कँपते हैं तरु तरुणों के तन।

छुटकर सम्पुट से कोटि सुमन
भर देते हैं केशर के कण
आर्द्रा के छा जाते हैं घन,
ढक जाता है नैदाघ तपन।

स्वर से होता है सन्दीपन,
बनता है बिजली का जीवन,
बुझ-बुझकर होता है चेतन,
तम से जैसे रज, संवेदन।

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 21 अगस्त, 1949। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

गीत

सौरभ के रभस बसो, जीवन !
वारिद की बूंद खसो, जीवन !

केशर के शर स्वप्निल उपशम
वेधो ऊषा के प्रस्फुट क्रम;
सोओ मलयानिल के विभ्रम,
दल के कर कमल कसो, जीवन !

भौरों के मदगंजित गुजन
गाओ वन - वन उपवन - उपवन
छाओ नभ सुमन-सुमन कण-कण
भरकर तट सुघट गसो, जीवन !

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 28 अगस्त, 1949 । **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

गीत

क्यों निर्जन मे हो ?
नवजीवन, अविकच तन;
भ्रमितानन से ओ !

नयन तुम्हारे नये नये,
छोर छोड़कर चले गये,
किसे खोजते ये उनए ?
एक वार देखो !

अव न किसी के तुम होगे ?
साथ किसे अव तुम दोगे ?
हाथ किसी का न गहोगे ?
वात भी हमें दो !

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 28 अगस्त, 1949 । **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

वन्दना

वन्दन करूँ चरण,
जननि, हो भाव की
भूमि पर अवतरण !

विमल पलकें खुले
मोह के पटल से,
कमल जैसे नयन
तुलें ज्योतिर्हंसे,
देश दश दिशावधि
कटे कारावरण !

स्तव के स्तवक, वर्ण-
रेणु के, शरण के,
स्रोत पर वह चलें
जन्म के, मरण के;
पृथा पर अमृत का
क्षार से हो क्षरण !

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 18 सितम्बर, 1949। **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

गगन वीणा बजी

गगन वीणा बजी;
किरण के तार पर
रागिनी जो सजी।

वह चले नदी - नद
छन्द बदलते हुए,
तुहिन के कमल जल
उठे गलते हुए;
कली के हार के
भार डाली लजी।

कामियों ने कनक,
वासना छोड़ दी,
ऊँचा उठे, निम्न
उतर कर, होड़ की
कामिनी तत्व की
चारुता से मजी।

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 25 सितम्बर, 1949। आराधना में संकलित]

शरत् पंकजलक्षणा

सखी री, खंजन वन आये;
सरसीरुह छाये।

हरसिंगार के हार पड़े हैं;
शशि के मुख असि-नयन गड़े हैं;
पहरे शाल रसाल खड़े हैं;
तारक मुसकाये।

धान पके, सोने की बाली;
पानी भरी अगहनी आली;
छई बाजरे की नभ लाली;
कास-कुसुम भाये।

['संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 2 अक्तूबर, 1949। असंकलित कविताएँ में संकलित]

मन मधु बन, आली !

मन मधु बन, आली !
ईरण तन की ज्योति तपन की
गगनघटा काली काली।

दमकी सौदामिनी ग्राम मे
नूपुर - उर सुरधुनी धाम मे,
रसरशना जो वजी नाम मे,
यौवनवन वाली वाली।

सजी सुतनु तिर्यक तप - रेखा,
पंक्ति पक्ति पर अविजित लेखा,
झुका दृगो से जिसने देखा,
तन - मन - धन पा - ली ताली।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 16 अक्तूबर, 1949। **अर्चना मे संकलित**]

गीत

शकाकुल निशा गयी,
पुलकित ऊषा उनई।
छूते पद ज्योतिस्तल,
काँपे सुमनो के दल,
खुले केश दिङ्मण्डल;
जव-अभिनव सुरभि छई।

छुटे पाश से पशुगण,
चले चरी को चारण,
रव के शत अवतारण
हुए धरा पर विजयी।

[सम्भावित रचनाकाल : 1949 ई. का उत्तरार्ध। 'राका—1', मुजफ्फरपुर, 1950, मे प्रकाशित। असंकलित]

ज्ञान की तेरी तुरी है

ज्ञान की तेरी तुरी है,
आसुरी माया दुरी है।

किरण की राखी प्रकृति ने
हरित कर बाँधी विभव के—
चरण कमलों के चढ़ाये
भार खग-कुल कण्ठ रव से
कमल के खोले कटोरे
मधु भरे; फेरी घुरी है।

ध्यान में मुनि-मन मने है
वेद, विधि, वाणी, नियन्त्रण,
सर्व के कर सिमटकर वे
कर रहे है समाहित मन
वीज में वट-विटप जैसे,
पौर मे जैसे पुरी है।

[सम्भावित रचनाकाल : 1949 ई. का उत्तरार्ध । **आराधना** मे संकलित]

परिशिष्ट

मौलिक और अनूदित कविताएँ

माननीया श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित के प्रति

से दिन तुमि आमाय डेकेछिले
आमार सङ्गे कथा बोलबे बोले।
भेवेछिलेम, कोनो अछिलाय
एड़िये जाबो एमन विषम दाय।
नाना रकम भेवे गेलेम शेषे,
एले तोमार रूपेर स्रोते भेसे।
चाहनीते किन्तु विषम लागे,
प्राणे आमार दुरु-दुरु जागे।
चरित एकटी धरे बोलले, "कोबलार,
जुतो पालिश करते पारो ?" "पारी"
जेइ बोललेम, बोलले मानिये हार,
"तखन तोमार कलम आमी बाडी"
कलम बाडार भावे। गन्ध छोटे;
तोमार चोखे-मुखे गोलाप फोटे।

[उस रोज तुमने मुझे बुलाया था मुझसे बातचीत करने के लिए। मैंने सोचा था, किसी बहाने यह समस्या बचा जाऊँगा। मगर तरह-तरह की सोचकर अन्त मे गया। तुम अपने रूप की तरङ्गों पर तैरती हुई जैसे आयी। लेकिन, तुम्हारी चितवन से, पीते वक्त जैसे पानी लगा। दिल धड़का। मेरे उपन्यास का एक चरित चुनकर तुमने पूछा, "जूतासाज़, पालिश कर सकते हो,"—एक पैर उठाकर जूता दिखाया। "कर सकता हूँ" ज्यों ही मैंने कहा कि तुमने जवाब दिया, "तब मैं तुम्हारी कलमसाजी करूँगी।" साथ ही कलमसाजी की भङ्गिमा दिखायी। खुशबू उड़ी—तुम्हारी आँखों और मुख पर गुलाब खिले।—निराला]

[रचनाकाल : 1942। अणिमा में संकलित]

चौथी जुलाई के प्रति

काले बादल कट गये आकाश से
रात को बाँधे हुए थे जो समाँ—
पृथ्वी पर तानी थी चादर, इस तरह।
आँख खोली, जादू की लकडी फिरी।
चिडियाँ चहकी, साथ फूलो के उठे
सर,—सितारे जैसे चमके ताज के—
ओस के मोती लगे, स्वागत किया
नया तुम्हारा झूमकर झुककर। खुली
और फैली दूर तक झीलें, खुशी
जैसे आँखें कमलो की फाड़े हुए
दर्श करती है तुम्हारा हृदय से।
कुल निछावर, ज्योति के जीवन, नया
आज अभिनन्दन तुम्हारा, धन्य है।
आज रवि, स्वाधीनता की फूटी कलि,
राह देखी विश्व ने, कैसे खिली,
देशकालिक खोज की, कैसे मिले;
छोडा है घर, मित्र, छोड़ी मित्रता।
खोजा तुमको, आवारा मारा फिरा,
गुजरा दहशत के समन्दर से, कभी
सघन पहले के गहन वन से, लड़ा
हर कदम पर प्राणों की बाज़ी लिये।
वक़्त वह, हासिल निकाला काम को,
प्यार का, पूजा का, जीवनदान का;
हाथ उठाया, सँवरकर पूरा किया।
फिर तुम्ही ने स्वस्ति की बाँधी कमर
जनगणो पर मुक्ति की डाली किरण।
देव, चलते ही चलो वेरोकटोक,
विश्व को दुपहर न जब तक घेर ले,
कर तुम्हारा हर जमी जब तक न दे,
स्त्री-पुरुष जब तक न देखें चाव से,—
बेड़ियाँ उनकी कटी, उल्लास की,
जाँ नयी जब तक न समझें आ गयी।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 10 सितम्बर, 1944 (विवेकानन्द की अंग्रेजी कविता का अनुवाद)। नये पत्ते में संकलित]

काली माता

छिप गये तारे गगन के,
बादलों पर चढ़े बादल,
काँपकर घहरा अँधेरा,
गरजते तूफ़ान में, गत
लक्ष्य पागल प्राण, छूटे
जल्द कारागार से—द्रुम
जड़ - समेत उखाड़कर, हर
बला पथ की साफ़ करके।
शोर से आ मिला सागर,
शिखर लहरों के पलटते
उठ रहे हैं कृष्ण नभ को,
स्पर्श करने के . लिए द्रुत,
किरण जैसे अमंगल की,
हर तरफ से खोलती है
मृत्युछायाएँ सहस्रों
देहवाली घनी काली।
आधि - व्याधि बिखेरती, ऐ,
नाचती पागल हुलसकर
आ, जननि, आ, जननि, आ, आ !
नाम है आतंक तेरा,
मृत्यु तेरे श्वास में है,
चरण उठकर सर्वदा को
विश्व एक मिटा रहा है,
समय तू है, सर्वनाशिनि,
आ, जननि, आ, जननि, आ, आ !
साहसी, जो चाहता है
दुःख, मिल जाना मरण से,
नाश की गति नाचता है,
तू उसी के पास आयी।

['देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 17 सितम्बर, 1944 (विवेकानन्द की अंग्रेजी कविता का अनुवाद)। नये पत्ते में संकलित]

रामायण

(विनय-खण्ड)

श्रीमद्‌गोस्वामी तुलसीदासकृत

का

अवधी से हिन्दी-अनुवाद

स्वर्गीया

कवि साहित्यिक श्रेष्ठा

सुभद्रा कुमारी चौहान

की

स्मृति में

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

निवेदन

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी का रामचरित-मानस या रामायण भारत की सर्वोत्तम काव्यकृति है। इसको इस समय यहाँ का वेद कहते हैं। इसके सम्बन्ध की बहुत-सी बातें प्रकाश मे नही आयी। काफी अँधेरा है, अधिकार और अधिकारियों का प्रमाद भी। इनके आवेष्ठन के बाहर जो मुख्य विषय रहता है वह है साहित्य। उसी को लक्ष्य में रखकर यह अनुवाद किया गया है। दोहा, चौपाई, सोरठा, छन्द जैसे के वैसे ही है। कही कुछ परिवर्तन है, भाषा मे न आ सकने के कारण, जैसे वृहत दोहा एक नया हुआ है और अन्त मे कही-कही गुरु-गुरु न रह-कर लघु-गुरु रह गया है, हिन्दी की शुद्धि की रक्षा के कारण। इससे छन्दःशास्त्र की एक वृद्धि हुई है। कही कुछ प्रवर्तन भी है। फिर भी मूल की पूरी-पूरी रक्षा करने का प्रयत्न है। जिन प्रान्तों के विद्यार्थी अवधी नही जानते उनके लिए सुविधा हुई है। ऐसे भी नवें दसवें दरजे में इसका प्रचलन करने से विद्यार्थियो की खड़ी बोली अधिक पुष्ट हो जायगी, इसका प्रमाण अधिकारिवर्ग पढ़ते ही समझ जायँगे। अशुद्धियाँ कुछ है, परन्तु शुद्धिपत्र लग गया है, सन्निवेश कर लें।* आशा है, पाठक पढकर राष्ट्रभाषा के विस्तार के प्रयत्न मे हमारा उत्साह बढ़ायेंगे।

इसको निकालते हुए प. गङ्गाधर मिश्र शास्त्री और बाबू बलदेव प्रसाद मेहरोत्रा साहित्यालङ्कार हमारे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होने लगन के साथ परिश्रम किया। ॥ इति ॥

जेष्ठ बदी 6, 2005 श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

* शुद्धि-पत्र के अनुसार अशुद्धियो को ठीक करके उसे निकाल दिया गया है।—सम्पादक

श्लोकाः

वर्णानामर्थसङ्घानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानाञ्च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥ 1 ॥
भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाःस्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥ 2 ॥
वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥ 3 ॥
सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥ 4 ॥
उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥ 5 ॥
यन्मायावशवर्तिविश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥ 6 ॥
नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥ 7 ॥

सो.—स्मरण-वरण है सिद्धि, गण-नायक करिवर-वदन,
जिनकी कृपा समृद्धि, बुद्धि बढ़ी, गुण है सदन।
मूक हुए वाचाल, पङ्गु चढ़े गिरिवर गहन,
जिनकी कृपा, दयाल द्रवें सकल-कलिमल-दहन।
नील-सरोरुह - श्याम, तरुण-अरुण-वारिज-नयन,
करें हृदय में धाम, सदा क्षीर-सागर - शयन।
कुन्द-इन्दु-सम देह, उमा - रमण करुणा - अयन,
दीन जनों पर स्नेह, करें कृपा किरणोदयन।
वन्दूं गुरु - पद -कञ्ज, कृपा-सिन्धु नररूप - हरि,
महामोह तम-पुञ्ज, जिनके वच रविकर-निकर।

चौ.—वन्दूँ गुरु - पद, पद्म परागूँ,
सुरुचि, सुवास, सरस, अनुरागूँ।
अमिय - मूल सित चूर्ण चारुतर,
सकल - रोग - परिवार - भारहर।
सुकृत - शम्भु-तनु-भूति शुचि वनी,
मञ्जुल - मङ्गल - मोद - प्रजननी।
जन-मन - मञ्जु-मुकुर - मलहरणा,
तिलक किये गुण-गण - वशकरणा।
गुरु-पद-नख मणि-गण-ज्योति' स्फुर,
दिव्य दृष्टि आ जाती है उर।
मोहदलन उसका प्रकाश वर,
बड़े भाग्य, आता है जिस घर।
विमल विलोचन खुल जाते है,
भव के दुख-तम धुल जाते हैं।
राम-चरित मणि-माणिक-खनि-धन,
प्रकट-रूप लखते है तव जन।
दो.—यथा सुअञ्जन आँजकर साधक-सिद्ध-सुजान,
कौतुक देखें शैल-वन-भूतल भूरि-निधान।
चौ.—गुरु-पद-रज मृदु-मञ्जुल-अञ्जन,
नयन-अमिय दृग-दोषविभञ्जन।
उससे किये विवेक-विलोचन,
कहा विमल हरि-यश भवमोचन।
वन्दूँ प्रथम महीसुर-पद-युग,
मोह-जनित-संशयहारी शुभ।
सुजन-समाज, सकल-गुण-ज्ञानी,
करूँ प्रणाम सप्रेम सुवाणी।
साधु-चरित जैसे कपास-वल,
नीरस किन्तु विशद गुणमय फल।
दुःख सहे, परछिद्र दुराया,
वन्दनीय, जग मे जस पाया।
साधु-समाज सकल मङ्गलमय,
जैसे तीर्थराज जङ्गम शय।
राम-भक्ति गङ्गा की धारा,
सरस्वती ब्राह्मी स्थिति सारा।
विधि-निपेध की कलिमल धोकर,
कर्म-कथा यमुना आयी घर।

हरि-हर-कथा विराजित वेणी,
सुनते सकल मोद-सुख-देनी।
वट विश्वास अचल, धर्मो का,
तीर्थराज शुभ-शुभ कर्मो का।
सबको सदा सुलभ, सब देशों,
सेते जन बचते है क्लेशों।
अकथ अलौकिक तीर्थराज है,
देता है फल नद्य, साज है।
दो.—सुनकर समझें मोद-मन, मज्जें जन अनुराग,
लहे चार फल विमल-तन, साधु-समाज प्रयाग।
चौ.—मज्जन-फल देखिए उसी क्षण,
काक हुए पिक, बक मरालगण।
सुनकर अचरज करें न कोई,
महिमा सत्सङ्ग की न गोई।
वालमीकि, नारद, घटयोनी,
निज-निज मुखों कही निज होनी;
जलचर, थलचर, नभचर आये,
जो जड़-चेतन जीव कहाये;
मति, गति, कीर्ति, विभूति, भलाई,
जिसने जहाँ जिस जतन पायी;
कुल, जानिए, सुसङ्ग-भाव से,
लोक न वेद, कि अन्य दाव से।
नही विवेक विना - सत्सङ्गति,
नही सुलभ वह विना-राम-रति।
मङ्गल-मोद-मूल सङ्गति शुभ,
साधन-फूल, सिद्धि-फल-वीरुध।
शठ सुधरे, शुभसङ्गति पायी,
पारस-परस कुधातु सुहायी।
विधिवश सुजन कुसङ्गति पाकर,
फणि-मणि के जैसे गुणानुसर।
विधि-हरि-हर-कवि-कोविद आये,
कहते सन्महिमा सकुचाये।
नही कही जाती वह ऐसे,
शाक-वणिक से मणि-गुण जैसे।
बृ. दो.—वन्दूँ साधु समानचित, हित न अहित सबके घरों;
अञ्जलि-गत जैसे सुमन, सम-सुगन्ध दोनो करों।

दो.—साधु विश्वहित चित्त-शुचि, भाव जानकर स्नेह,
बाल-विनय सुनकर कृपा करें दूर सन्देह।

चौ.—वन्दूँ फिर खलगण शुचि भाये,
विना काम जो दाँयें-बाँयें;
परहित-हानि लाभ जिनके है,
उजड़े हर्ष, विषाद बसे है;
हरि-हर-यश-राकेश राहु जुज,
पर-अकाज को भट सहस्र-भुज;
जो गवाह लेकर पर-दूषण
देखें परहित-घृत मक्खी-मन;
तेज कृशानु, रोष महिषासुर,
अघ-अवगुण-धन-धनिक-हुए मुर;
उदित-केतु हैं अहित के लिए,
कुम्भकर्ण-जैसे शयित जिये;
पर-अकाज को वे जलते है,
कृषि मारकर उपल गलते है।
वन्दूँ खल जो शेष रोष-फण,
अयुत-वदन कहते पर-दूषण।
फिर वन्दूँ पृथु के समान जो,
पर-अघ सुनते अयुत-कान हो।
पुनः शक्र-जैसों को मैं नत,
सुरानीक जिनको हित सन्तत;
वचन-वज्र है जिन्हें सदा प्रिय,
सहस्राक्ष-पर-दोष-लक्ष्य-क्रिय।

दो.—उदासीन, अरि-मित्र से जलते हैं खल-रीति;
पाणि-युगल निज जोडकर विनती करूँ सप्रीति।

चौ.—हम निज कर जोड़कर मरेंगे,
वे निज ओर न भोर करेंगे।
पलें भले ही खाकर पायस,
निरामिष न होगे जो वायस।
साधु-असाधु-चरण मैं वन्दूँ,
दुखप्रद उभय, बीच कुछ छन्दूँ।
एक बिछड़ते जी लेते है,
मिलते एक दुःख देते है।
एक-साथ जीवन पाते है,
जलज-जोंक गुण बिलगाते है।

सुधा साध, मदिरा असाध है,
जनक जगज्जलनिधि अगाध है।
भली-बुरी करतूत व्यक्ति की,
लेती जस, अपलोक, मुक्ति भी।
सुधा, सुधाकर, साधु, सुरसरित,
गरल, अनल, कलिमल, कर्महरित।
गुण, अवगुण, जाने सब कोई,
जो भाई, रुचि; जागी, सोई।
दो.—भले भलाई से लहे, लहें निचाई नीच,
सुधा सराहें अमरता, गरल सराहें मीच।
चौ.—गहे अगुण खल, सज्जन गुणगण,
उभय अपार-उदधि-अवगाहन।
इससे कुछ गुण-दोप बखाने,
ग्रहण न त्याग बिना पहचाने।
भले, पोच विधि ने उपजाये,
श्रुति ने गुण गिनकर बिलगाये।
कहते है इतिहास, वेदगण,
विधि-प्रपञ्च गुण-अवगुण-मिश्रण।
दुख-सुख, पाप-पुण्य, दिन-रातों,
साधु-असाधु, सुजात-कुजातो,
दानव-देव ऊँच औ' नीचों,
अमिय-सजीवन, माहुर-मीचों,
माया-ब्रह्म, जीव-जगदीशों,
लक्ष-अलक्ष, रङ्क-अवनीशों,
काशी मगहर, सुरसरि-नाशों,
मरु-मालव, महिदेव-गवाशो,
स्वर्ग-नरक, अनुराग-विरागों,
निगमागम, गुण-दोप-विभागों,
दो.—गुण-दोषों, जड़-चेतनों, रचा सकल संसार;
सन्त हंस गुण गहें पय, छोडें वारि-विकार।
चौ.—यह विवेक देता है धाता,
तजकर दोष गुणों मन राता।
काल-स्वभाव कर्म-बरिआई,
भले चूकते सहज भलाई।
वह हरिजन सुधार लेते हैं,
दोप छोड़कर जस देते है।

खल करते है भला सङ्ग - उर,
मिटता नहीं स्वभाव अभङ्गर।
लखे सुवेश, विश्व - वञ्चक जो,
वेश - प्रताप पूजिए उनको।
नहीं निवाह उघरने पर पर,
कालनेमि जैसे कपि के कर।
कुवसन भी साधु का मान है,
जैसे जग कपि, जाम्बवान है।
हानि कुसङ्ग, सुसङ्ग लाभ है,
लोक - वेद मे विदित डाभ है।
साधु - असाधु - सदन शुक - शारी,
पढ़ते है, देते हैं गारी।
धूम कुसङ्गति से कालिख है,
लिखो पुराण, मञ्जु-मसि-शिख है।
अनिल - अनल - सङ्घात, वही जल,
होता है जग - जीवन का फल।

दो.—ग्रह, भेपज, जल, पवन, पट, यथा सुयोग-कुयोग,
हुए सुवस्तु - कुवस्तु जग, लखें सुलक्षण लोग।

बृ. दो.—सम-प्रकाश-तम पाख दो, नाम-भेद फिर भी किये;
शशि-पोषक, शोपक, तथा, जग मे जस, अपजस लिये।
जड़ - चेतन जग - जीव जो, सभी राम-गुण-गाथ,
वन्दूँ सबके पद - कमल, सदा जोड़कर हाथ।
देव - दनुज, नर - नाग - खग, प्रेत-पितर-गन्धर्व,
वन्दूँ किन्नर, तिमिरचर, कृपा करो अब सर्व।

चौ.—आकर चार, लाख चौरासी
जाति-जीव, नभ-जल - थलवासी।
सबको सीताराम जानकर
मै प्रणाम कर रहा मानकर।
मुझे जानकर निज किङ्कर - तल,
करो स्नेह मुझ पर, छोड़ो छल।
अपना मुझको नही बुद्धि-बल,
इससे झुकता हूँ मै नत - पल।
रघुपति - गुण गाऊँ, यह चित है,
लघुमति मेरी, चरित अमित है।
एक अङ्ग भी अभी न साजा,
मन अति रङ्क, मनोरथ राजा।

मन अति नीच, रुचिर रुचि की है,
अमिय चाहिए, छाछ नही है।
सुजन छमेगे सहज ढिठाई,
लेंगे वालक - वचन - मिठाई।
वे तुतली बातें करते हैं,
माता - पिता मोद भरते हैं।
कुटिल विचारक, कूर हँसेंगे,
जो पर - दूपण - भूपण लेंगे।
निज कवित्त मे किसे नही रति,
सरस याकि फीका, यह सम्मति;
पर - भापित सुनकर हरषाये,
वे नर वहुत नही जग जाये।
सुरसरि - सम हैं जग मे वहु नर,
जो निज वाढ़ वढ़े जल पाकर;
सागर - सम कोई पड़ते हैं,
पूर्णचन्द्र से जो वढ़ते है।
दो.—छोटा भाग्य, तृपा वडी, करूँ एक विश्वास,
पायेंगे सुख सुजन जन, मन्द करेंगे हास।
चौ.—हित - खल - हास कि काक रहा है,
कल - कण्ठ को कठोर कहा है।
वक हंस को, कुजात जात को,
हँसे मलिन खल विमल वात को।
कविता-रसिक, नही हरि-पद-रति,
उनको यह हास्य की सुसङ्गति।
भापा-भणित, अल्प मति मेरी,
हँसने योग्य, नही त्रुटि तेरी।
हरि - पद - प्रीति नही, धी तीखी,
उनको कथा लगेगी फीकी।
हरि-पद-रति, मति नहीं कुतरकी,
उनको मधुर, कथा रघुवर की।
राम - भक्ति - भूपित जी जानी,
सुजन सुनेंगे शंसित - वाणी।
नही सुकवि, मैं नही चतुर नर,
सकल-कला - विद्या - विहीन घर;
अक्षर, अर्थ, अलङ्कृति, ध्वनि-ऋध,
छन्द - प्रवन्ध, अमन्द - मन्द-विध;

भाव-भेद, रस-भेद, विविध गण,
कविता के गुण - दोप सुप्रकरण,
एक विवेक नहीं मेरे घर,
सत्य लिखूं कोरे कागज पर।
दो.—मम भापित सब-गुण-रहित, विश्व-विदित गुण एक,
यह विचारकर सुनेंगे, जिनके विमल विवेक।
चौ.—रामनाम इगमें उदार है,
जो शुचि, वेद - पुराण - सार है।
मङ्गल - भवन, अमङ्गल के हर,
उमा - सहित जपते हैं शङ्कर।
भणिति विचित्र सुकवि-कृत भी जो,
तजी राम से, सजी नहीं वह।
विधु - वदना सब - भाँति - सँवारी,
अवसन नहीं सजी वर - नारी।
सब-गुण-रहित कुकवि की विरचित,
राम-नाम-यश से यदि अङ्कित,
सादर बुध - समाज सुनते हैं,
मधुकर जैसे गुण गुनते हैं।
यद्यपि कविता गुण से विरहित,
फिर भी राम - प्रताप अनवसित।
यही भरोसा है मेरे मन,
किसे न मिला सुमङ्ग बड़प्पन।
कटुता सहज धूम ने तज दी,
अगुरु - प्रसङ्ग सुगन्धित रज दी।
भणित - भदेस, सुवस्तु, सुवरणा,
रामकथा, भव - मङ्गल - करणा।
छन्द—मङ्गलकरा कलिमलहरा तुलसी कथा रघुनाथ की,
गति कुटिल-कविता-सरित की जो परम पावन पाथ की।
प्रभु-सुयश - सङ्गतिभणित - कलिहोगीसुजन-मन-भावनी,
भव-अङ्ग - भूति श्मशान की सुमेर सुहावन - पावनी।
दो.—सबको अतिशय-प्रिय लगा, भणित-राम-यश-सङ्ग,
दारु-विचार कहाँ, जहाँ वन्दित मलय-प्रसङ्ग ?
श्याम-सुरभि, पय विशद अति, गुणद, करेंगे पान,
गिरा - ग्राम से रामयश, गावें - सुनें सुजान।
चौ.—मणि - माणिक - मुक्ता-छवि जैसी,
अहि-गिरि-गज-शिर रही न वैसी;

नृप - किरीट तरुणी - तनु पाकर,
ली अपनी शोभा अधिकाकर।
वैसे, बुध कहते हैं, कविता
उपजी कही, कही छवि - भविता।
भक्त - हेतु विधि - भवन छोड़कर,
आती है शारदा तोड़कर;
यदि न नहाई राम - चरित - सर,
वह श्रम गया न शत उपाय पर।
कवि - कोविद यह हृदय सोचकर,
गाते हैं गुण मल विमोचकर।
प्राकृत जन के गुण गाने पर,
पछताती है गिरा प्रहत - कर।
हृदय सिन्धु, मति सीप, ज्ञान है,
स्वाति शारदा के समान है;
वारि - विचार बरसता है यदि,
तो कविता मुक्ता की है छवि।
दो.—युक्ति वेधकर पोहिए, रामचरित - वरताग,
पहनेंगे सज्जन विमल, शोभा अति अनुराग।
चौ.—जो कराल कलि के विशेष हैं,
करतब - काक मराल - वेश है;
चलते कुपथ वेद - मग छोड़े,
कपट - कलेवर, कलिमल गोडे;
होकर वञ्चक-भक्त राम के,
किङ्कर कञ्चन - क्रोध - काम के;
उनमें पहली रेखा मेरी,
धिक धर्मध्वज धन्धक - घेरी।
अपने दुर्गुण सकल कहूँगा,
कथा बढ़ेगी, पार न हूँगा।
इससे अति अल्प मे कहा है,
बुध को स्वल्प, विशेष रहा है।
मेरी बहुविध विनय लीजिए,
सुनकर कथा न खोर दीजिए।
शङ्का जिनको इतने से भी,
मति थोड़ी, हों जितने से भी।
नहीं कवयिता, नहीं चतुर नर,
गाता हूँ हरियश गुणानुसर।

कहाँ राम के चरित, अमित जो,
कहाँ बुद्धि, मति मेरी, जित जो।
जिस मारुत गिरि - मेरु उड़े हैं,
कहो, तूल किस लेखे में है।
समझे अमित राम - प्रभुता है,
कहते कथा सहज लघुता है।
दो.—शेष शारदा, शम्भु, विधि, आगम, निगम, पुराण,
नेति - नेति कहकर सुगुण, करें निरन्तर गान।
चौ.—ज्ञान सभी को, प्रभुता गोई,
विना कहे भी रहा न कोई।
वेदों ने रक्खे हैं कारण,
भजन - प्रकार, भाव - निर्धारण।
एक अनीह, अरूप, अनामा,
अज, सच्चिदानन्द, गुणधामा।
व्यापक, विश्व - रूप, जगदीश्वर,
धृत - वहु - देह, चरित-मायाकर।
वह केवल भक्तों ही के हित,
परम - कृपालु - स्वरूप-अवतरित।
ममता और स्नेह जिस जन पर,
किया न क्रोध कभी उस तन पर।
अकल दीन के लिए सकल हैं,
राजा - रघुपति सरल सवल हैं।
यह जानकर कहेंगे हरि - यश,
वुध - जन गिरा करेंगे निज वश।
इस वल में रघुपति के गुण - गण,
कहता हूँ करके पद - वन्दन।
प्रथम कीर्ति मुनियों ने गायी,
सुगम उसी मग चलते भाई।
वृ. दो.—जो अपार नद, नृपों ने किये सेतु जिन पर सुघर,
पिपीलिका भी परम-लघु उनसे पार हुई निडर।
चौ.—इस प्रकार मन में वल लाकर,
रघुपति - कथा कहूँगा सस्वर।
व्यास - आदि जितने कवि - पुङ्गव,
कहे चरित सादर निरुपद्रव।
चरण - कमल वन्दूँ उनके, रे,
पूरें सकल मनोरथ मेरे।

कलि के कवियों का भी वन्दन,
करता हूँ जो इस गुण चन्दन।
जो प्राकृत कवि परम सयाने,
भापा में हरि - चरित वखाने।
हुए, अभी है, होगे आगे,
वन्दूं उनको, छल - वल त्यागे।
हों प्रसन्न, वरदान मुझे दें,
साधु - समाज - मान मुझसे लें।
वुध न आदरेंगे प्रवन्ध जो,
वालक-कवि-श्रम, किया, मन्द वह।
भणित कीर्ति वह भली भूति है,
सुरसरि के सम विमल धूति है।
भणित भदेस, सुकीर्ति राम की,
अन्देशा है, है अकाम भी।
उपमा दूंगा यही ठाट पर,
सियन सुहावन हुई टाट पर।
लोग अनुग्रह करे जानकर,
भापा मेरी विमल - यशःसर।

दो.—कीर्ति विमल, कविता सरल, वह आदरें सुजान,
सहज वैर को भूलकर, रिपु भी करें वखान।

वृ. दो.— विना विमल मन के न वह,
अति थोड़ा मति - वल मुझे।
करे कृपा, हरियश कहूँ,
पुनः निहोरूँ मै तुझे।

दो.—कवि-कोविद रघुवर-चरित-मानस-मञ्जु-मराल,
वाल-विनय सुनकर, सुरुचि लखकर रहें कृपाल।

सो. –वन्दूं मुनिपद - कञ्ज, रामायण जिनकी लिखी,
सखर सुकोमल मञ्जु, दोप-रहित दूषण-सहित।
वन्दूं चारो वेद, भव - वारिधि - बोहित - सदृश,
नहीं स्वप्न में खेद, कहते जिनको राम - यश।
वन्दूं विधि - पद-रेणु, भव - सागर जिनका रचा,
साधु-सुधा-शशि-धेनु, प्रगटे खल, विप, वारुणी।

वृ. दो.—विवुध-विप्र-वुध-ग्रह-चरण गहूँ, जोड़कर कर कहूँ,
खुश होकर पूरो सकल मञ्जु मनोरथ, वर लहूँ।

चौ.—फिर वन्दूं सुरसरित, शारदा,
जल - अक्षर की युगल भारदा।

एक नहाये पिये पापहर,
कहते - सुनते अपर तमस्तर
माता - पिता महेश - भवानी,
प्रणमूँ दीन - बन्धु दिनदानी।
सेवक, स्वामी, सखा राम के,
सब विधि हित, निरुपाधि नाम के।
हर - गिरिजा ने कलि विलोककर,
सरजा मन्त्र - जाल जग शावर।
अनमिल आखर, अर्थ न जप है,
भाव प्रगट है, शङ्कर - तप है।
वह महेश अनुकूल दास पर,
कहूँ कथा सुख - मूल रासभर।
गौरी - शङ्कर का वर पाकर,
बरनूँ राम - चरित्र मनोहर।
भणित भूरि - शिवकृपा - भात है,
शशि - समाज से सजी रात है।
जो इनके हैं सहज निकेतन,
कहे - सुनेंगे सुजन सुचेतन।
होंगे रामचरण - अनुरागी,
कलिमल - रहित सुमङ्गल - भागी।
दो.—सपने भी मुझ पर सही, यदि हर-गौरि-प्रसाव,
तो फुर हो जो कुछ कहूँ, भाषा - भणित प्रभाव।
चौ.—वन्दूँ अवधपुरी अति - पावन,
सरयू-सरि कलि-कलुष - नसावन।
प्रणमूँ पुर-नर-नारी फिर - फिर,
जिन पर नहीं अल्प ममता स्थिर।
सीता - निन्दक - पाप नसाये,
लोक विशोक बनाये, लाये।
वन्दूँ प्राची - दिक् कौशल्या,
जिनकी कीर्ति सकल दिशि हल्या;
जाये जहाँ राम शशि सुन्दर,
खल-शतदल-हिम, विश्व-विभाधर।
दशरथ - राव - सहित सब - रानी,
सुकृति - सुमङ्गल - प्रतिमा जानी;
करूँ प्रणाम वचन - मन - तत्पर,
करो कृपा सुत - दास जानकर।

जिनको रचकर बड़ा विधाता,
बड़ी रही मा - पिता - विमाता;
दो.—वन्दूं वे नरनाथ, सत्य - प्रेम जिनका रहा,
छुटा तनय का हाथ, प्रिय तनु तृण इव परिहरा।
चौ.—प्रणमूं सह - विदेह वे परिजन,
हरिपद गूढ - स्नेह जिनके मन;
योग - भोग मे रखा छिपाकर,
राम देखते प्रगटा भास्वर।
प्रणमूं प्रथम भरत के युग - पद,
जिनके व्रत से विश्व वशम्वद;
राम - चरण - पङ्कज जिनका मन
तजता नही मधुप इव केतन।
वन्दूं लक्ष्मण - पद - सरोज धन,
शीतल, सुभग, भक्त - सुख-जीवन;
रघुपति विमल - पताक - कीर्ति का
जिनका जस जैसे दण्ड टिका;
शेष सहस्र - शीर्ष जग - कारण,
जो अवतरे भूमि - भय - टारन,
सदा रहें अनुकूल दास पर,
कृपा - सिन्धु सौमित्रि गुणाकर।
मैं रिपुसूदन - चरण - प्रकामी,
शूर, सुशील, भरत - अनुगामी।
महावीर हनुमत - पद मैं नत,
जिनके यश राम ने किया रत।
सो.—वन्दूं पवन - कुमार, खल - वन - पावक ज्ञान-घन,
जिनके उर - आगार वसे राम शर - चाप - धर।
चौ.—कपि-पति, ऋक्ष, निशाचर-नायक,
अङ्गदादि जो कीश सहायक,
वन्दूं सवके चरण सुहाये,
अधम शरीर राम - धन पाये।
रघुपति - चरण - उपासक जितने
खग-मृग-सुर-नर असुर न कितने,
वन्दूं पद - सरोज मैं सवके,
वने राम के अव के तव के।
शुक - सनकादि भक्त - मुनि-नारद,
जो मुनिवर विज्ञान - विशारद,

वन्दूँ सबको महि रखकर सिर,
करो कृपा निज जन पर फिर-फिर।
जनक - सुता जग - जननी सीता,
अतिशय - प्रिय, करुणा की गीता।
उनके युग - पद - कमल मनाऊँ,
जिनकी कृपा विमल - मति पाऊँ।
फिर मन - वचन - कर्म रघुनायक,
चरण - कमल वन्दूँ सब - लायक।
नव - राजीव-नयन, धनु - सायक,
भक्त-विपत्ति - भञ्ज सुखदायक।
दो —गिरा-अर्थ-जल-वीचि-सम, कहिए भिन्न-अभिन्न,
वन्दूँ सीताराम - पद, जिनको अति-प्रिय खिन्न।
चौ.—वन्दूँ राम - नाम रघुवर के,
हेतु कृशानु - भानु - हिमकर के।
विधि-हरि-हरमय वेद - प्राण-सम,
गुण - निधान भी अगुण अनागम।
महामन्त्र वह शिव जपते हैं,
काशी - मुक्ति - हेतु तपते है।
महिमा जिनकी जाने गणपति,
प्रथम पूजिए गुण - प्रभाव - मति।
ज्ञात आदिकवि को प्रभाव वर,
उलटे जप से हुए शोधकर।
नाम - सहस्र - समान सुवाणी
सुनकर जपती रही भवानी।
हर हरषे उर - हेतु हेरकर,
स्त्री को किया स्त्रियाभूषण वर।
जाना शिव ने राम - नाम - बल,
किया अमिय-सम काल-कूट-फल।
दो.—वर्षा-ऋतु रघुपति-सुरति, तुलसी, शालि सुदास,
राम - नाम वर - वर्ण - युग, सावन-भादो-मास।
चौ.—अक्षर मधुर - मनोहर दोनों,
वर्ण - विलोचन, जन-धन, सोनों।
करते स्मरण सरोज - नाभ हैं,
लोक - विलोक निवाह - लाभ है।
कहते - सुनते भले - भले वे,
राम - लक्ष्मण, गले - गले वे।

वरने वर्ण, प्रीति विलगी है,
ब्रह्म - जीव की घात लगी है।
नर - नारायण - सदृश सुभ्राता,
जग - पालक, विशेष जन - त्राता।
भक्ति-नरी-कल - करण - विभूषण,
जग-हित-हेतु-विमल-विधु - पूषण।
स्वादु - तोष - सम सुगति-सुधा के,
कमठ - शेष - सम धर वसुधा के।
जन-मन-मञ्जु-कञ्ज - मधुकर-से,
जीभ-यशोमति-हरि - हलधर-से।

दो.—एक छत्र, इक मुकुट - मणि, सब वर्णो पर साज,
श्रीरघुनायक - नाम के वर्ण विराजे आज।

चौ.—समझे अधिक नाम औ, नामी,
प्रीति परस्पर प्रभु - अनुगामी।
नाम - रूप ईश की वाधना,
अकथ, अनादि, सुबुद्धि - साधना।
छोटा - बड़ा कहूँ अपराधन,
समझेंगे गुण - भेद साधु - जन।
नाम - अधीन रूप रहता है,
नाम - विहीन नही वहता है।
किसी रूप का नाम न जाना,
कर - तल - सुगत नही पहचाना।
स्मरिए नाम, न रूप देखिए,
आयेगा उर में, सरेखिए।
नाम - रूप - गति अकथ कहानी,
समझे सुखद, न गयी वखानी।
अगुण - सगुण मे नाम सुसाखी,
उभय - प्रबोधक, चतुर दुभाखी।

दो.—राम - नाम - मणि - दीप रख, जीभ-देहली-द्वार,
भीतर, वाहर तू सदा यदि चाहे उजयार।

चौ.—नाम जीभ जपकर योगी - जन
जागे विरिञ्चि-प्रपञ्च-विरत-मन।
ब्रह्मानन्द अनुभवें अनुपम,
अकथ अनाम अरूप अनागम।
जो जानना चहें निगूढ़ गति,
नाम जीभ से जपकर लें मति।

यति ने नाम जपा लौ लाकर,
हुए सिद्ध अणिमादिक पाकर.
जपा नाम आर्तों ने जी - भर,
मिटा कुसङ्कट, हुए सुखाकर।
चार प्रकार राम के जन जग,
चारो सुकृती, स्नेहमय, अनघ।
उनको नामाधार सार है,
ज्ञानी पर सविशेष प्यार है।
चारो युग, श्रुति, यही सही है,
कलि मे अन्य उपाय नहीं है।
दो.—सकल - कामना - हीन जो, राम-भक्ति-रस-लीन,
नाम - प्रेम-पीयूष - ह्रद किये वचन - मन मीन।
चौ.—रूप ब्रह्म के अगुण सगुण दो,
अकथ, अगाध, अनादि, अघुण जो।
मेरे मत से नाम महत्तर
जिसके वश हैं दोनो सत्वर।
प्रौढ सुजन जन जानें जन की,
कहूँ प्रतीति, प्रीति - रुचि मन की।
एक दारु - गत, एक देखिए,
पावक - युग - सम ब्रह्म लेखिए।
उभय अगम, युग सुगम नाम से,
नाम बड़ा है ब्रह्म - राम से।
एक ब्रह्म अविनाशी व्यापक,
चेतन सदानन्द सुखज्ञापक,
ऐसे प्रभु उर मे रहते है,
किन्तु जीव जग दुख सहते है।
नाम - निरूपण नाम - यत्न से,
प्रगटे वे ज्यो मोल रत्न से।
दो.—निर्गुण से यों है बड़ा, नाम - प्रभाव अपार,
कहूँ राम से भी बडा, निज - विचार-अनुसार।
चौ.—विहित, राम ने नर - तनु लेकर,
सङ्कट सहे, किये जन - सुखकर।
जपते नाम सप्रेम, विना - श्रम,
भक्त हो रहे है नन्दन - सम।
एक अहल्या हरि ने तारी,
कोटि - कुमति नाम ने सुधारी।

हरि ने एक ताड़का मारी,
सुत सुबाहु, सेना संहारी;
दले नाम ने दोष दास के,
जैसे रवि - कर निशा - नाश के।
शङ्कर - धनुष राम से टूटा,
नाम - प्रताप विश्व - भय छूटा।
दण्डक - वन प्रभु - चरण - सुहावन,
जन - मन - अमित नाम से पावन।
दलित - निशाचर श्री रघुनन्दन,
नाम सकल-कलि-कलुष-निकन्दन।
दो.—शबरी - गीध - सुसेव को, सुगति-दान रघुनाथ,
बचे नाम से अमित खल, वेद-विदित गुण-गाथ।
चौ.—राम - कृपा, सुग्रीव - विभीषण,
अभय हुए, पायी भी सुशरण।
कितने जन नाम ने निवाजे,
लोक - वेद - वर - विरद विराजे।
राम, भालु - कपि - कटक बटोरा,
सेतु - हेतु श्रम किया न थोड़ा,
लेते नाम भवार्णव सूखे,
करो विचार, सुजन, मन - रूखे।
राम, सकुल रण रावण मारा,
सीता - सहित स्वपुर पग धारा।
राजा राम, अवध नृपधानी,
गाते हैं सुर - मुनि वर - वाणी।
ली दास ने नाम की गीता,
अश्रम प्रबल मोह - दल जीता।
फिरा स्नेह के मग सुख अपने,
नाम - प्रताप नही दुख सपने।
दो.—ब्रह्म - राम से यो बड़ा, नाम महा वरदान,
राम - चरित - शत कोटि में, लिया ईश ने जान।
चौ.—नाम - प्रताप शम्भु सम्राजे,
मङ्गल - राशि अमङ्गल साजे।
शुक - सनकादि सिद्ध मुनि योगी,
नाम - प्रसाद ब्रह्म - सुख- भोगी।
नाम - प्रताप विदित नारद को,
जग-प्रिय हरि, हरि-प्रिय निर्मद वह।

जपते नाम प्रसाद गिने है,
भक्त - सिरो प्रह्लाद गिले है।
ध्रुव सग्लानि नाम लेते हैं,
राम ठौर अविचल देते हैं।
पावन नाम पवनसुत लेकर,
करते है राम को स्ववश - पर।
अपर अजामिल, गज, गणिका भी,
हुए मुक्त हरि - नाम - प्रभामी।
नाम कहाँ तक बड़ा बकेंगे,
राम नाम - गुण न गा सकेंगे।
दो. - राम - नाम का कल्पतरु, कलि-कल्याण - निवास,
हुए स्मरण से, भाग्य से, तुलसी तुलसीदास।
चौ.—चारो युग, त्रिकाल, लोकत्रय,
जीव विशोक हुए नामाशय।
वेद - पुराण - साधुजन की मति,
सकल-सुकृत-फल राम-चरण-रति।
ध्यान प्रथम युग, मख द्वितीय मे,
प्रभु - पूजन द्वापर, तृतीय मे।
कलि मल - मूल, मलीन हुआ मन,
पाप पयोनिधि, मीन हुआ जन।
नाम कामतरु, काल डटा है,
स्मरण किये जग - जाल छटा है।
राम - नाम कलि - अभिमत- दाता,
हित - परलोक, लोक पित-माता।
कलि मे कर्म न धृति विवेक है,
राम - नाम अवलम्ब एक है।
कालनेमि कलि कपट - धाम है,
हनुमत् - नुमति समर्थ नाम है।
दो.—राम-नाम नर-केशरी, कनक-कशिपु कलि-काल;
पाला जन-प्रह्लाद को, दलकर असुर विशाल।
चौ.—भाव, कुभाव, अनख, आलस भी,
जपते नाम कुशल दिग्दश की।
नाम - प्रभाव कहूँ गुण - गाथा,
रघुपति - चरण झुकाकर माथा।
वही सुधारेंगे सब, भाई,
जिनकी कृपा न कृपा अघाई।

स्वामी राम, दास मैं काला,
निज दिशि लखा, दया से पाला।
लोक - वेद यह रीति बखानी,
सुनकर विनय प्रीति पहचानी।
धनी - दरिद्र, ग्रामनर - नागर,
पण्डित - मूढ़ मलीन - उजागर,
सुकवि-कुकवि निज मति-विचार-भर,
नृप को वरते है नारी - नर।
साधु, सुजान, सुशील भूमि-पति,
ईश - अंश, भव, परम - कृपा-रति,
देते हैं सम्मान देखकर
लोगों को मति - गति विसेखकर।
यह प्राकृत महीप की है गति,
ज्ञान - शिरोमणि कोशल के पति।
राम रीझते है शुचि नाते,
मुझसे कौन मन्द - मति जाते ?

दो.—शठ-सेवक की प्रीति - रुचि रखते हैं जनपाल,
उपल किये जलयान, कपि-भल्ल सचिव मति-माल।
कहलाता, कहते सभी, सहते हरि परिहास,
साहव सीतानाथ - सम, सेवक तुलसीदास।

चौ.—बड़ी ढिठाई, चूक निगोड़ी,
सुनी नरक ने, नाक सिकोड़ी;
समझ, सहमकर, अपडर अपने,
वह सुध न की राम ने सपने।
समझी सूझ, सुचित - चख चाही,
पति ने मम मति - भक्ति सराही।
कहते नसी, हुई हिय नीकी,
रीझे हरि, जानी जन - जी की।
प्रभु - चित रही न चूक किये की,
जगी सुरति सौ वार हिये की।
जिस अघ वालि व्याध - सम मारा,
उसी पाप सुग्रीव सिधारा,
करनी वही विभीषण ने की,
सपने भी न राम ने देखी।
भरत - सदृश उनको सम्माना,
राज - सभा राम ने बखाना।

दो.—प्रभु तरुतल, कपि डाल पर, उनको किया समान,
तुलसी, कहीं न राम-सम, साहब शील-निधान।
राम कृपालु हुए, कृपा, सबके लिए सुकाम,
यदि यह सच है तो सदा, अग-जग में आराम।
वृ. दो.—कहे दोष-गुण इस तरह, सबके पद वन्दन किये,
कहता हूँ अब विमल यश रघुवर के चन्दन लिये।
चौ.—याज्ञवल्क ने कथा सुहायी,
भरद्वाज को सविध सुनायी।
वह सम्वाद कहूँगा आगे,
सुनें सकल सज्जन अनुरागे।
किया शम्भु ने चरित सुहाया,
गौरी को फिर सुमुख सुनाया;
फिर काक से कहा शिव ने वर,
राम - भक्ति - अधिकारी लखकर।
उनसे याज्ञवल्क ने पाया,
भरद्वाज के आश्रम गाया।
वक्ता श्रोता एक - शील भरि,
समदर्शी, जानें सलील हरि।
जानें तीनों काल, विश्व यह,
करतल - गत, आमलक - सदृश है।
हरि के भक्त और भी ज्ञानी,
कहें, सुनें, समझें वर - वाणी।
दो.—मैंने निज गुरु से सुनी कथा सु-शूकर-खेत;
समझ नहीं थी, बालपन, तब अति रहा अचेत।
श्रोता-वक्ता ज्ञाननिधि, कथा राम की गूढ़,
समझे कैसे जीव जड़ कलि-मल-ग्रस्त विमूढ।
चौ.—पर गुरु ने वह बार सुनायी,
मति-अनुसार समझ में आयी।
भाषा-बद्ध करूँगा मैं वह,
मेरे मन प्रबोध जिसमें हो।
जैसा कुछ विवेक-बल मेरा,
वैसा भाषूँगा हरि-प्रेरा।
मन-सन्देह - मोह - भ्रमहरणी,
कहूँ कथा भव-सरिता-तरणी।
बुध-विश्राम समाज-रञ्जिनी,
राम-कथा कलि-कलुष-भञ्जिनी।

राम-कथा कलि पन्नग-भरणी,
फिर विवेक-पावक को अरणी।
राम-कथा कलि कामद-गायी,
सुजन - सजीवन - मूल मुहायी।
वसुधा के तल सुधा-रङ्गिनी,
भीति-भञ्जिनी, भ्रम-भुजङ्गिनी।
असुर-सेन - सम - नरक - कन्दिनी,
साधु-विबुध-कुल अचल-नन्दिनी।
सन्त - ममाज - पयोधि - रमा - सी,
विश्वभार - धर - अचल-क्षमा-सी।
यम-गण-मुख-मसि जग यमुना-सी,
जीवन-मुक्ति-हेतु ज्यो काशी।
हरि को प्रिय पावन तुलसी-सी,
तुलसिदास-हित - हिय-हुलसी-सी।
शिव-प्रिय - मेकल - शैल - सुता-सी,
सकल-मिद्धि - सुख-सम्पतिका-सी।
सद्गुण-सुर-गण-मातृ - अदिति-सी,
रघुवर-भक्ति-प्रेम - परिमिति- सी।

दो.—राम-कथा मन्दाकिनी, चित्रकूट चित चार,
तुलसी, सुन्दर स्नेह वन, सीता-राम-विहार।

चौ.— चिन्तामणि हरिचरित-चार है,
सन्त - सुमति - नारी - सिंगार है।
जग-मङ्गल गुण-ग्राम राम के,
मुक्ति-दानि धन धर्म-धाम के।
सद्गुरु ज्ञान-विराग-योग के,
विबुध-वैद्य भव-भीम-रोग के।
जननी-जनक राम-सीता-रति,
वीज सकल-व्रत-धर्म-नियम-गति।
शमन सकल सन्ताप-शोक के,
प्रिय-पालक परलोक-लोक के।
सचिव-सुभट भूपति-विचार के,
कुम्भज लोभ-उदधि-अपार के।
काम-क्रोध-कलिमल-करिगण के,
केशरिशावक जन-मन-वन के।
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के,
कामद-घन दारिद-दवारि के।

मन्त्र-महामणि विषय-व्याल के,
मेटें कठिन कुअङ्क भाल के।
तम-मद-मोहहरण दिनकर-से
सेवक शालिपाल जलधर-से।
अभिमत - दान देव - तरुवर - से
सेते सुलभ-सुखद हरि-हर-से।
सुकवि-शरद-नभ - मन-उडुगण - से,
राम-भक्त जन-जीवन-धन-से।
सकल-सुकृत-फल भूरि-भोग-से,
जग के हित निरुपाधि लोग-से।
सेवक - मन - मानस - मराल - से,
पावन - गङ्ग - तरङ्ग - माल - से।

दो.—कुपथ-कुतर्क-कुचालि-कलि, कपट-दम्भ-पाषण्ड,
दहन राम-गुण-ग्राम ज्यों, इन्धन-अनल प्रचण्ड।
राम-चरित राकेश-कर, सदृश शरद सिताभ,
सज्जन-कुमुद, चकोर-चित, हित-विशेष, अति लाभ।

चौ.—गिरिजा ने जिस विधि पूछा है,
शङ्कर ने जिस भाँति कहा है,
वह कुल हेतु कहूँगा गाकर,
कथा-प्रबन्ध विचित्र बनाकर।
कथा जिन्होंने सुनी न स्थिर-मन,
सुनकर अचरज करें न वे जन।
कथा अलौकिक सुनकर ज्ञानी,
अचरज करते नहीं अमानी।
मिति जग नहीं कथा की, आनें;
यह प्रतीति जिनके मन, जानें।
भाँति-भाँति अवतार, राम की,
रामायण शतकोटि नाम की।
कल्प-भेद हरि-चरित सुहाये,
विविध भाँति भक्तों ने गाये।
संशय उर न कीजिए इससे,
सादर सुनी कथा, वे हरसे।

दो.—राम अनन्त, अनन्त गुण, अमित कथा-विस्तार,
करेंगे न आश्चर्य मन, जिनके विमल विचार।

चौ.—दूर किया संशय, विधि पायी,
माथे गुरु-पद-धूल लगायी।

फिर जोड़कर पाणि रहता हूँ,
खोर न लगे, कथा कहता हूँ,
शिव को सादर नाकर माथा,
बरनूं विशद राम-गुण-गाथा,
सम्वत सोलह-सौ इकतिस है,
कथा कह रहा हूँ, आशिस है।
नवमी, चैत, भौम, मसि ली है,
अवधपुरी, यह रचना की है।
जिस दिन राम-जन्म गाते हैं,
तीर्थ समूह वहाँ जाते हैं।
असुर-देव-मुनि-नर बरते है,
रघुनायक-सेवा करते हैं।
जन्म-महोत्सव रचते हैं जन,
गाते हैं कल कीर्ति विशद-मन।

दो.—मज्जन करते हैं बहुत सज्जन सरयू-नीर,
जपते हैं, उर ध्यानकर सुन्दर श्याम शरीर।

चौ.—दर्श-स्पर्श-मज्जन-सुपान से
अघहर, सुनिये श्रुति-पुराण से।
नदी पुनीत, अमित, महिमा अति,
कह न सकी शारदा विमल-मति।
राम-धामदा पुरी भवानी,
लोक-विदित, है विश्व-पावनी।
चार-खान जग-जीव आमरण,
अवध तजे तन, नही संसरण।
पुरी मनोहर है, जितनी विधि,
सकल-सिद्धिप्रद, मङ्गल की निधि।
विमल-कथा-प्रारम्भ किया है,
काम-दम्भ-मद श्रवण छिया है।
राम-चरित-मानस सुनाम है,
सुनते श्रवण मिला विराम है।
उसका विषय अनल-वन जलकर
भस्म हुआ जो आया इस सर।
राम-चरित-मानस मुनि-भावन
शिव ने रचा सुहावन पावन;
त्रिविध-दोष-दुख - दारिद - दावन,
कलि-कुचाल-कलि-कलुष-नसावन।

शिव ने मन में रखा विरचकर,
कहा शिवा से पाकर अवसर।
इससे राम-चरित-मानस वर
दिया नाम हर ने हिय हँसकर।
वही कथा कहता हूँ सुखप्रद,
सुनिए सुजन मनों से निर्मद।
दो —जिस विधि जो मानस हुआ, जग-प्रचार जिस हेतु,
कहूँ कथा कुल स्मरणकर, हृदय उमा-वृषकेतु।
चौ —शम्भु-प्रसाद सुमति हिय हुलसी,
राम - चरित - मानस-कवि-तुलसी।
करूँ मनोहर सुमन - हार वर,
सुजन सुचित लेंगे सुधारकर।
सुमति भूमि - थल, उर अगाध घन,
वेद - पुराण उदधि, साधक जन;
बरसें यश रामका, वारिवर
मङ्गलकारी, मधुर, मनोहर।
कहे सगुण - लीला प्रकाश - भर,
वही स्वच्छता मल - विनाश - कर।
प्रेम - भक्ति जो हुई न वर्णित,
वही मधुरता, शीतलता सित।
उस जल सुकृत शालि का है हित,
राम-भक्ति जग-जीवन विकसित।
मेधा - महि - गत वह जल पावन,
चला सिमटकर श्रवण सुभावन।
भरा सुमानस, शिथिल, थिराया,
सुखद - शीत रुचि - रुचिर चिराया।
दो.—सुठ सुन्दर सम्वादवर विरचा बुद्धि - विचार,
वे इस पावन सुभग सर घाट मनोहर चार।
चौ.—सप्त - बन्ध सोपान सुभग है,
ज्ञान - नयन - जन - मनके मग हैं।
महिमा हुई अगुण अबाध जो,
वरनूँगा कल जल अगाध वह।
सीता-वर-यश सलिल-सुधा-सम,
उपमा वीचि - विलास मनोरम।
पुरइन सघन चारु चौपाई,
युक्ति मञ्जु मणि - सीप सुहायी।

छन्द - सोरठे, सुन्दर दोहे,
वे वहुरङ्ग कमल - कुल सोहे।
अर्थ अनूपम, भाव, सुभापित,
वे पराग, मकरन्द सुवासित।
सुकृत-पुञ्ज-मञ्जुल-अलि - माला,
ज्ञान - विराग - विचार - मराला।
ध्वनि-अवरेव - कवित्त -जाति-गुण,
मीन मनोहर वहुविध सुनिपुण।
अर्थ - धर्म - कामादि चार हैं,
कहिए, ज्ञान, विचार - सार है।
नवरस जप - तप योग याग हैं,
वे सब जलचर इस तड़ाग है।
सुकृती साधु नाम - गुण - गायन,
वे विचित्र जल - विहग शुभायन।
सभा चतुर्दिक की अमराई,
श्रद्धा ऋतु वसन्तसम गायी।
भक्ति - निरूपण विविध विधानो,
क्षमा, दया, द्रुम, लता, वितानों;
संयम - नियम फूल - फल नाना,
हरि - पद-रति रस, यही वखाना।
और कथाएँ वहु - प्रसङ्ग है,
विविध-वर्ण शुक-पिक विहङ्ग हैं।
दो.—पुष्प-वाटिका वाग - वन सुख - सुविहङ्ग - विहार,
माली - सुमन - स्नेह - जल सींचें लोचन चारु।
चौ.—जो गाते हैं, चरित सँभाले,
वे इस ताल चतुर रखवाले।
सदा सुनें सादर नर - नारी,
वे सुरवर मानस - अधिकारी।
अतिखल जो विषयी वक - कागे,
इस सर जाते नही अभागे।
शम्बुक - भेक - सिवार उस सलिल,
नही विष्य - रस - कथा एक तिल।
इस कारण आते हिय हारे,
कामी काक - ८ ाक विचारे।
आते इस सर वड़ी कठिनता,
आ न जाय, पायी न यदि कृपा।

सङ्ग कठिन, पथ भी कराल है,
जन वचनों के व्याघ्र - व्याल हैं।
गृह के कार्य विरूप - माल है,
अति दुर्गम वे गिरि विशाल है।
वन वह विषम - मोह - ममता-मद,
नदी कुतर्क भयङ्कर निष्पद।
दो.—जो श्रद्धा - सम्बल - रहित, नहीं साधु का साथ,
उनको मानस अगम अति जिन्हें न प्रिय रघुनाथ।
चौ.—यदि मति उनको सम्मति देगी,
जाते जूडी - नीद लगेगी।
जाडा जडता का आता है,
गया नही मज्जन पाता है।
मज्जन - पान नही कर सकता,
फिर आता है बकता - बकता।
कोई अगर पूछने आया,
निन्दा करके उसे सुनाया।
रहा विघ्न का एक न लेखा,
हरि ने जिसे कृपा से देखा।
वही नहाता है सादर सर,
जलता नही ताप से दुस्तर।
तजते नही सरोवर वे नर,
जिनके भले भाव हरिपद पर।
चहे नहाना यदि तू इस सर,
तो सत्सङ्ग करे मन लाकर।
मन की आँखों मानस देखा,
कवि की खुली बुद्धि की रेखा।
उर - आनन्द - उछाह उडा है,
प्रेम - प्रमोद - प्रवाह जुड़ा है।
चली सुभग कविता सरिता - सी,
राम-विमल-यश - जल-भरिता-सी।
सरयू नाम, मूल मङ्गल की,
लोक - वेद - मत, कूल अमल की।
नदी नीत मानस - विनन्दिनी,
कलि-मल-तृण-तरु-मूल - कन्दिनी।
दो.—श्रोता त्रिविध समाज-पुर, ग्राम-नगर युग-कूल,
साधु-सभा अनुपम अवध, सकल सुमङ्गल-मूल।

चौ.—राम-भक्ति सुर-सरित् खिली है,
सरयू जैसे कीर्ति मिली है।
सानुज राम - समर - यश पावन
मिला महानद शोण सुहावन।
युग के मध्य देवधुनि - धारा,
हुई विरति की एक सहारा।
त्रिविध तापिका निज वल मल दी,
राम - स्वरूप - सिन्धु को चल दी।
मानस - मूल मिली सुरसरि से,
सुनते मन को पावन कर दे।
वीच - वीच है कथन विभञ्जित,
तीर - तीर वन - उपवन रञ्जित।
उमा - महेश - विवाह - वराती,
वे जलचर अगणित, वहु घाती।
राम जन्म - आनन्द - वधाई,
भ्रमर - तरङ्ग मनोहर आयी।
दो.—वाल - चरित वन्धुओं के, वनज विपुण वहुरङ्ग
नृप-रानी परिजन-सुकृत, मधुकर, वारि-विहङ्ग।
चौ.—धनुर्यज्ञ की कथा सुहायी,
नदी शोभिनी, छवि की छायी।
नौकाएँ वटु - प्रश्न लेख ले,
केवट उत्तर सही देख ले।
कथोपकथन परस्पर जो हो,
पथिक - समाज सरित्तट की वह।
परशुराम - रिस है धारा खर,
घाट सुवन्ध राम - वाणी - वर।
विहित विवाह - उछाह सहानुज,
सुख उमगा सवको अनेक - भुज।
कहते - सुनते हुलसे - पुलके,
नहा रहे हैं वही अतुल के।
राम - तिलक को सजे सुमङ्गल,
पर्वयोग के जुड़े सकल दल।
कैकेयी की मति काई है,
जिसके हेतु विपत पायी है।
दो.—शमन सकल उत्पात अति, भरत-चरित जप-याग,
कलि-अघ-खल-अवगुण-कथन, वे जल-मल वक-काग।

चौ.—सरिता-कीर्ति छहो ऋतुओं में,
सुभावनी पावनी दसों मे।
हिम-ऋतु गिरिजा-शिव-विवाह है,
शिशिर सुमन-जन-गण-उछाह है।
राम-विवाह-समाज कहेगे,
मंगलमय ऋतुराज रहेगे।
दुस्सह ग्रीष्म, विराग, गमन-वन,
पन्थ-कथा, खर-ताप, पवन-स्वन।
वर्षा घोर निशाचर-अरिता,
सुर-कुल-शालि-सुमंगलकरिता।
राम-राज्य-सुख, विनय, बड़ाई,
विशद सुखद वह शरद सुहायी।
सती-शिरोमणि-सीता-गुण-गण,
वही अमल अनुपम अवलम्बन।
भरत-स्वभाव, सुशीतल करनी,
सदा एकरस गयी न वरनी।
दो.—अवलोकन, वोलन, मिलन, प्रीति, परस्पर हास,
भायप चारो वन्धु का, जल-माधुरी, सुवास।
चौ.—आर्ति, विनय, दीनता हमारी,
लघुता-ललित सुवारि सवाँरी।
सुनते अद्‌भुत जल गुणकारी,
आस-प्यास-मानस-मलहारी।
राम-प्रेम से पोषित वह जल;
हरता है कलि-कलुष मनोमल।
भव-श्रम-शोषण तोप-वितोषण,
दुरित-दु.ख दारिद्र्य-विमोचन;
काम-क्रोध-मद-मोह-नाश को,
विमल-विवेक-विराग-वास को;
सादर मज्जन-पान कीजिए,
पाप और परिताप छीजिए।
जिसने वारि न मानस धोया,
उस कायर ने काल विगोया।
तृषित, देखकर किरणों को जल,
जीव-सदृश फिरते है मृगदल।
बृ. दो.—मति-अनुहारि-सुवारि-गुण गिनकर नहलाकर सुमन,
हर-गिरिजा को सुमरकर कहूँ कथा, समझें सुजन।

दो.—श्री-रघु पति-पद - पंकरुह उर लाकर मुरसादै,
कहूँ युगल मुनिवरो के मिलन-सुभग सम्वाद।
भरद्वाज - मुनि ने किये जैसे प्रश्न अनेक,
याज्ञवल्क ने जो दिये उत्तर, कहूँ सवेक।

चौ.—भरद्वाज - मुनि तीर्थराज के,
राम-चरण - अनुराग - साज के।
दया - निधान, तपस्वी, शम - दम-
धर्म-कर्म-पथ, महाज्ञान-रम।
होता है रवि माघ - मकर जव,
तीर्थराज जाते है जन सव।
देव - दनुज - नर - किन्नर - श्रेणी,
मज्जन करते सभी त्रिवेणी।
विमल पूजते है माधव - पद,
अक्षय - वट छूकर अति गद्गद।
भरद्वाज - आश्रम अति - पावन,
परमरम्य मुनिवर - मन - भावन।
ऋषि-समाज उस स्थल जाते है,
तीर्थराज जो जो आते है।
प्रात नहाते है उछाह से,
हरि - गुण गाते है सुराह से।

दो.—ब्रह्म - निरूपण, धर्म-विधि कहते है सविभाग।
तत्व - भक्ति भगवान की, निर्मल ज्ञान, विराग।

चौ.—इस विधि मकर नहाते है वे,
निज आश्रम फिर जाते है वे।
प्रति - वत्सर सानन्द नहाकर,
मुनिवर जाते है अपने घर।
एक वार भर - मकर नहाये
मुनिगण निज आश्रमों सिधाये।
याज्ञवल्क - मुनि मन-विवेक वर,
भरद्वाज ने रखा टेककर।
सादर चरण - सरोज पखारे,
शुभ आसन वैठाकर हारे।
पूजा की, मुनि - कीर्ति वखानी,
वोले अति पुनीत मृदुवाणी।
नाथ, एक सशय मेरे है,
करतल वेद - तत्व तेरे है।

कहते मेरा जी रोता है,
यदि न कहूँ, अकाज होता है।

दो.—कहते है, यह नीति, प्रभु, श्रुति-पुराण-विश्राव,
होता नही विवेक उर, गुरु से किया दुराव।

चौ.—यह विचारकर कहूँ मोह निज,
कहो, स्वजन पर करो छोह, द्विज।
नाम-प्रभाव अमित रहते हैं,
साधु - पुराण - वेद कहते है।
जपते है अविनाशी शङ्कर,
ज्ञानराशि भगवान गुणाकर।
आकर चार जीव जग के है,
काशी मरे, परमपद से है।
वह क्या हरि की महिमा मुनिवर,
जिससे शिव देते है उत्तर?
राम कौन, प्रभु, पूछूँ तुझसे,
कह करुणा करके तू मुझसे।
राम एक अवधेश - सुमन है,
उनका चरित विदित जन-जन मे।
नारी - विरह - दुःख उर धारा,
हुआ रोष रण रावण मारा।

बृ. दो.—वही राम या अपर जन, शङ्कर जपते है जिन्हें?
सत्यज्ञान सर्वज्ञ तुम, समझाओ सच-सच हमे।

चौ.—जिससे मिटे, मोह, भारी भ्रम,
कहो सविस्तर कथा मनोरम।
याज्ञवल्क बोले, मुसकाकर,
तुम्हे विदित, प्रभुता के रघुवर।
राम - भक्त मन-कर्म-वचन तुम,
समझे हम चतुराई विधुरुम।
गूढ़ - राम - गुण श्रवण करोगे,
मूढ़ प्रश्न करके सवँरोगे।
तात, सुनो, सादर मन लाकर,
कहूँ राम की कथा सुखाकर।
महामोह महिषेश - सदृश है,
राम - कथा कालिका अकुश है।
राम-कथा शशि-किरण मान लो,
साधु - चकोर, प्रकाश - पान लो।

गौरी को ऐसा ही संशय,
शङ्कर ने समझाया आशय।

दो.—कहूँ बुद्धि-अनुसार सब उमा - शम्भु - सम्वाद,
जिस कारण, जिस समय, वह, सुन मुनि मिटे विपाद।

चौ.—एक बार त्रेता - युग निस्पृह,
शम्भु गये कुम्भज ऋषि के गृह।
सङ्ग सती, जननी संसृति की,
पूजा ऋषिवर ने, आरति की।
कही कथा मुनि ने साराधन,
सुनी महेश्वर ने पावन - मन।
पूछी ऋषि ने भक्ति, सुहायी,
कही शम्भु ने, रति अधिकाई।
हरि - गुण - गाथा कहते - सुनते,
शिव के दिन बीते सुख बुनते।
मुनि से मागी विदा सुवाणी,
चले भवन शिव, सङ्ग भवानी।
उस अवसर महिभार - विभञ्जन,
हरि अवतरे राम रघुनन्दन;
पिता - वचन से राज्य छोड़कर,
विहर रहे थे दण्डक - वन वर।

बृ. दो.—हृदय सोचते 'गये हर, कैसे हो दर्शन परम,
गुप्त रूप अवतरे प्रभु, जान गये सब जन सुषम।

सो.—शङ्कर-उर अति-क्षोभ, सती न जाने मर्म वह,
तुलसी दर्शन-लोभ, मन डर, लोचन लालची।

चौ.—लिया मरण रावण ने नर-कर,
करना चाहा हरि ने विधिपर।
जाऊँ न, रहेगा पछतावा,
बना न करते एक बनावा।
इस विधि हुए सोचवश ईश्वर,
इसी समय आया दशकन्धर।
लिये नीच मारीच सङ्ग निज;
कपट-कुरङ्ग हुआ वह अद्विज।
हरी जानकी किया गूढ़ छल,
विदित मूढ़ को रहा न प्रभु-बल।
वधकर बन्धुसहित प्रभु आये,
आश्रम शून्य, नयन जल छाये।

विरह-विकल नर-इव रघुनायक,
फिरे खोजते, बन्धु सहायक।
जिसके योग-वियोग नहीं है,
प्रकट विरह का दुख वहीं है।
दो.—अति-विचित्र रघुपति-चरित, जानें परम सुजान,
जो मति-मन्द विमोह-वश, हृदय धरें कुछ आन।
चौ.—लखा राम को शिव ने उस क्षण,
उपजा हृदय हर्ष अविशेषण।
लोचन भरकर छवि का सागर
देखा; असमय; मिले न सादर।
जय सच्चिदानन्द, जग-पावन,
कहकर चले मनोभवदावन।
साथ सती के, चलते शङ्कर,
पुलकित होते हैं अन्वन्तर।
देखी दशा सती ने शिव की,
उपजा उर सन्देह, पत गयी।
शङ्कर जगद्वन्द्य परमेश्वर,
नाते हैं सिर सुर-नर-मुनिवर।
नृप के सुत को सीस झुकाया,
कहकर सच्चित्, तेरी माया।
हुए मग्न उनकी छवि में वे,
प्रीति नहीं रहती उर जैसे।
दो.—ब्रह्म विश्वमय विरज अज, निर्गुण अकल अभेद,
क्या तनु लेकर नर वही जिसे न जाने वेद?
चौ.—विष्णु देव-हित नर-तनु धरकर,
हैं सर्वज्ञ यथा त्रिपुरेश्वर।
खोजेंगे क्या वे भी नारी,
जैसे अज्ञ, ज्ञान-गुणधारी?
पुनः न होगी मृषा शिव-गिरा,
उनको कहते हैं ब्रह्मशिरा।
यह संशय आया गौरी-मन,
हुआ न हृदय प्रबोध-प्रचारण।
जब भी वह वाणी मन गुन ली।
हर अन्तर्यामी ने सुन ली।
सुनो, सती, नारी-स्वभाव है,
संशय आया है, दुराव है।

वही कथा कुम्भज ने गायी,
मैने जिनकी भक्ति सुनायी।
मेरे इष्ट वही रघुवर है,
मुनिवर जिनकी सेवा पर है।
छन्द—मुनि-धीर - योगी - सिद्ध सन्तत विमल-मन ध्यायें जिन्हे,
कहकर 'नही' आगम-निगम अति कीर्ति से गायें जिन्हें;
वे राम व्यापक - ब्रह्म भुवन - निकाय - पति माया-धनी,
अवतरे अपने भक्त-हित निज-तन्त्र नित रघुकुल-मनी।
सो.—लगा न उर उपदेश, यद्यपि शिव ने बार बहु,
कहा "धन्य अखिलेश, तव माया, भावी प्रबल।
चौ.—"यदि अतिशय सन्देह हुआ मन,
तो चलकर कीजिए परीक्षण;
"तब तक बैठा वट - छाया - तल,
लौट आइएगा फिर इस स्थल।
"जिससे मिटे अपार मोह-भ्रम,
यत्न कीजिए सह-विवेक-श्रम।"
चली सती शिव - आज्ञा पाकर,
किया विचार, "करूँ क्या" जाकर।
यहाँ शम्भु ने सोचा मन तब,
दक्षसुता का नही कुशल अब।
कहने पर भी गया न संशय,
विधि विपरीत, रहा भय ही भय।
कहे कौन, होगी विधि - भाषा,
करे कुतर्क, बढ़ाये शाखा?
कहकर जपने लगे निरत - मन,
गयीं सती प्रभु जहाँ सुखासन।
दो.—फिर-फिर हृदय विचारकर धरकर सीता-रूप,
आगे आयी सामने जिस पथ थे सुर-भूप।
चौ.—लक्ष्मण यह कृतवेश देखकर
चकित हुए उर भ्रम विसेखकर,
अति गम्भीर नही कुछ बोले,
राम-प्रभाव न पथ से डोले।
सती - कपट जाना रघुवर ने
समदर्शी सब के अन्तर ने।
जिनके स्मरण मोह मिटता है,
वही राम, कर तम पिटता है।

किया सती ने कपट वहाँ भी,
यह नारी जो मनोरमा भी।
निज माया-बल हृदय जानकर
बोले मृदु मुसकाकर रघुवर,
हाथ जोड़कर, नत - प्रणाम - पर,
नाम पिता का, अपना लेकर,
"कहिए, कहाँ शम्भु भव-तारण ?
विपिन अकेली हो, किस कारण ?"

दो.—सुने वचन मृदु-गूढ़ अति, उपजा उर सङ्कोच,
सती, भीत, शिव के निकट, चली, हृदय अति सोच।

चौ.—"मैंने शिव का कहा न माना,
निज अज्ञान राम पर आना।
"चलकर मैं दूंगी क्या उत्तर ?"
उपजा दारुण दाह मानहर।
समझे राम सती का वह दुख,
प्रकट प्रभाव किया कुछ सम्मुख।
चलते हुए सती ने देखा,
राम, लखन, सीता की रेखा।
देखा फिर पीछे भी फिरकर,
बन्धु - सहित सीता है घिरकर।
समासीन जिस ओर निहारा,
मुनि प्रवीण के सेवित तारा।
देखे शिव - विधि - हरि अनेक - से,
अमित - प्रभा - बल एक एक से।
चरण - कमल - सेवा करते हैं,
सुरगण विविध वेश धरते हैं।

दो.—सती विधात्री इन्दिरा, देखी अमित अनूप,
जिस-जिस वेश अजादि सुर, उस-उस तनु अनुरूप।

चौ.—जहाँ - जहाँ रघुपति जितने है,
शक्ति - सहित सुर भी इतने है।
जीव - चराचर विश्व - हार के,
देखे सकल विविध प्रकार के।
देव पूजते हैं बहु - भूषण,
देखा अन्य न राम विदूषण।
देखे रघुपति भी अनेक - से
सीता - सहित, न विविध वेश के।

वही राम, लक्ष्मण, सीता है,
सती देखकर अति भीता हैं।
हृदय-कम्प, सुध तनक न तन की,
नयन मूदकर मग पर बैठी।
दृग उघारकर अवलोका फिर
देखा दृश्य न कोई स्थिर-चिर।
फिर-फिर हरि को सीस झुकाकर,
चली जहाँ वट - छाया - तल हर।
दो.—गयी समीप, महेश ने पूछी कुशल सुगात,
किया परीक्षण किस तरह, सत्य कहो सब बात।
चौ.— मन मे राम - प्रभाव समझकर,
किया दुराव सती ने पति - डर।
किया परीक्षण कुछ न गुसाई;
किया प्रणाम आपकी नाई।
कहा आपने, सत्य समुच्चय,
मेरे मन प्रतीति अब अतिशय।
शङ्कर ने मूदे दृग देखा,
सती-चरित का सच-सच लेखा।
फिर हरि - माया को सिर नाया,
जिसने सहज असत्य कहाया।
हरि - इच्छा, भावी, जग हारा,
हर ने अपने हृदय विचारा।
लिया - सती ने सीता का तन,
शिव-उर हुआ विषाद-विशेषण।
करूँ सती मे प्रीति और अब,
फैलेगी अनीति साधन - मग।
दो.—परम - प्रेम छुटता नही, करने पर अति पाप,
कहते नही महेश कुछ, हृदय अधिक सन्ताप।
चौ.—अस्तु शम्भु ने सीस झुकाया,
राम - स्मरण से उर यह आया।
नही सती से मिलना इस तन,
शङ्कर ने सङ्कल्प किया मन।
यह विचारकर हर अविचल - मति
चले भवन जपते श्री रघुपति।
गगन हुई यह गिरा सुहायी,
जय महेश, यह भक्ति दृढ़ाई।

करे कौन जन जग ऐसा पण,
राम - भक्त तुम वसुधा पावन,
गगन - गिरा से सोच सती - उर,
पूछा शिव से उसका अङ्कुर।
किया कौन पण, कहो, कृपासव ?
सत्य - धाम तुम सदा महाद्रव।
बार - बार गौरी ने पूछा,
शङ्कर का उत्तर था छूँछा।

दो.—सती - हृदय अनुमान यह, जान गये सर्वज्ञ,
किया कपट क्या शम्भु से, नारी जड़मति अज्ञ।

सो.—विकता है पयसम सलिल, देख प्रीति की रीति क्या,
फटता है जब है अमिल, कपट-खटाई जब पड़ी।

चौ.—हुआ सोच, समझी निज करनी,
चिन्ता समधिक, गयी न बरनी।
कृपा - सिन्धु शङ्कर अगाध - धन,
प्रकट न वह अपराध कहा कन।
पति का रुख देखकर भवानी,
तजा, सोचकर उर अकुलायी।
कुछ न कहा, अघ हुआ सोचकर
आँवा जैसा तपा हृदय वर।
जाना शिव ने सोच सती का,
बोले जिससे हो दुख फीका।
सुनो, सती, इतिहास पुरातन,
कहते चले निवास - निष्ठ - मन।
पहुँचे हिम - गिरि, सोचा निज पण,
बैठे शिव वट - तल कमलासन।
हर ने सहज स्वरूप सँभाला,
लगी समाधि अखण्ड अनाला।

दो.—रहा वास कैलास में, सती-सोच, कुम्हलाय,
मर्म न जाना किसी ने, युगसम दिवस सिराय।

चौ.—सती - शोक - सम्भार नित्य नव,
दुख - सागर के पार जायँ कब।
रघुपति का अपमान किया जो,
शङ्कर - प्रवचन मेट दिया जो,
वह फल दिया मुझे धाता ने,
अशिव न रखा किसी पाता ने।

अब, विधि, यह न चाहिए तुझको
शङ्कर - विमुख जिलाये मुझको।
ग्लानि हृदय की कही न जाती,
राम - स्मरण करके सकुचाती।
यदि प्रभु दीन - दयालु कहाये,
आर्तिहरण, वेदों के गाये,
तो मैं विनय करूँ संयुग - कर,
छूटे वेग देह यह नश्वर।
यदि मेरे शिव - चरण स्नेह है,—
कर्म - वचन - मन सत्य - गेह है,

दो.—तो समदर्शी सुनें प्रभु, करें वेग सदुपाय,
मरण-वरण हो बिना श्रम, असह विपत मिट जाय।

चौ.—इस विधि दुःखित दक्ष - कुमारी,
दारुणता अति, छन - छन हारी।
सत्तासी - सहस्र सम्वत्सर
बीते, जगे शम्भु अविनश्वर।
करते राम - नाम - उच्चारण,
समझी सती जगे भवतारण।
चलकर वन्दन किया शम्भु - पद,
शिव ने सम्मुख किया सभासद।
कहने लगे कथा हरि की शुभ,
दक्ष प्रजेश हुए उस नव युग।
देखा विधि ने, वे सब लायक,
उनको किया प्रजा का नायक।
यह अधिकार दक्ष ने पाया,
अति अभिमान हृदय में आया।
जग मे ऐसा नहीं सभासद,
प्रभुता से जिसको न हुआ मद।

दो.—मुनि बुलवाये दक्ष ने, करने लगे सुयाग,
न्यौते सादर सकल सुर, जो पायें मख - भाग।

चौ.—किन्नर - नाग-सिद्ध - सुर-मुनि-गण,
वधुओं सहित चले वर - वाहन।
विष्णु - विरिञ्चि - महेश छोड़कर,
चले सकल सुर यान जोड़कर।
व्योम - विमान सती ने देखे,
चले जा रहे है सुर, लेखे।

गीत हो रहे है गुनियों के,
ध्यान छूटते हैं मुनियों के।
पूछा शिव से, बोले गुनकर,
पितृयज्ञ है, हरपी सुनकर।
आज्ञा मुझको देंगे शिव यदि,
इस मिस वहाँ रहूँगी सुखवधि।
पति - परित्याग, हृदय भारी दुख,
कहे न निज अपराध सदुन्मुख।
बोली सती मनोहर वाणी,
भय - सङ्कोच - प्रेम - रस - सानी।
बृ. दो.—पिता-भवन उत्सव परम, यदि मुझको आदेश हो,
तो मैं जाऊँ देखने, शत-शत वन्दन आपको।
चौ.—कहा भला, मुझको भी भाया,
पर अनुचित, न्योता न पठाया।
सभी बेटियों को बुलवाया,
बैर हमारे, तुम्हें भुलाया।
ब्रह्म - सभा हमसे दुख पाया,
सो अबतक अपमान कराया।
यों कोई महिला गवनेगी,
शील, न स्नेह, न कान रहेगी।
यद्यपि मित्र, पिता, गुरु के घर
बिना बुलाये चलिए सत्वर
फिर भी जो बैर की मही है,
वहाँ गये कल्याण नही है।
हर ने बहुत प्रकार बुझाया,
भावी - वश न ज्ञान उर आया।
पति ने कहा कि बिना बुलाये,
नही भला, चलिए जिस भाये।
बृ. दो.—देखा करके यत्न बहु, दक्ष-सुता मानी नही,
मुख्य गणों के सङ्ग वे आज्ञा से चलती हुईं।
चौ.—पिता - भवन जब गयी भवानी,
मर्यादा न किसी ने मानी।
माता एक, मिली जो सादर,
मगर भगिनियाँ मन मुसकाकर।
दक्ष ने न पूछी अच्छाई,
सहम गये कुल लोग - लुगाई।

सती चली वह याग देखती,
कहीं न हर का भाग देखती।
चढ़ा चित्त पर पति का कहना,
अति अपमान, न भाया रहना।
पिछला दु.ख न इतना आया,
जितना यह परिताप समाया।
नाना दुःख धरा पर यद्यपि,
जाति न सम्मानित, सबसे अति।
अतः सती के पड़े भाल बल,
समझाया जननी ने नत-पल!

दो.—शिव-अपमान, न सह गया, हुआ न हृदय प्रबोध,
सकल सभा हठ हटककर, बोलीं वचन सक्रोध।

चौ.—समझो कैसा किया इन्होने,
शङ्कर-निन्दा सुनी जिन्होने;
मुनियो, वह फल सभी लहोगे,
पछताकर सब भाँति रहोगे।
पिता हाथ मलकर न बचेंगे,
ऐसी रचना भक्त रचेंगे।
हरि-हर-सज्जन जहाँ अनादृत,
जिससे ऐसा अनृत हुआ कृत,
उसकी, जीभ काटिए यदि वश,
भगिए कान मूदकर, अन्यस।
जगदात्मा त्रिपुरारि महेश्वर,
सबके हित के हित सर्वेश्वर।
पिता मन्द, करता है निन्दन;
दक्ष-शुक्र-सम्भव है यह तन;
इसीलिए यह देह तजूंगी,
चन्द्रमौलि वृषकेतु भजूंगी।
कहकर अग्नि जलाया वह तन,
हाहाकार उठा मुनिकेतन।

बृ. दो.—सती-मरण से शम्भु-गण, यज्ञ-ध्वंस करने लगे,
भृगु ने देखा, गणों को विनय-सहित वरने लगे।

चौ.—सुना शम्भु ने सम्वाद सकल,
वीरभद्र को भेजा उस स्थल।
किया यज्ञ-विध्वंस उन्होंने
दिया सुरों को अंश उन्होने।

दशा दक्ष की वही हुई अब
शम्भु - विमुख की जैसी है जग।
यह इतिहास सभी ने जाना,
मैंने अति अल्प मे बखाना।
मरते, हरि से माँगा यह वर,
सती रहूँ मै, सेऊँ शङ्कर।
इसीलिए वे हिमगिरि के घर,
जनमी गिरिजा का तनु पाकर।
जब से उमा शैलगृह आयी,
सकल सिद्धियाँ गिरि पर छायी।
रचे वहाँ मुनियो ने आश्रम,
दिये वास भूधर ने उत्तम।
दो.—सदा सुमन-फल-सहित सब, द्रुम नव नाना-जाति;
प्रकटे सुन्दर शैल पर, मणि-आकर बहु-भाँति।
चौ.—सरिताएँ कल जल बहती है,
चिडियाँ सभी सुखी रहती है।
सहज वैर पशुओ ने छोडा,
निर्भय बिचर रहा है जोड़ा।
सोहा गिरि, गिरिजा आयी है,
जन ने राम-भक्ति पायी है।
नित्य नये उसके गृह मङ्गल,
ब्रह्मा गाते है यश उत्कल।
समाचार नारद ने पाये,
कौतुक ही हिम-गेह सिधाये।
शैल-राज ने किया समादर,
आसन दिया चरण पखारकर।
स्त्री के साथ भूमि सिर नाया,
चरण-सलिल सब भवन सिचाया।
अपना भाग्य बहुत वर्णन कर,
सुता बुलाकर मेली पद पर।
बृ. दो.—त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ तुम, प्रगति तुम्हारी विश्वभर;
कहो सुता के दोष-गुण, मुनिवर हृदय बिचारकर।
चौ.—मुनि ने कही गूढ-मृदु वाणी
सुता तुम्हारी सब-गुण-खानी।
सुन्दर, सहज-सुशील, सयानी,
नाम उमा, अम्बिका, भवानी।

सब लक्षण - सम्पन्न कुमारी,
होगी यह प्रियतम को प्यारी।
सदा अचल अहवात रहेगा,
लोक-बाप-माँ को जस देगा।
जग में उसकी पूजा होगी,
सेवक कभी न होगा रोगी।
उसका लेकर नाम विश्वजन,
स्त्री को देंगे पतिव्रत पावन।
शैल, सुलक्षण सुता तुम्हारी,
कुछ अवगुण है, मैं बलिहारी।
अगुण, अमान, न रहे बाप-माँ,
उदासीन, निःसंशय, गणना।

दो.—योगी, जटिल, अकाम-मन, नग्न अमङ्गल वेश;
ऐसा स्वामी मिलेगा, कर-रेखा निर्देश।

चौ.—मुनि के वचन न मृषा मानकर,
दुख दम्पति को, उमा प्राण-पर।
नारद ने भी भेद न जाना,
दशा एक समझे बिलगाना।
गिरिजा, गिरि, मेना, वनिता-दल,
पुलक-शरीर, भरे लोचन जल।
मृषा नही देवर्षि के कथन,
रखे उमा ने हृदय वे वचन।
शिव-पद-कमल-स्नेह अति उपजा,
मिलन कठिन, सन्देह मन जगा।
जाना असमय, प्रीति दुराई,
सखी - गोद बैठी, मुसकाई।
झूठ नही नारद की वाणी,
सोचें दम्पति, सखी सयानी।
रखकर धैर्य कहा गिरिपति ने,
किस उपाय रहिए, किस मति में ?

वृ. दो.—कहा मुनीश्वर ने सुनो, लिखा भाल विधि ने यथा,
देव, दनुज, नर, नाग, मुनि, किसी से न वह अन्यथा।

चौ.—फिर भी एक उपाय कहूँगा,
दैव सहाय तो कर गुजरूंगा।
जैसे वर की हुई वर्णना,
निस्संशय है उसी की उमा।

जो - जो दोष कहे है वर के,
वे सब, अनुमाने है, हर के।
यदि विवाह होगा शङ्कर से,
सम गुण-दोष हुए अम्बर के।
हरि अहि-सेज-शयन करते है,
दोष न मन बुधजन धरते है।
भानु-कृशानु सर्व - रस - ग्राही,
सब ने उनकी शक्ति सराही।
सलिल शुभाशुभ जो बहती है,
वह सुरसरि पवित्र रहती है।
दोष नही समर्थ को वैसे,
रवि-पावक सुरसरि को जैसे।
दो.—ऐसी हिस्का करेगा जो नर जड़ अज्ञान,
नरक कल्पभर पड़ेगा; जीव न ईश-समान।
चौ.—सुरसरि के जल बनी वारुणी,
पियेंगे न वह सन्त आरुणी।
सुरसरि से मिलकर वह पावन,
ईश - अनीश - भेद - सम्भावन।
शम्भु समर्थ सहज जगदीश्वर,
इस विवाह कल्याण सुअवसर।
दुराराध्य लेकिन महेश हैं,
आशुतोष भी, किये क्लेश, है।
अगर कुमारी तपश्चरेगी,
तो पुरारि को सत्य वरेगी।
यद्यपि जग मे है अनेक वर,
इसको नही, विना-शङ्कर-हर।
वर दायक, प्रणतार्ति - विभञ्जन,
कृपा-सिन्धु, सेवक-जन-रञ्जन।
इच्छित सुफल, विना-शिव-राधन,
मिला न, कोटि योग-जप-साधन।
दो.—यह कहकर हरि सुमरकर, दी उर की आशीष,
होगा अब कल्याण, कुल संशय तजो गिरीश।
चौ.—मुनि कहकर हरि-भवन सिधाये,
अगले चरित सुनो, यों आये।
पति एकाकी, मेना आयी,
कहा, न थाह बात की पायी।

यदि घर-वर-कुल का निवाह है,
तो गिरिजा का शुभ विवाह है;
नहीं, सुता क्वारी की क्वारी,
गिरिजा प्राणों से भी प्यारी।
उमा को न यदि मिला योग्य वर,
गिरि जड, समझेगे नारी-नर।
यह विचारकर व्याह कीजिए,
ताकि न उल्टे दाह लीजिए।
यह कहकर सिर रखा चरण-तल,
वोले गिरि पत्नी से अविचल—
शशि से आग निकल सकती है;
नारद-बात, कि टल सकती है?
दो.—प्रिये, सोच सब छोड दो, सुमरो श्री-भगवान,
देते है जो उमा को, करते है कल्याण।
चौ.—तुम्हें सुता पर स्नेह अगर है,
उसे सीख दो, यही सुघर है;
तप वह करे, मिले शङ्कर-वर,
अपर उपाय न क्लेश मिटा खर।
नारद-वचन सगर्भ, सहैतुक,
हर सुन्दर वर, गुण-निधि, कौतुक।
यह विचारकर शङ्का छोडो,
शङ्कर निष्कलङ्क, मन जोड़ो।
पति की वात सुनी, हरषी मन,
चली क्षिप्र-गति उमा-निकेतन।
देखी उमा, नयन-जल-माला,
स्नेह - समेत गोद बैठाला।
वार-वार निज हृदय लगाया,
गद्गद-कण्ठ, न कुछ कह आया।
विश्वमयी सर्वज्ञ भवानी,
वोली मातृ-सुखद मृदु वाणी।
वृ. दो.—माता सुनिए, स्वप्न मे देखा जो मैंने, कहूँ;
सुन्दर गौर सुविप्र के उपदेशो मै अव रहूँ।
चौ.—करे तपस्या शैल - कुमारी;
सत्य वात नारद की सारी।
यह मत माता को भी भाया,
सुखप्रद तप; दुख - दोष नसाया।

तप - बल रचे प्रपञ्च विधाता,
तप - बल विष्णु सकल-जग-त्राता।
तप - बल रुद्र विश्व - संहारक,
तप-बल शेष भार - महि - धारक।
तप - आधार सृष्टि, प्रिय वर्षण,
कही न गयी तपस्या, हर्षण।
सुनकर वचन हुई मा विस्मित,
स्वप्न सुनाया गिरि को सस्मित।
माँ - बाप को बहुत समझाकर,
चलीं उमा तप को हरषाकर।
प्रिय परिजन, माता घबरायी,
हुई विकल, मुख बात न आयी।

बृ दो.—वेदशिरा मुनि गये तब, सबको समझाकर कहा,
महिमा गिरजा की विमल सुनी, कही सबने, अहा।

चौ.—उर मे उमा प्राण-पति के पद,
रखकर तपने लगी विनिर्मद।
अति सुकुमार, न तप - लायक तन;
पति - पद सुमरे, तजे भोगगण।
नव अनुराग नित्य उपजा पद,
तप मन लगा, हुआ तन गद्गद।
वर्ष सहस्र मूल - फल खाये,
शत फिर शाकाहार बिताये।
कुछ दिन भोजन वारि-समीरण,
किये उपास कठिन-कुछ दिन वन।
सूखे वेलपत्र महि आये,
तीन सहस्र वर्ष वे खाये।
पर्ण छोड़कर हुई विवर्णा,
उमा - नाम तब पड़ा अपर्णा।
उमा हुई जब तप - क्षीण - तन,
घहरी ब्रह्म - गिरा उस नभ घन—

दो.—हुआ मनोरथ सफल तव सुन गिरिराज - कुमारि,
परिहर दुःसह क्लेश सब, आयेंगे त्रिपुरारि।

चौ.—ऐसी हठ न किसी ने ठानी,
हुए अनेक धीर मुनि - ज्ञानी।
रक्खो हृदय ब्रह्म - वर - वाणी,
जिसके प्रति रति शुचितम जानी।

आयें पिता बुलाने को जब,
हठ परिहरकर घर जाना तब।
मिलें तुम्हें जब सप्तर्षीश्वर,
समझो सप्रमाण वागीश्वर।
सुनी गिरा जब वह नभ-छायी,
पुलक गात गिरिजा हरषायी।
उमा - चरित मैंने गाया है,
सुनो शम्भु का, जो भाया है।
तजा सती ने जिस क्षण से तन,
उपजा अति विराग शिव के मन।
राम - नाम जपते रहते है,
गुण सुनकर तपते रहते है।
दो.—चिदानन्द, सुख धाम शिव विगत-क्रोध-मद-काम,
विचर रहे है हृदय हरि सकल - लोक - विश्राम।
चौ—कही ज्ञान मुनि को देते है,
कही ज्ञान से गुन लेते है।
हैं अकाम, फिर भी भगवत्पद;
भक्त - विरह से हुए वशम्वद।
वहुत काल वीता ऐसे ही,
नित्य राम - पद - पङ्कज - स्नेही।
प्रेम - नियम शङ्कर का देखा,
अविचल खिची भक्ति की रेखा;
प्रगटे राम कृतज्ञ कृपामय,
रूप - शील - निधि तेज - सदाशय।
शङ्कर को वहुरूप सराहा,
नियम तुम्ही ने कठिन निवाहा।
वहुत प्रकार पुनः समझाया,
गिरिजा का जब जन्म सुनाया।
अति - पवित्र गिरिजा की करनी,
सविस्तार शङ्कर से वरनी।
दो.—विनय हमारी सुनो शिव, यदि हम पर अति स्नेह,
चलकर ब्याहो उमा को, रहो न अधिक विदेह।
चौ.—यद्यपि मुझको नही उचित यह,
मिटा नही सकता मैं आग्रह।
सिर पर है आदेश तुम्हारा,
परम धर्म यह नाथ हमारा।

गुरु, प्रभु, माता, पिता के वचन,
बिना - विचार पालिए तत्क्षण।
सभी तरह मेरे हितकारी,
तुम, सिर आज्ञा नाथ तुम्हारी।
प्रभु तोषे शिव - सम्बोधन से,
भक्ति - विवेक - धर्म - रोपण से।
कहा, तुम्हारा ही पण है हर,
कर लेना अपना घर भास्वर।
अन्तर्धान हुए यह कहकर,
रही मूर्ति वह हर के अन्तर।
तब सप्तर्षि घुसे मुनिकेतन,
शोभन वचन किया सम्भाषण।
बृ. दो.—चलिए, गिरिजा हैं जहाँ, प्रेम-परीक्षा लीजिए;
गिरि को प्रेरित कर उन्हें निज घर आने दीजिए।
चौ.—ऋषियो ने देखा, छवि कैसी,
प्रतिमामयी तपस्या जैसी।
बोले मुनि, सुन, शैलकुमारी,
किस कारण है यह तप भारी?
किसको अवराधा, क्या चाहा,
सत्य कहो, क्यो यह जल थाहा।
सुनकर उनके वचन भवानी
बोली मधुर - मनोहर वाणी;
कहते मेरा वदन सिकुड़ता,
हँसिएगा सुनकर यह जडता।
सीख न सुनी, न कुछ भी माना,
चाहा जल पर भीत उठाना;
नारद का कहना सच माना,
बिना - पङ्ख खग चहा उडाना।
ऐसी मैं अविवेकी, कर्ता,
शिव, चाहती, सदा हों भर्ता।
दो.—सुनकर ऋषियो ने कहा, गिरि-सम्भव तव देह;
नारद के उपदेश से, बसा किसी का गेह?
चौ.—दक्षसुतों को यो उपदेशा,
भवन उन्होंने पुनः न देखा,
चित्रकेतु का भी घर घाला,
कनक - कशिपु से भी यह पाला।

नारद - उपदेशों नर - नारी,
भवन छोड़कर हुए भिखारी।
मन कपटी, तन सज्जन जाना,
उसका रूप नहीं पहचाना।
उसके वचन प्रतीति हुई मन,
चाहा उदासीन, अनिकेतन।
निर्गुण, निपट, कुवेश, कपाली,
अकुल, अगेह, दिगम्बर, व्याली।
कहो, कौन सुख ऐसे वर से,
अच्छी भूली ठग के कर से।
कहते हैं जन सती बिवाही,
शिव ने, फिर अपडरों मरा दी।
दो.—अब सुख सोते सोच क्या, भीख मागकर खायँ,
सहज इकाकी के भवन, नारी कभी खटायँ?
चौ.—अब भी मानों कहा हमारा,
हमने वर दूसरा विचारा।
अति-सुन्दर पति सुखद, शील-मति,
कहते है सब जन सलील-गति।
दोष - रहित सब गुण के न्यासी,
वे श्रीपति वैकुण्ठ - निवासी।
ऐसा सुघर मिलाएँ हम वर,
कहा भवानी ने तब हँसकर।
सत्य कहा, गिरि - सम्भव यह तन,
छुटे न हठ, छूटे बर जीवन।
कहा, कनक पत्थर का तोड़ा;
जलकर भी न सहज गुण छोड़ा।
नारद - वचन नहीं परिहरती,
उजड़े, बसे भवन, कब डरती?
गुरु के वचन प्रतीति नहीं है,
सपने भी सुख, सिद्धि लही है?
दो.—महादेव अवगुण - भवन, विष्णु सकल गुणधाम,
जिसका मन जिससे रमा, उसको उससे काम।
चौ.—यदि तुम मिलते पहले मुनिवर,
लेती सीख तुम्हारी सिर पर।
मैंने जन्म शम्भु - हित हारा,
किसने भी गुण - दोष विचारा?

अगर तुम्हारे हृदय बहुत हठ,
बाँधी है वरिष्ठता की रट,
तो कौतुकियो को क्या आलस ?
वर - कन्या अनेक जग में; बस।
कोटि जन्म तक रगड़ हमारी,
वरूँ शम्भु या रहूँ कुमारी।
नारद का उपदेश न छोड़ूँ,
कहें शम्भु सौ बार, न तोड़ूँ।
पैर पड़ूँ मैं, अम्बा बोली,
घर जाइए, देर भी हो ली।
प्रेम देखकर बोले मुनि - चय;
जगदम्बिके, भवानी, जय, जय।
दो.—तुम माया, भगवान शिव, सकल विश्व सञ्जात;
नाकर पद सिर, मुनि चले, फिर-फिर हर्षित-गात।
चौ.—हिमगिरि को भेजा ऋषियों ने,
घर लौटो, की विनय उन्होने।
सातो ऋषि शिव - आश्रम आये,
कथन उमा के सभी सुनाये।
हुए मग्न शिव स्नेह श्रवणकर,
गये गेह ऋषि हृदय - हर्ष भर।
शङ्कर ने फिर किया चित्त स्थिर,
करने लगे ध्यान हरि का चिर।
तारक असुर हुआ उस अवसर,
भुज - प्रताप, बल, तेज सुविस्तर।
उसने लोक, लोकपति जीते,
हुए देव धन - बल से रीते।
अजर - अमर वह, मरा न मारे,
विविध युद्ध लड़कर सुर हारे।
ब्रह्मा से पुकार सबने की,
देवों को सलाह विधि ने दी।
बृ. दो.—सबको समझाकर कहा, दनुज-निधन होगा सही;
शम्भु - शुक्र - सम्भूत सुत, इसको जीतेगा वही।
चौ.—कहना मानो तो उपाय है,
होगा यदि ईश्वर सहाय है।
तजा सती ने पिता - गेह तन,
जनमी वही हिमालय के वन।

किया कठिन तप शिव-पति के हित,
शिव समाधि बैठे संयत - चित।
यद्यपि असमञ्जस है भारी,
बात एक यह सुनो हमारी।
भेजो, काम जाय शिव - आश्रम,
करे क्षोभ उनके मन सोद्यम।
तब हम चलकर सीस झुकाकर,
ब्याह करायेंगे बरियाकर।
इस विधि हो सकता है साधन,
अच्छा मत है, बोले सब जन।
स्तुति की देवों ने विनीत - मन,
प्रगटे विपम - बाण झष - केतन।
दो —कही विपत निज सुरों ने, मन में किया विचार,
नही कुशल शिव - रोध से, हसकर बोले मार।
चौ.—फिर भी काम करेंगे, ज्यो द्रुति,
परम धर्म उपकार, यही श्रुति।
परहित मे जो तजते है तन,
करते है जन उनका शंसन।
यह कहकर सबको सिर नाकर,
सुमन - धनुप कर चले सुहाकर।
चलते यह मति हृदय विचारी,
शिव - विरोध ध्रुव मृत्यु हमारी।
तब अपना प्रभाव फैलाकर,
किया विश्व को अपना अनुचर।
कोपे जभी वारिचर - केतन,
मिटे सकल श्रुति - सेतु उसी क्षण।
ब्रह्मचर्य, व्रत, संयम नाना,
धैर्य, धर्म, विज्ञान, न माना।
सदाचार, जप, योग न जागा,
समय विवेक - कटक सब भागा।
छन्द—भागा विवेक सहाय-सहित कि कटक जितने, महि मुड़े,
सद्ग्रन्थ पर्वत-कन्दरो चलकर कि उस अवसर दुरे।
करतार भूला, होनहार सजीव, जग खरभर पड़ा,
दो-माथ नत, रतिनाथ का तिर्यक-दृगों धनुशर चढ़ा।
दो.—जो सजीव जग, चर, अचर; नारि-पुरुष के नाम,
वे तजकर मर्याद निज, हुए सभी वश - काम।

चौ.—सबके हृदय मदन - अभिलाषा,
झुकी लता लखकर तरु - शाखा।
नदी पयोनिधि को द्रुत धाई,
मिले परस्पर ताल - तलाई।
ऐसी दशा जड़ों की बरनी,
कौन कहे फिर चेतन - करनी ?
पशु-पक्षी जल - स्थल - नभ के चर,
हुए कामवश समय भूलकर।
छन्द—हैं कामवश योगीश-तापस, पामरों की क्या कथा ?
देखें चराचर नारिमय जो ब्रह्ममय थे सर्वथा।
अबला त्रिलोकें पुरुषमय जग पुरुष अबलामय रहा।
दो दण्ड तक ब्रह्माण्ड में यह काम-कृत कौतुक महा।
सो.—रहा न कोई धीर, सबके मन मनसिज-हरे,
जिनके उर रघुवीर, वे उबरे इस काल जग।
चौ.—हुआ उभय घटिका यह कौतुक,
गया काम जबतक शिव-सम्मुख।
हर को देखा, छूट गयी वृति,
हुई यथास्थिति सारी संसृति।
हुए विश्व के जीव सुखाले,
जैसे मद - उतरे मतवाले।
हर को लखकर मदन गया डर,
दुराधर्ष, दुर्गम, विश्वेश्वर।
फिरते लाज, न कुछ कह जाती,
ठाना मरण, उपाय विघाती।
ऋतुराज की रुचिरता साजी,
कुसुमित नव-तरु-राजि बिराजी।
वन, उपवन, वापी, तड़ागचय,
परम - सुभग दिग्भाग नवल - वय।
जहाँ तहाँ अनुराग जगा है,
मरे हृदय भी मार लगा है।
छन्द—जागा मनोभव मुए-मन वन-सुभगता न गयी कही;
शीतल सुगन्ध सुमन्द मारुत मदन अनल-सखा सही,
विकसे कमल बहु रङ्ग गूंजे पुञ्ज, मञ्जुल मधुकरा,
कल-हस-पिक-शुक-सरस-रव, नव-गान, नाची अप्सरा।
दो.—सकल कलाएँ कीं, मगर हारा सैन्य समेत;
डिगी न अचल समाधि वह, काँपा हृदय-निकेत।

चौ.—निपट-रसाल-विटप-वर-शाखा,
उस पर चढ़ा मदन मन-माखा।
सुमन - चाप पर शर सन्धाने,
अति-रिस, तका, कान तक ताने।
छोड़े विषम वाण, उर लागे,
छूटी समाधि, शम्भु तव जागे।
क्षोभ हुआ सविशेष ईश - मन,
देखा सव दिशि खोलकर नयन।
सौरभ - पल्लव मदन देखकर,
कोपे हर, काँपे लोकेश्वर।
शिव ने खोला ज्ञान का नयन,
क्षार मार हो गया उसी क्षण।
हाहाकार उठा जग में भय,
घवराये सुर, असुर सुखाशय।
हुए शोकवश कामुक भोगी,
निष्कण्टक साधक - कुल, योगी।
छन्द—योगी अकण्टक हुए, रति, पतिगति सुनी मूर्छित हुई,
रोयी, कहा वहुभाँति, करुणा की, महेश्वर-ढिग गयी।
अति-भक्ति, सविनय, विविध-विध, कर जोड़कर सम्मुख रही
प्रभु आशुतोष, कृपालु शिव, अवला लखी, वोले सही।
दो.—अव से, रति, तव नाथ का होगा नाम अनङ्ग;
व्यापे वपु के विना भी, सुन निज मिलन-प्रसङ्ग।
चौ.—जव यदुवंश कृष्ण उतरेंगे,
महाकार महिभार हरेंगे।
कृष्ण - तनय होगा तेरा पति,
वचन सत्य, अन्यथा न हो मति।
गौनी रति सुनकर हर - वाणी,
इधर कथा यह अपर वखानी।
समाचार देवों ने पाये,
ब्रह्मादिक वैकुण्ठ सिधाये।
सव सुर, विष्णु, विरिञ्चि, सजे-मन,
गये जहाँ शिव कृपा - निकेतन।
पृथक-पृथक की स्तुति जोड़े कर,
हुए प्रसन्न चन्द्र - मौलीश्वर।
वोले कृपा-सिन्धु भव - तारण,
कहो अमर, आये किस कारण?

विधि ने कहा, जानते हैं सब,
फिर भी मैं कहता हूँ कुल अब:—
दो.—सभी सुरों के हृदय यह, बड़ा हुआ उत्साह,
निज आँखों देखें विशद, नाथ तुम्हारा व्याह।
चौ.—देखें उत्सव भरकर लोचन,
वैसा करो मदन-मद-मोचन।
रति को वर, काम को जलाकर;
हुआ नाथ, यह अतिशय सुन्दर।
साँसत, फिर यह जो प्रसाव है,
प्रभुओं का अति सहज भाव हैं।
गिरिजा ने तप किया कठिन तम,
अङ्गीकार कीजिए, अनुपम।
सुनकर विधि की विनय समझकर
ऐसा ही हो, बोले स्मरहर।
देवों ने दुन्दुभी बजायी,
बरसे सुमन, विजय सरसायी।
अवसर हुआ, सप्त, ऋषि आये;
विधि से गिरि-गृह गये पठाये।
पहले गये जहाँ थी गिरिजा,
मधुर वचन बोले, छल सिरजा।
दो.—कही हमारी की नहीं, नारद के उपदेश,
हुआ तुम्हारा झूठ पण, हुए अकाम महेश।
चौ.—गिरिजा मुसकायी यह सुनकर;
उचित कहा भी तुमने, मुनिवर।
ज्ञान तुम्हारे, शिव सकाम थे,
काम जलाया अब सब समझे।
ज्ञान हमारे, सदा अभोगी,
अज, अनवद्य, सदा शिव योगी।
हमने उनकी सेवा ठानी,
प्रीति-समेत कर्म-मन-वाणी;
पण उसका यह, सुनो, मुनीश्वर,
केवल शङ्कर ही होंगे वर।
कहा कि हर ने काम जलाया
रहा बड़ा अविवेक तुम्हारा।
तात अनल का यह स्वभाव है
नहीं वहाँ हिम का टिकाव है।

गये समीप अवश्य नसाये,
मन्मथ-शिव की तरह बुलाये।

दो.—हिय हरषे मुनि वचन से सुगत-प्रीति-विश्वास,
चले भवानी को झुकाकर सर हिमगिरि-पास।

चौ.--गिरिपति को कुल बात सुनायी,
मदन-दहन सुनकर न समायी।
शिव की प्रभुता के विचार ले
बुलवाये मुनिवर विचार के।
सुदिन सुनखत सुघडी सुचाई,
वेग वेद-विधि-लग्न धरायी।
पत्री सातो ऋषियो ने दी,
पद-गत विनय हिमाचल ने की।
दी पत्रिका विधाता के कर,
पढ़ते उनका हृदय गया भर।
पढ़कर लग्न सुनायी सबको,
हरषे सुनकर मुनिवर समझो।
सुमन-वृष्टि नभ बाजे बाजे,
मङ्गल कलश दसो दिशि साजे।

दो.—सुर सवाँरने लगे निज वाहन, विविध विमान;
होयें सगुन मङ्गल सुभग, करें अप्सरा गान।

चौ.—शम्भु-गणों ने किया, सिंगारा,
जटा-मुकुट अहिमौर सवाँरा।
कुण्डल, कङ्कण, व्यालाभूषण,
तन विभूति, केसरि-चर्मासन।
शशि ललाट, सुन्दर सिर गङ्गा,
त्रिनयन, श्री उपवीत-भुजङ्गा।
गरल कण्ठ, उर नर-शिर-माला,
अशिव वेश, लोगों को पाला।
कर त्रिशूल, डमरू, वाहन चढ़
वसह चले, बाजों दहले गढ़।
शिव को सुर-देवियाँ देखकर,
बोली, दुलही नही यथावर।
विष्णु, विरिञ्चि आदि सुरत्राता,
वाहन चले बरात सुशाखा।
सुर-समाज सब भाँति अनूपम,
कुल बरात, तुल, दूलह दूलम।

दो.—कहा विष्णु ने बिहँसकर, बुलवाकर दिशिराज,
विलग-विलग होकर चलो, निज-निज, सहित-समाज।

चौ.—वर अनुहर बारात नहीं है,
ऐसे पर - पुर गये हँसी है।
विष्णु - वचन से जन मुसकाये,
अपनी सेना से विलगाये।
मन - ही - मन शिव भी हंसते है,
हरि के व्यङ्ग वचन बसते है।
प्रिय के अतिप्रिय वचन श्रवणकर,
भृङ्गी को टेरा डेरे पर।
बुलवाये कुलगण, अनुशासन
सुनकर आये सब, शीश-चरण।
बनी वाहिनी नाना - वेशा,
बिहँसा जिसने भी रुख देखा।
कुछ मुख-हीन, विपुल मुख कुछ के,
बिना चरण-कर-पद, दुख कुछ से।
विपुल - नयन, कोई विहीन है,
पुष्ट हृष्ट, या महा क्षीण है।

छन्द—तन-क्षीण कोई, पीन, पावन-तन, अपावन गति धरे;
भूषण कराल कलाप कर, सब सद्य-शोणित-तन-भरे;
खर-श्वान-सुअर-शृगाल-मुख गण, वेश अगणित क्या गने?
योगी - पिशाच - जमात, करते बात चलने की बने।

दो.—नाचें, गायें गीत, परम तरङ्गी भूत सब,
देखे अति विपरीत, बोले वचन विचित्र विधि।

चौ.—जैसा दूलह है, बरात है;
मग कौतुक की चली घात है।
यहाँ हिमाचल के, वितान हैं,
तरह - तरह के, सजे प्राण है।
शैल सकल जितने तक जग मे,
लघु, विशाल; आये; श्री मग में।
वन, सागर, तालाब, नदी, नद,
बुला पठाये हिमगिरि ने सब।
काम - रूप, सुन्दर - तनुधारी
निज समाज सोही वर नारी।
आये सकल हिमाचल के घर,
गायें मङ्गल विमल स्नेह - स्वर।

पहले ही गिरि ने गृह वासे
जथा जोग सब लोग सुपासे।
सुन्दर पुर - शोभा विलोककर
है विधि की निपुनाई लघुतर।

छन्द—लघु लगी विधि की निपुणता, लखिए नगर-शोभा सही;
वन, वाग, कूप, तड़ाग, सरिता सुभग, किसकी क्या कही
मङ्गल - विपुल तोरण - पताका - केतु गृह - गृह सोहते
वनिता - पुरुष सुन्दर चतुर, छवि देखकर मुनि मोहते।

दो.—जगदम्वा अवतरी जब, पुर - शोभा साकार;
ऋद्धि, सिद्धि, सम्पत्ति सुख, नित्य नये विस्तार।

चौ.—सुनकर नगर - निकट वरात है,
पुर खरभर, शोभा निवात है।
करके रुचिर वनाव सवाहन
लेने चले लोग आगामन।
सुर - सेनाएँ देखीं, हरषे,
हरि को जब देखा, रस वरषे।
शिव - समाज को देखा जिस क्षण,
भगे बिगड़कर जितने वाहन।
धीरज धरकर रहे सयाने,
वालक लेकर जीव पराने।
गये भवन, पूछें माता - गण,
कहें वचन वे भय - कम्पित - तन।
कहें, नही कुछ कह जाता है
जम की धार वरात कि क्या है;
वर वौराह, सवार वलद पर,
व्याल, कपाल, विभूषण हैं क्षर।

छन्द—तन छार, व्याल-कपाल-भूषण, नग्न-जटिल, कराल-कर
भय, भूत-प्रेत-पिशाच, कटु-मुख, विकट-भट-नट-तिमिरचर।
जीता हुआ वारात देखे, पुण्य उसकी है वडी,
देखे व, उमा - विवाह घर - घर वात लड़कों ने कही।

बृ. दो.—हर-समाज है जानकर मुसकाये जननी - जनक,
वाल वुझाये विविध विधि, नही रहा अव डर तनक।

चौ.—पुरजन अगवानी से लेकर
गये, दिये जनवास मनोहर।
मेना ने आरती सवाँरी,
सङ्ग सुमङ्गल गाये नारी।

कञ्चन थाल सोह वर पानी,
हर - परछन को चली सयानी।
विकट - वेश शङ्कर को देखा,
अवलाओं ने उर भय लेखा।
भगीं, भवन पैठीं अति त्रासो,
भेजे गये लोग जनवासो।
मेना - हृदय हुआ दुख भारी,
लायी पास गिरीश - कुमारी।
समधिक स्नेह, गोद बैठाला,
श्याम - सरोज - नयन जल ढाला।
तुमको रूप दिया जिस विधि ने,
कैसे दिया वौर वर उसने ?
छन्द—कैसे किया वर वौर जिस विधि ने तुम्हें दी सुघरता,
जो कल्पतरु को चाहिए था फल ववूलों मे लगा।
गिरि से गिरूँ, पावक जलूँ, तुम - सहित जलनिधि मे पड़ूँ,
घर जाव, अपजस हो न जग, जीवित विवाह न मैं करूँ।
वृ. दो.—अवलाएँ व्याकुल हुईं, गिरिनारी को देखकर,
मेना ने रोकर कहा, सुता स्नेह अव रेखकर।
चौ.—नारद का क्या, कहाँ बिगाड़ा,
वसता मेरा भवन उजाड़ा।
इस उपदेश उमा को लाकर,
तपो विवाह किया वौरे वर।
सचसच उनके मोह न माया,
उदासीन, धन, धाम न जाया।
पर - घर - घालक, लाज न भीड़ा,
वूझी वाँझ प्रसव की पीड़ा।
जननी विकल लखी गिरिजा ने,
वोली मृदु विवेक की वाते,
सोचो न यह सोचकर माता,
टले न वह जो रचे विधाता।
लिखा कर्म में यदि वाउर पति
दोष लगाती हो क्यों सम्प्रति।
मिटा सकोगी कहाँ अङ्क-विधि ?
व्यर्थ न लो माता कलङ्क - निधि।
छन्द—माता कलङ्क न लो, य' करुणा परिहरो, अवसर नहीं,
सुख - दुख ललाट लिखा, जहाँ भी जायँगे होगा वहीं।

सुनकर उमा के वचन कोमल, सकल - अवला सोचती,
वहु भाँति विधि को दोप देकर नयन - वारि विमोचती।

दो.—उसी समय नारद - सहित औ' सप्तर्पि - समेत,
समाचार से तुहिन - गिरि गये तुरन्त निकेत।

चौ.—नारद ने सवको समझाया,
पिछला कथा - प्रसङ्ग सुनाया।
मेना, सुनो, सत्य यह वाणी,
जगदम्वा तव सुता भवानी।
अजा, अनादि, विकारनाशिनी,
सदा शम्भु की, अङ्ग - वासिनी।
जग - सम्भव - पालन - लयकरणी,
निज इच्छा लीला - वपुधरणी।
जन्मी प्रथम दक्ष - गृह जाकर,
हुई सती सुन्दर तनु पाकर।
व्याह वहाँ भी किया शम्भु से,
जगत्प्रसिद्धि कथा सुहेतु से।
एक वार शिव के सँग आते,
देखा रघुकुल - मणि को जाते।
हुआ मोह, हर - कहा न माना,
मोह किया सीता का वाना।

छन्द—सीता - परिच्छद किया, इस अपराध शङ्कर को खली,
हर - विरह चलकर दक्ष के गृह - यज्ञ, योगानल जली।
अव गृह तुम्हारे जन्म, निज पति के लिए यह तय किया,
संशय तजो यह जानकर, गिरिजा सदा शङ्कर - प्रिया।

दो.— सुनकर नारद के वचन सवका मिटा विपाद,
छन में व्यापा सभी पुर घर - घर यह सम्वाद।

चौ.—तव मेना - हिमगिरि आनन्दे,
फिर - फिर गिरिजा के पद वन्दे।
नारी - नर वालक गण आये,
नगर - लोग फिर - फिर हर्पाये।
वजे नगर में घर - घर मङ्गल,
सजे सभी ने हाटक - घट कल।
वहु प्रकार जिवनार वनायी,
सूपकारता इति पर आयी।
वह जिवनार न गयी वखानी,
वसती हैं गृह आप भवानी।

सादर बोले सकल बराती,

विष्णु - विरिञ्चि देव सब जाती।

विविध - पात, जेंने बैठे जन,

लगे परसने निपुण विप्रगण।

सुर जेंते हैं, महिलाओं ने

जाना, चोंच मढ़ायी सोने।

छन्द—गाली मधुर स्वर दे रही हैं व्यङ्ग वचन सुना रहीं,
जें रहे हैं सुर अति - विलम्ब, विनोद उन्हें चुपा रहीं।
जो स्वाद - सुख जेंते हुआ कोड़ियों मुँह न कहा गया,
अचवा दिये ताम्बूल, गवने वास, जिसका जो रहा।

दो.—मुनियों ने हिमराज को सुघर सुनायी लग्न,
लोग बुलाये, व्याह में हुए सभी जन मग्न।

चौ.—बुला लिये सादर जितने सुर,

आसन दिये यथोचित उर, पुर।

वेदी वेद - विधान सँवारी,

सुभग सुमङ्गल गायें नारी।

सिंहासन अति दिव्य सुहाया,

कह न जाय यों सुढर बनाया।

बैठे शिव विप्रों को झुककर,

हृदय सुमरकर श्रीवर रघुवर।

फिर मुनियों ने उमा बुलायी,

सजकर साथ सखी ले आयी।

रूप देखते सब सुर मोहे,

बरने कवि जग की छवि छोहे।

जगदम्बिका जानकर वामा,

सर सबने पृथ्वी पर थामा।

सुन्दरता - मर्याद भवानी,

कोटि वदन भी अकथन वाणी।

छन्द.—कोटियों - मुख - कहते न आयी जगन्मयि - शोभा महा,
कहती दबीं शारदा, श्रुति, सुर, मन्दमतिजन की कहा।
छविखान गवनी भवानी मृदु, मध्य - मण्डप शिव जहाँ,
देखे न, अति - सङ्कोच, पति-पद-कमल मन - मधुकर वहाँ।

वृ. दो.—गणपति - गौरी को यथा अनुशासन पूजा प्रथम;
कोई संशय मत करें सुर अनादि महिमा अगम।

चौ.—यों विवाह की विधि गायी है,

मुनियों ने जो करवाई है।

गहकर गिरि ने कुश, कन्याकर,
हर को अर्पित किया मन्त्र पर।
पाणि - ग्रहण जब किया उमा का,
हिली सुरो की हर्षित शाखा।
वेद - मन्त्र मुनि उच्चरते हैं,
जय जय जय सुरगण करते है।
बजते है बाजे विधि - विधि के,
सुमन - वृष्टि नभ से, गुण-निधि से।
यह हर - गिरिजा का विवाह है,
सकल भुवन पूरा उछाह है।
दासी - दास - तुरग - रथ - वाहन-
वसन - वस्तु - मणि-धेनु सुभावन।
अन्न - कनक - भोजन यानों पर,
दिया दहेज, नही मानो पर।

छन्द.—देकर दहेज अनेक विधि कर जोड़कर हिम ने कहा,
है पूर्ण शङ्कर, और क्या दूँ, चरण कर गहकर रहा।
शिव कृपा - सागर ने श्वशुर - परितोष सब विधि से किया
फिर गहे मेना ने चरण, उर प्रेम - पूरण वर लिया।

दो.—उमा नाथ प्राणों - अधिक; गृह किङ्करी - प्रदान,
छमिएगा अपराध सब; यही हमारा मान।

चौ.—पैरो - पड़ी सास समझायी!
शिव ने, वे गवनी, गति आयी।
जननी गोद उमा बैठाकर,
शिक्षा देती रही मधुर स्वर।
शङ्कर की पद - पूजा करना,
इसी धर्म अपना घर भरना।
लोचन - जल भरकर बोली फिर,
गिरिजा को लेकर उर अस्थिर,
क्यों विधि ने जग नारी सरजी,
पराधीन, सपने सुख - बरजी?
हुई प्रेम से व्याकुल माता,
धैर्य नही अन्तर में आता।
फिर - फिर मिलती है पैरों पड़,
सबके अतिशय प्रेम गया गड़।
महिलाएँ भी मिली - मिलायी,
गिरिजा माँ के उर लिपटायी।

छन्द.—जननी बहुर मिलकर चली, आसीस दी सबने सुखद,
फिर-फिर विलोका मातृ-तनु, सखियाँ चली लेकर सहज।
याचक - सकल - सन्तोषकर शङ्कर उमा को ले चले,
सब अमर हरषे, सुमन बरषे; बजे नभ बाजे भले।
दो.—चले सङ्ग हिमवन्त तब पहुँचाने अति - हेतु;
विविध भाँति परितोषकर विदा किया वृषकेतु।
चौ.—तुरत भवन आये गिरिराजा,
सरित - शैल - सर सब-घर-साजा।
आदर - दान - विनय बहु - मानो,
सबको विदा किया सुख - खानों।
जब शङ्कर कैलास पधारे,
सुर - सब ने निज लोक सँवारे।
जगज्जनक - जननी हर - गिरिजा,
उनका तभी सिंगार न सिरजा।
भोग - विलास विविध करते हैं,
साथ गणो के घर बरते है।
हर - गिरिजा - विहार नित नूतन,
इस विधि बीते विपुलकाल - क्षण।
जना कुमार षटवदन प्रकथित,
तारक-असुर-समर-मण्डल जित।
निगमागम में हितकर माना,
षण्मुख जन्म सभी ने जाना।
छन्द.—जाना षडानन - जन्म, कर्म, प्रताप, औ' पुरुषार्थ भी,
इस हेतु श्रीवृषकेतु - सुत की कथा संक्षेपों कही।
यह उमा - शम्भु - विवाह गाते हैं समझकर नर जहाँ,
कल्याण, कार्य, निवाह, मङ्गल सदा होते है वहाँ।
दो.—चरित - सिन्धु गिरिजा - रमण, नही वेद में पार;
बरने कैसे अन्ध जन, अति - मतिमन्द गँवार।
चौ.—शम्भु - चरित यह सरस सुहाया,
भरद्वाज ने अति सुख पाया।
बहुत बढ़ी लालसा कथा पर,
रोयें खड़े हुए दृग निर्झर।
प्रेम - विवश आयी न बात मुख,
हर्षित मुनि-गण ज्ञान दशा-सुख।
अहो, जन्म तव, जन्म, मुनीश्वर,
तुमको प्राणाधिक गौरीवर।

शिव-पद-कमल नही जिनकी रति;
नही स्वप्न मे उनके रघुपति।
निश्छल स्नेह शिवा-पति-पद-तल;
राम-भक्त का यह लक्षण, वल।
शिव-सम कौन राम-व्रत-धारी।
सती-सदृश त्यागी वर-नारी।
पण से जिसने भक्ति दृढ़ाई,
शिव-सम कौन राम को भाई?

दो.—पहले कहकर शिव-चरित, बूझा मर्म, सुतार,
तुम शुचि सेवक राम के, कोई नही विकार।

चौ.—कैसा गुण है और शील है,
कहिए, रघुपति-पद सलील है।
आ जाने पर यहाँ तुम्हारे,
नभ मे सुख के उगे सितारे।
राम-चरित अति, अमित, मुनीश्वर;
चुप रहते है कोटि अहीश्वर।
जैसी सुनी, यहाँ कहता हूँ,
हरि-हर-स्मरण-शरण रहता हूँ।
दयिता-दारु-कारु के स्वामी,
राम सूत्रधर अन्तर्यामी।
जन जानकर कृपा करते है,
वाणी अजर अमर भरते है।
उन्ही कृपालु राम को प्रणमूं,
अविशदविशद विषय, स्थल वरनूं।
परमरम्य कैलास गिरीश्वर,
शङ्कर-उमा-वास; सुनिभृत घर।

दो.—सिद्ध तपोधन, योगिजन, सुर, किन्नर, मुनि, वृन्द;
बसते है सुकृती सभी सेते है सुखकन्द।

चौ.—हरि-हर-विमुख, गयी सुधर्म-रति,
उनकी स्वप्न नही उस स्थल गति।
उस गिरि पर वट-विटप महाच्छद,
नित्य-नवीन, सुखद-छायाप्रद;
त्रिविध समीर, तुहिन-मुकुटोज्वल
नव, नव-तरकर, कल-सर-शतदल।
एक बार हर गये विटप-तल
तरु विलोककर उमड़ा मङ्गल।

निज कर नागाम्बर ला-लाकर;
आसन पे हर को बैठाला।
कुन्द - इन्दु - दर-गौर देह है;
भुज प्रलम्ब; मुनि - वसन-गेह है।
तरुण-अरुण - अम्बुज-सम पदयुग,
भक्त-हृदय-तमहर नख-मणि-युग।
भुजग - भूति - भूषण त्रिपुरेश्वर,
आनन शारद - चन्द्र-विभाधर।
दो.—जटा-मुकुटसुर-सरित सिर, लोचननलिनविशाल।
नीलकण्ठ लावण्य-निधि, सोह बाल-विधु भाल।
चौ.—बैठे सोह काम - रिपु कैसे,
धरे शरीर शान्त - रस जैसे।
गिरिजा शुभ अवसर सँजोकर
गयीं जहाँ बैठे थे शङ्कर।
प्रिया जानकर किया समादर,
दिया सुआसन वाम-भाग पर।
बैठीं शिव - समीप हरषाकर,
पूर्व-जन्म-स्मृति आयी चित पर।
पति - हित-हेतु अधिक विचारकर
विहँस बोलीं उमा मधुरतर।
कथा विश्व - भावन - हितकारी
पूछ रही है शैल - कुमारी।
विश्व - नाथ, हे त्रिपुर - प्रहारी,
त्रिभुवन महिमा विदित तुम्हारी।
सकल चराचर, देव, नाग, नर,
सभी चरण - पङ्कज - सेवापर।
दो.—प्रभु समर्थ, सर्वज्ञ, शिव, सकल-कला-गुण-धाम,
योग-ज्ञान-वैराग्य-निधि, प्रणत-कल्प-तरु नाम।
चौ.—यदि, सुख-राशि, सुमुख दासी पर,
अपनाया दुलार गहकर पर,
तो मेरा अज्ञान हरो, प्रभु,
कहकर कथा विधान-मान-बहु।
सुरतरु - तल जो जन रहता है,
वह दारिद्र्य-दुःख सहता है?
शशि-भूषण, यह हृदय सोचकर,
करो दूर मति-भ्रम विनोदकर।

जो मुनिजन परमार्थ - वाद पर,
कहते है, अनादि हरि दुस्तर।
शेष, शारदा, श्रुति-पुराण - गण,
करते हैं रघुपति-गुण- कीर्तन।
तुम भी राम - राम रातों दिन
जपते हो सिर पर रख कर तिन;
राम अवध - नृप के है सुत वे,
या निर्गुण, निर्मद, अच्युत वे?

दो.—नृप-सुत कैसे ब्रह्म है, नारी - विरह - विभोर,
भ्रमित चरित से खुल गया मेरी मति का छोर।

चौ.—यदि अनीह, व्यापक, विभु, सत्तम,
कहो बुझाकर मुझे मनोरम।
अज्ञ जानकर करो न उर रिस,
मिटे मोह जिससे हो वह दिश।
जो महिमा वन मुझे दिखायी,
अति-भय-विकल न तुम्हे सुनायी।
हुआ मलिन मन, वोध न आया,
मैंने भली - भाँति फल पाया।
अब भी कुछ संशय मेरे मन,
दूर करो सत्वर जीवन - धन।
प्रभु, वह भाँति प्रवोधा तुमने,
उत्तम जीवन शोधा तुमने।
तब का ऐसा मोह नही मन,
राम - कथा पर रुचि आजीवन।
कहो रुचिर रघुपति - गुण - गाथा,
गौरी ने नाया पद माथा।

बृ. दो.—वन्दूँ पदयुग नत -नयन, विनय करूँ कर जोड़कर,
वरनो रघुवर-विशद-यश श्रुति-सिद्धान्त निचोड़कर।

चौ.—योषित को अधिकार नही है,
दासी जो मन - वचन रही है;
साधु तत्व, पर, नहीं दुराते,
जब उत्तम अधिकारी पाते।
आर्ति वहुत, पूछूं सुर - नायक,
रघुपति-कथा कहो सुख - दायक।
कारण कौन, कहो, व्रतचारी,
निर्गुण ब्रह्म सगुण - वपुधारी?

कहिए, ज्यो रामावतार है,
बाल - चरित फिर जो उदार है;
फिर जैसे जानकी विवाही,
राज तजा, कुल - कान निवाही;
वन जो चरित अपार किये है,
रावण - सुरगण मरे जिये है;
बैठे ज्यो सलील आसन पर
कहो सभी सुखशील गुणाकर।

दोहा—पुन. कहो, करुणायतन, अति-मानव-कृति राम;
प्रजा-सहित कैसे गये, अपने सुखमय धाम।

चौ.—फिर प्रभु, कहो तत्व समझाकर
जिस विज्ञान मग्न ज्ञानीवर।
भक्ति ज्ञान - विज्ञान - विरागो,
कहो समस्त सुचारु विभागों।
राम - चरित्र अनेक और हैं,
कहो, विशेष - विवेक - पौर हैं।
जो, तुमसे पूछते, रहा है,
समझाओ उसको भी, क्या है।
तुम त्रिभुवन के गुरु, कहते हैं,
पामर इतर जीव वहते हैं।
प्रश्न उमा के सहज सुहाये,
छल-विहीन, शिव के मन भाये।
हर - उर राम - चरित सब आये,
प्रेम - पुलक लोचन - जल छाये।
श्री - रघुनाथ - रूप दृग आया,
परमानन्द, अमित सुख पाया।

वृ. दो.—मग्न ध्यान-रस दण्डयुग, फिर मन को बाहर किया।
रघुपति-चरित महेश ने कहने का अवसर लिया।

चौ.—सत्य झूठ ही है अनजाने,
रज्जु भुजङ्ग विना पहचाने।
जिसके ज्ञान विश्व खोता है,
स्वप्न जागरण भी होता है।
वन्दूं बाल - रूप वे रघुवर,
सुलभ सिद्धि, जपते, दिशि-दिशि पर।
मङ्गल - भवन अमङ्गलहारी
विहरें दशरथ - अजिर - विहारी।

त्रिपुरारि ने राम को झुककर
कहा विहसकर सुधा-मधुर-स्वर;
धन्य, धन्य, गिरिराज-कुमारी,
नही अन्य कोई उपकारी;
रघुपति - कथा - प्रसङ्ग पूछकर
जगपावन गङ्गा लायीं हर।
रघुपति - चरण तुम्हारी रति है,
जग-हित-हेतु प्रश्न की गति है।
वृ. दो.—राम-कृपा से स्वप्न मे, शोक, मोह, सन्देह, भ्रम,
मेरे जान नही रहा, चित्त तुम्हारा विमलतम।
चौ.—फिर भी वैसी ही शङ्का की,
कहते सुनते जगहितकारी।
जिसने नही प्रसङ्ग सुना है,
श्रवण-रन्ध्र अहि-भवन गुना है।
आँखो - देखा नही साधुजन,
लोचन मोर - पङ्ख आलेखन।
वे सिर कटु तूम्बीसम तोले,
नमकर हरि-गुरु-पद-रज धो ले।
जो हरि-भक्ति हृदय न ला सके,
जीते मुर्दे होकर दबके।
जो जन गाते नही राम - गुण,
दादुर - जीभ-समान जीभ, सुन।
कुलिश-कठोर निठुर वह छाती,
सुनकर चरित नही हरषाती।
गिरिजा, सुनो राम की लीला,
सुर - हित, दनुज-विमोहन-शीला।
दो.—राम-कथा सुर - धेनु-सम, सेते सब-दुख-हान,
सत्समाज सुर-लोक है, कौन न लाये कान।
चौ.—राम-कथा सुन्दर-कर-ताली,
संशय - विहग उड़ानेवाली।
राम-कथा कलि-विटप-कुठारी,
सादर सुन, गिरिराज-कुमारी।
राम-नाम-गुण-चरित सुहाये,
जन्म-कर्म बहु श्रुति ने गाये।
यथा राम भगवान असंशय,
तथा कथा नाना-गुण-सञ्चय।

फिर भी जैसी सुन, निज मति से
कथा कहूँगा संगत मति से।
उमा प्रश्न तव सहज सुहाया,
सुखद, साधु-सम्मत, अति भाया।
एक बात मुझको न सुहाती,
यद्यपि मोह-प्रमाद सुनाती।
यह जो कहा, राम कोई पर,
श्रुति गुण गायें, ध्यायें मुनिवर;
दो.—कहें सुनें सो अधम नर ग्रसे विमोह-पिशाच,
पाखण्डी हरि-पद-विमुख जानें झूठ-न-साँच।
चौ.—अज्ञ, अकोविद, अन्ध, अभागी,
काई विषय-मुकुर-मन लागी।
लम्पट, कपटी, कुटिल, विशेषी,
सन्त-सभा न स्वप्न में देखी।
वेद-असम्मत वाणी कहते,
हानि लाभ को समझे रहते।
मुकुर-मलिन-मन, नयन-हीन हैं
राम-रूप के लिए, दीन हैं;
जिनको अगुण-सगुण विवेक हत,
जल्पें, कल्पें बस अनेक-मत।
हरि-माया-वश भ्रमे विलुण्ठित,
कुछ भी कहें, उन्हें यह अघटित।
वातुल भूत-विवश मतवाले
नहीं बोलते वचन सँभाले।
महा-मोह-मद-पान किया है,
उनके कहे न कान दिया है।
दो.—यों हृदय अनुसारि, तज संशय, भज राम-पद,
सुन गिरि-राज-कुमारि, भ्रम-तम-रवि-कर वचन मम।
चौ.—अगुण-सगुण में भेद न पाया,
श्रुति पुराण मुनियों ने गाया।
अगुण, अरूप, अलख, अज, जोहा,
भक्त-प्रेम-वश सगुण सोहा।
जो गुण-रहित सगुण वह कैसे,
जल-हिम-उपल, नहीं बल जैसे।
तिमिर-पतंग नाम जिसका है,
मोह-प्रसंग नहीं उसका है।

राम सच्चिदानन्द दिनेश्वर,
मोह-निश -लव नहीं वहाँ पर।
सहज प्रकाश-रूप जगदीश्वर,
वे केवल विज्ञान - प्रभाकर।
ज्ञानाज्ञान विषाद - हर्ष जो,
धर्म-जीव सम्मान - मर्ष हो,
राम ब्रह्म व्यापक; जग जानें,
परमानन्द, परेश; बखाने।
दो.—पुरुष प्रसिद्ध, प्रकाश-निधि, प्रकट-परावर नाथ,
रघुकुल-मणि मेरे सभी, कहकर नाया माथ।
चौ.—निज भ्रम कहेंगे न अज्ञानी,
प्रभु पर मोह धरेंगे प्राणी।
यथा गगन-घन-पटल देखकर,
झाँपा भानु, कहें अविकच नर।
चितये लोचन अङ्गुलि लाये,
प्रगट युगल शशि उसके भाये।
मोह राम-विषयक ऐसा है,
नभ-तम - धूल - धूम जैसा है।
विषय, करण, सुर, गण-समेत जो,
सकल एक से इक सूचित हो।
सबका परम-प्रकाशक जो है,
राम अनादि अवधपति वो है।
जगत्प्रकाश्य प्रकाशक रघुवर,
मायाधीश, ज्ञान-गुण ईश्वर।
इसी सत्यता से जड़ माया
विश्व-भास है, मोह सुहाया।
बृ. दो.—रजत-सीप में भानु-सम वारि विभासित है यथा,
यद्यपि मृषा त्रिकाल वह, टला नहीं भ्रम सर्वथा।
चौ.—यों हरि से आश्रित है यह जग,
यद्यपि है असत्य दुःखप्रद।
जैसे सपने सिर काटे, तो
विना जगे वह दुख दूर न हो,
जिनकी कृपा मिटे ऐसा भ्रम,
गिरिजा, वही कृपालु मनोरम।
आदि-न-अन्त किसी ने पाया,
मति-अनुमान निगम ने गाया।

विना-चरण-गति, विना-कान-श्रुति,
कर्म विना-कर करना है द्रुति।
आनन-रहित सकल-रस-भोगी,
वक्ता वाणी विना, सुयोगी।
स्पर्श विना-तन, दर्शन अनयन,
विना घ्राण के वाग - विशेषण।
यों सब भाँति अलौकिक करनी,
महिमा उनकी गयी न बरनी।
दो.—जिसको गायें वेद-बुध धरें महामुनि ध्यान,
दशरथ-सुत वे भक्त-हित कोशल-पति भगवान।
चौ.—काशी मरते जीव देखकर,
जिस प्रभाव में शोक रहा हर।
प्रभु हैं वही चराचर - स्वामी,
रघुवर, सब उर अन्तर्यामी।
जिनका नाम, विवश जब, लेकर
भव-वारिधि गोपद तरते नर।
वही राम परमार्थ भवानी,
वहाँ विकार नहीं, हित-वाणी।
जो नर संशय उर लाते हैं,
ज्ञान-धर्म कुल दूर जाते हैं।
शिव की स्मृति भव-भञ्जन-वचना,
मिटी अमित कुतर्क की रचना,
रघुपति-प्रीति नहीं उर रीती,
दारुण असम्भावना बीती।
दो.—फिर-फिर प्रभु के पद-कमल गहकर पङ्कज-पाणि,
बोली गिरिजा वचन-वर स्नेह-सुरस अग्लानि॥
चौ.—सुनकर शशिकर गिरा तुम्हारी,
मिटा मोह शरदातप भारी।
कुल संशय मेटकर बड़े हो,
राम-रूप तुम जान पड़े हो।
नाथ-कृपा में गत-विषाद हूँ,
सुखी और पद-तल प्रसाद हूँ।
अब मुझको किङ्करी जानकर,
जब भी जड़ नारी, त्रिपुरेश्वर,
पहले जो पूछा, वह कहिए,
मुझ पर चिर-प्रसन्न-उर रहिए।

राम ब्रह्म चिन्मय अविनाशी,
सर्व-रहित, सब-उर-पुर-वासी
नाथ, लिया नर-तनु किस कारण,
कहिए समझाकर भववारण।
वचन उमा के सुनकर सविनय,
राम-कथा पर प्रीति पराशय,
दो.—हिय हरषे कामारि तब, शङ्कर सहज सुजान,
बहुविध शंसा की, पुनः बोले कृपा-निधान।
सो.—सुन शुभ कथा भवानि, राम-चरित-मानस विमल,
कही काक ने, ज्ञानि सुनी विहगपति गरुड़ ने।
वह सम्वाद उदार जैसा है, कुल कहूँगा,
सुखद राम-अवतार, चरित परम-सुन्दर अनघ।
हरि-गुण नाम अपार, कथा-रूप अगणित अमित,
मैं निज-मति-अनुसार कहूँ, उमा, सादर सुनो।

०००

टीका

वर्ण, अर्थ, रस, छन्द, मङ्गल आदि के कर्ता वाणी और विनायक की मैं वन्दना करता हूँ।। 1 ।।

श्रद्धा और विश्वास के स्वरूप भवानी और शङ्कर की मैं वन्दना करता हूँ जिनके विना सिद्ध अपने भीतर के ईश्वर को नही देखते ।। 2 ।।

बोधमय नित्य शङ्कररूप गुरु की मैं वन्दना करता हूँ जिनके आश्रित रहकर चन्द्र वक्र होकर भी सर्वत्र वन्दित होता है ।। 3 ।।

सीता और रामचन्द्रजी के गुणग्राम के पुण्य अरण्य मे विहार करनेवाले विशुद्ध-विज्ञान कवीश्वर और कपीश्वर की मै वन्दना करता हूँ ।। 4 ।।

उद्भव स्थिति और संहार की करनेवाली, क्लेश की हरनेवाली, सब तरह की बड़ाई की देनेवाली, राम की वल्लभा सीता को मैं नमस्कार करता हूँ ।। 5 ।।

जिनकी माया से सारा संसार, ब्रह्मा आदि देव और असुर वश है, जिनकी सत्ता से रस्सी मे साँप के भ्रम की तरह झूठ होकर भी कुल चमचमाता रहता है, जिनके पदो की एक ही रज भव-वारिधि से पार करती है उन अशेष कारणों से परे, रामनाम के ईश, हरि को मैं नमस्कार करता हूँ ।। 6 ।।

जो नाना पुराण, वेद और शास्त्रों मे वर्णित है, जो रामायण में या किसी दूसरी जगह कहा गया है, उसको अपने अन्त.करण के सुख के लिए, रघुनाथ-गाथा से, अति सुन्दर भाषा निबन्ध मे, तुलसीदास सज्जित करता है ॥ 7 ॥

पृष्ठ 227

1. स्मरण-वरण—स्मरण से सादर आवाहन (करने पर, पुकारने पर)।
2. गण-नायक—गणो, समूहों, वृत्तो, चक्रो, जातियों के ईश, चालक, स्वामी।
3. करिवर-वदन—हाथी के मुखवाले।
4. समृद्धि—बाढ़, सम्पन्नता।
5. मूक—गूंगे।
6. वाचाल—बोलनेवाले, वाग्मी।
7. पङ्गु—लँगड़े-लूले।
8. दयाल—दया की आडवाले।
9. द्रवें—द्रवीभूत हो, सिक्त हो, गीले हों।
10. सकल-कलि-मल-दहन—कुल कलमषो, पापो को जलानेवाले।
11. नील-सरोरुह-श्याम—नीले कमल की तरह साँवले।
12. तरुण-अरुण-वारिज-नयन—नये लाल कमल की तरह की आंखोंवाले।
13. सदा-क्षीर-सागर-शयन—हमेशा क्षीर-समुद्र पर सोनेवाले।
14. कुन्द-इन्दु-सम देह—कुन्द पुष्प और चन्द्रमा के जैसे (शुभ्र) देहवाले।
15. उमा-रमण—उमा से विहार करनेवाले।
16. करुणा-अयन—करुणा, दया के आगार, गृह।
17. किरणोदयन—किरणों की तरह उदित होनेवाले।
18. गुरु-पद-कञ्ज—गुरु के पद-कमल।
19. तम-पुञ्ज—अन्धकार-समूह।
20. वच—वचन, बातें।
21. रवि-कर—सूर्य की किरणें।
22. निकर—समूह।

पृष्ठ 228

1. अमिय-मूल—अमृत की जड़।
2. सित—श्वेत।
3. सकल-रोग-परिवार-भारहर—कुल रोगो की दाव दूर करनेवाले, कुल रोग हटानेवाले।
4. सुकृत-शम्भु-तनु-भूति—शुभ-कार्य-रूपी शिव के शरीर की राख।

5. मञ्जुल-मङ्गल-मोद-प्रजननी—कुशल और आनन्द की देनेवाली पवित्र माता।

6. जन-मन-मञ्जु-मुकुर-मल-हरणा—मनुष्य के मन के सुन्दर शीशे की कालिख को हरनेवाली।

7. मणि-गण-ज्योतिःस्फुर—निकलती हुई मणियों की ज्योति की तरह।

8. मोहदलन—मन की जड़ता को नष्ट करनेवाला।

9. राम-चरित-मणि-माणिक-खनि-वन—रामजी के चरित्ररूपी मणि और माणिक्य आदि की खान के वन।

10. प्रकट-रूप—आँख खोलकर।

11. यथा सुअञ्जन आँजकर साधक-सिद्ध-सुजान,
कौतुक देखें शैल-वन-भूतल भूरि-निधान ॥
—जैसे साधक, सिद्ध और ज्ञानी आँखों में सत्य का अंजन लगाकर पहाड़, वन और पृथ्वी आदि को कौतुकरूप अर्थात् असत्य, मायामय देखते हैं, वैसे ही—

12. गुरु-पद-रज मृदु-मञ्जुल अञ्जन,
नयन-अमिय दृग-दोष-विभञ्जन ॥
—गुरु के चरणों की धूल मधुर-कोमल अंजन है, आँखों का अमृत—आँखों को ठण्डा और दृगों के दोषों को दूर करनेवाली है।

13. जङ्गम—चलता-फिरता।

14. शय—आशय, स्थल।

15. ब्राह्मी—ब्रह्मवाली, बड़ी।

16. सारा—श्रेष्ठा, उत्तमा।

17. विधि-निषेध—नियम और निवारण।

पृष्ठ 229

1. गोई—छिपी।

2. वाल्मीकि, नारद, घटयोनी।
निज-निज मुखों कही निज होनी ॥
—आदि-कवि वाल्मीकि जिन्होंने संस्कृत में रामायण लिखी है जो भारत का पहला महाकाव्य कही जाती है, पहले रत्नाकर नाम से डाकू थे। भरद्वाज उनका डकैती का चेला था, अनुचर था। एक दिन सप्तर्षि उस रास्ते से जा रहे थे जो पहाड़ी की तलहटी से गया था। सबसे पहले चलनेवाले को रत्नाकर ने पकड़ लिया। उस साधु ने कहा, 'मैं निःस्व हूँ। मुझको छोड़ दो। मैं तुझको एक भेद बताता हूँ। तुम जो साधुओं को भी सताते हो दो पैसे के लिए, अपने घर चलकर पूछो, तुम्हारा खानेवाले तुम्हारे पाप के भी भागी है या नहीं।" रत्नाकर ने वैसा ही किया।

उसके बाप, माँ और स्त्री ने पाप लेना स्वीकार न किया। उसको ज्ञान हुआ। घर छोड़कर चल दिया और सिद्ध होकर पहला संस्कृत का कवि हुआ, वाल्मीकि नाम पडा। रामायण लिखी।

नारद की माँ दासी थी। चौका टहल करके जीती थी। विधवा थी। एक ऋषि से उसके बालक पैदा हुआ। बालक बालक ही था जब उसकी माता को काले साँप ने डँसा। बालक अकेला रह गया। सेवा करते, हरि-गुण गाते वह सिद्ध हुआ। बाद को नारद कहलाया।

कुम्भज घट मे पैदा हुए, इसीलिए 'घटयोनि' कहा है।

3. सुसङ्ग-भाव से—सत्सङ्ग से।
4. सिद्धि-फल-वीरुध—सिद्धि के फल की लता।
5. फणि-मणि के जैसे गुणानुसर – साँप की मणि की तरह गुण को लिये रहते है; वह यह कि मणि को साँप का जहर नही व्यापता।

पृष्ठ 230

1. परहित हानि लाभ जिनके है—दूसरे के हित की हानि जिनके (लिए) लाभ है।
2. हरि-हर-यश-राकेश – विष्णु और शङ्कर के यश का पूर्ण चन्द्र।
3. सहस-भुज—सहस्रबाहु, एक राजा जो नर्मदा के किनारे राज्य करता था और उत्पाती था, जिसके हजार हाथ थे।
4 जो गवाह लेकर पर-दूषण
देखें पर-हित-घृत मक्खीमन—
—जो साक्षी लेकर दूसरे का कसूर देखते है, दूसरे की भलाई के घी पर जिसका मन मक्खी की तरह पड़ता है।
5. रोष-महिषासुर— जिनका क्रोध महिषासुर के समान है। महिषासुर को दुर्गा ने मारा था।
6. अघ-अवगुण-धन-धनिक-हुए मुर—
पाप और दुर्गुणो के धन से धनी होनेवाले मुर, (जिसकी दुश्मनी से विष्णु को मुरारि कहते है।)
7. उदित केतु है अहित के लिए—
हानि के लिए केतु की तरह उगे हुए है (सागर-मन्थन के बाद मोहिनी का रूप धारण करके विष्णु ने असुरों को शराब और देवताओ को अमृत बाँटा था। एक असुर राज लेने के लिए देवताओं के बीच आकर बैठा और अमृत पी लिया। भेद खुलने पर विष्णु ने चक्र से उसका सिर काटा; मगर चूँकि वह अमर हो गया था, इसलिए आज भी है। उसका सिर है राहु और धड़ है केतु। आसुर स्वभाव के कारण आज भी उसके दोनों रूप दुःख देनेवाले है।

8. कुम्भकर्ण जैसे शयित, जिये—कुम्भकर्ण की तरह सोये तो हम जिये, या वे कुम्भकर्ण की तरह सोकर जीते है। कुम्भकर्ण रावण का छोटा भाई था। उसने तपस्या की। ब्रह्मा वर देने के लिए आये। देवता विकल हुए। सरस्वती देवी से कहा, माता, एक तो यह, ऐसे ही अजित है, इतना पराक्रमी, फिर अगर वर वैसा ही मिला तो हम कही के न रहे। सरस्वती देवी ने अभय दिया। जब ब्रह्मा वर देने के लिए गये तब सरस्वती देवी अविद्या के रूप से कुम्भकर्ण मे प्रविष्ट हो गयी। कुम्भकर्ण ने वर माँगा, हम छः महीने सोये और एक दिन जगें। ब्रह्मा ने तथास्तु कहा।
9. अयुत—दस हजार।
10. शक्र—इन्द्र।
11. सुरानीक—सुरों, देवताओं की मण्डली, सेना, सुरा, वारुणी, शराब की मण्डली, मीन, मांस, मुद्रा, मैथुन, कामिनी आदि।
12. सहस्राक्ष परदोष-लक्ष्य-क्रिय—हजार आँखो से दूसरे के दोष देखने मे क्रियाशील है।
13. उदासीन—उचटे हुए।
14. अरि-मित्र से जलते हैं खल-रीति—दोस्त और दुश्मन दोनो से जलते रहते हैं, यही खलों की रीति है।
15. भोर—कमी, त्रुटि।
16. पायस—खीर।
17. निरामिष—मांस न खानेवाले, शाकाहारी।
18. वायस—कौए।
19. जीवन—प्राण, पानी।
20. जलज-जोंक गुण विलगाते है—कमल और जोंक अपने अलग-अलग गुण बतलाते है (कमल सुगन्ध देता है, जोक खून चूसती है) यद्यपि एक साथ पैदा होते है (एक ही पानी मे)।

पृष्ठ 231

1. कर्म हरित—जिसके कर्म हर गये है—कर्मनाशा—जो कर्मो का नाश कर देती है।
2. जो भायी, रुचि; जागी, सोयी—जगी हो या सोयी हुई, जो पसन्द आयी वही रुचि है।
3. गहे अगुण खल, सज्जन गुणगण—दुर्गुण ग्रहण करने पर खल है, गुणगण ग्रहण करने पर सज्जन।
4. अवगाहन—नहाना।
5. उभय अपार-उदधि-अवगाहन—दोनो के लिए कहना चाहिए कि पता लगाने के लिए अपार और अथाह सागर मे डुबकी लगाना है।

6. पोच—नीच ।
7. श्रुति—वेद ।
8. माहुर—विष ।
9. रङ्क—कङ्गाल, निर्धन ।
10. सुरसरि—'नाशो'—गङ्गा और कर्मनाशा से ।
11. महि-देव—ब्राह्मण ।
12. गवाशो—गो-मांस खानेवालो से ।
13. निगमागम—वेदशास्त्र ।
14. पय—दूध ।
15. राता—रमा, लगा ।
16. कर्म-वरिआई—कर्म की जवरदस्ती ।

पृष्ठ 232

1. खल करते हैं भला सङ्ग-उर—दुष्ट जन सङ्ग-उर हृदय जुडने पर, साथ पाकर, भला करते है ।
2. अभंगुर—न टूटनेवाला ।
3 विश्व-वंचक—दुनिया के ठग ।
4 लोक-वेद में विदित डाभ है—अर्थात् डाभ से कुक्षासन वना सकते हैं, यह उससे निकाला भला काम है, और दूसरा उसको चुभा दे सकते हैं, यह बुरा । भले-बुरे हाथों के फेर ।
5. शुक-शारी—तोता, मैना ।
6. मञ्जु-मसि-शिख—स्याही की सुन्दर शिखा,—एक-एक अक्षर ।
7 अनिल-अनल-सङ्घात—हवा और आग के फटकारे से ।
8. भेषज—दवा, वनस्पति ।
9. राम-गुण-गाथ—राम के गुणो की गाथा है जो, वे ।
10. दनुज—दानव, दनु के वेटे ।
11. किन्नर—किम्पुरुप ।
12. तिमिरचर—निशाचर ।
13. आकर—खान, प्रकार ।
14 किङ्कर-तल—साधारण सेवक ।

पृष्ठ 233

1. कूर—अहृदय, असवेदन ।
2. हित खलहास कि काक रहा है,
   कल कण्ठ को कठोर कहा है ।
   —दुष्टों की मसखरी से हित है जो हंस की जगह कहते है काक, या

जिन्होंने मधुर स्वर को तीव्र और कर्कश कहा है।
3. धी—बुद्धि
4. कुतरकी—बुरे तर्क, वाग्जाल मे पड़ी।
5. ऋध—स, ऋ ग, म, प, ध, नि—सातो स्वर।

पृष्ठ 234

1. अमङ्गल के हर—अहित के नाश करनेवाले।
2. विधु-वदना—चन्द्रमुखी।
3. अवसन—निर्वस्त्र।
4. अनवसित—अशेष।
5. अगुरु—अगर-चन्दन।
6. भदेस—भद्दा, मन्द।
7. पाथ—जल।
8. दारु—काठ।
9. मलय—सुगन्धित हवा।
10. सुरभि—गाय।
11. मणि-माणिक-मुक्ता-छवि जैसी, अहि-गिरि-गज-शिर रही न वैसी।
—जैसी मणि, माणिक और मुक्ता की छवि है, साँप, पहाड़ और हाथी के सिर पर वैसी न रही। जहाँ उत्पत्ति है वहाँ शोभा नहीं।

पृष्ठ 235

1. नृप-किरीट—राजा का मुकुट।
2. ली अपनी शोभा अधिकाकर—अपनी छवि बढ़ाकर ली।
3. छवि-भविता—सौन्दर्यमयी।
4. विमोचकर—छोड़कर।
5. धन्धक धेरी—एक बोल है जो गाया जाता है स्वर के साथ पुनः पुनः आवृत्ति करते हुए।
6. कवयिता—कवि।

पृष्ठ 236

1. जित—जीती हुई।
2. चरित मायाकर—चरितों की लीला दिखानेवाले।
3. अकल—कलाहीन।
4. सेतु—पुल।
5. पुङ्गव—श्रेष्ठ।
6. निरुपद्रव—विना उत्पात के, शान्त भाव से।

पृष्ठ 237

1. धूति—पवित्रता ।
2. अन्देसा है, है अकाम भी—अन्देसा है, चिन्ता है कि कहना अच्छा नही हुआ । इसलिए बात न बनी, मगर साथ ही वह निष्कामता से पूर्ण है ।
3. ठाट—साँचा, पूरा रूप ।
4. विमलयश:सर—निर्मल कीर्ति का अनुसरण करनेवाली ।
5. सखर सुकोमल मञ्जु, दोष-रहित दूषण-सहित—खर (एक-राक्षस) के साथ भी अति कोमल और सुन्दर है और दूषण (यह एक राक्षस है) के साथ होकर भी दोषो से रहित है ।
6. वोहित—नाव, जहाज़।
7. कहते जिनको राम-यश—(यह पाठ ऐसा भी कर सकते हैं)—"कहते रघुवर-विमल यश ।"

पृष्ठ 238

1. दिनदानी—दिन का दान करनेवाले ।
2. निरुपाधि—किसी प्रकार के भूषण से रहित ।
3. शाबर—अभद्र, निरर्थ ।
4. रासभर—आनन्दप्रद ।
5. भूरि-शिव-कृपा-भात—शङ्करजी की अत्यधिक कृपा से चमकती हुई ।
6. निकेतन—गृह, स्थल ।
7. सुचेतन—अधिक ज्ञानवाले ।
8. प्रसाव—कृपा, दया ।
9. हल्या—फैलाने योग्य ।

पृष्ठ 239

1. भास्वर—प्रकाशवान ।
2. वशम्वद—वशीभूत ।
3. केतन—गृह, स्थान ।
4. विमल-पताक-कीर्ति—निर्मल-पताकावाला यश ।
5. सौमित्रि—सुमित्रा के पुत्र, लक्ष्मण ।
6. ऋक्ष—भालू ।
7. कीश—बन्दर ।
8. सरोज—कमल ।
9. विज्ञान-विशारद—विज्ञान के पारङ्गत ।

पृष्ठ 240

1. गिरा—वाणी।
2. वीचि—लहर, तरङ्ग।
3. कृशानु—आग।
4. अनागम—अगति, निर्वेद।
5. गुण-प्रभाव-मति —गुण, प्रभाव और बुद्धि के कारण।
6. शोधकर—शुद्ध करनेवाले।
7. शालि—धान।
8. सरोज-नाभ—ब्रह्मा।

पृष्ठ 241

1. बिलगी—छूटी।
2. भक्ति नरीकल करण विभूषण।
   जगहित हेतु विमल-विधु-पूषण॥
   —भक्ति रूपी स्त्री को सुन्दर बनानेवाले आभूषण हैं, जग के हित के लिए विमल चन्द्रमा को पालनेवाले, पूषा।
3. स्वाद-तोष-सम सुगति सुधा के,
   कमठ-शेष - सम धर वसुधा के।
   —मुक्ति के अमृत लिये स्वाद और तोष जैसे है, पृथ्वी को कछुए और शेषनाग की तरह धारण करनेवाले।
4. जन-मन-मञ्जु-कञ्ज-मधुकर-से, जीभ-यशोमति-हरि-हलधर-से।
   —भक्तो के मनो के सुन्दर कमलों के भौरों की तरह, जीभ रूपी यशोदा के कृष्ण और बलराम की तरह।
5. एक छत्र एक मुकुट मणि,
   सब वर्णों पर साज।
   —एक छत्र की तरह (हलन्त होकर-रकार) सब वर्णो पर सज्जित है, दूसरा मुकुट के मणि की तरह।
6. बाधना—बाधा, रुकावट।
7. अपराधन—बुराई, दोष।
8. करतल सुगत—अच्छी तरह मुट्ठी में आया हुआ।
9. उभय-प्रबोधक—दोनो का बोध, ज्ञान करानेवाला।
10. विरिञ्चि-प्रपञ्च-विरत-मन—
    ब्रह्मा के प्रपञ्च, रचना से मुड़े मनवाले।
11. अनागम—प्रपत्ति या उत्पत्ति से रहित।

पृष्ठ 242

1. नाम-प्रेम-पीयूष-ह्रद- —नाम के प्रेम के अमृत के सरोवर मे।
2. अघुण —छोटा भी नहीं यानी छोटे-से-छोटा, घुणाक्षर न्याय- बाल की खाल निकालनेवाले युक्ति-तर्क—उनसे भी परे, इसलिए अघुण।
3. दारुगत—लकड़ी के भीतर।
4. पावक—आग।
5. सुखज्ञापक—सुख जतानेवाला।
6. नन्दन-सम— इन्द्र के उपवन की तरह, इन्द्र के उपवन का नाम नन्दन है।

पृष्ठ 243

1. दलित-निशाचर—राक्षस जिनसे कुचले गये वे, राक्षसों को मसलनेवाले।
2. सुसेव—उत्तम सेवा करनेवाले।
3. सुगति दान—उत्तम गति देनेवाले।
4. निवाजे —उद्धार किये।
5. विरद—प्रशंसा।
6. भवार्णव—भव-सागर।
7. नृपधानी—रजधानी।
8. ईश ने—शिव ने।
9. सम्राजे—अच्छी तरह विराजमान हुए।
10. निर्मद—शान्ति देनेवाले।

पृष्ठ 244

1. स्ववश-पर—अपने अधीन और श्रेष्ठ।
2. प्रभासी—ज्योतिवाले।
3. नामाशय—नाम के आधार से।
4. मख—यज्ञ।
5. धृति—धारणा।
6. कालनेमि—एक राक्षस।
7. कपट-धाम—छल का आगार।
8. नर-केशरी—नरसिंह जो विष्णु के अवतार है और जिन्होंने प्रह्लाद को बचाया था।
9. कनककशिपु—हिरण्यकशिपु, दानव राज, प्रह्लाद के पिता।
10. अनख—क्रोध, दुराव।

पृष्ठ 245

1. नागर—नगर का रहनेवाला।
2. प्राकृत—साधारण।
3. जनपाल—लोगों को पालनेवाले।
4. उपल—पत्थर।
5. भल्ल—भालू।
6. सचिव—मन्त्री।
7. मति-माल—अनेक प्रकार की बुद्धि रखनेवाले।

पृष्ठ 246

1. शील-निधान—पूरे शीलवाले, मुलाहजा करनेवाले।
2. भरि—भरे रहनेवाले।
3. सलील—लीलावाले।
4. आमलक-सदृश—आँवले की तरह।
5. सुशूकर खेत—उत्तम वराह-क्षेत्र।
6. पन्नग—साँप।

पृष्ठ 247

1. भरणी—भरणी नक्षत्र। भरनेवाली।
2. अरणी—घिसकर आग निकालनेवाली लकड़ियाँ।
3. सजीवन मूल—मुर्दे से जिन्दा कर देनेवाली जड़ी।
4. असुर-सेन-सम-नरक-कन्दिनी।
   साधु-विवुध-कुल अचल नन्दिनी
   —असुरों की सेना जैसे नरक का नाश करनेवाली और साधु तथा देवताओं के कुलों के लिए पार्वती।
5. संत-समाज-पयोधि-रमा-सी—साधुओं के समाज के समुद्र की लक्ष्मी जैसी।
6. यम-गन-मुँह-मसि—यम के गणों के मुखों पर फूटी स्याही जैसी।
7. शिव-प्रिय-मेकल-शैल-सुतासी—शिव को प्यारी मेकल नाम के गिरि की कन्या पार्वती की तरह।
8. प्रेम-परिमिति—प्रेम की नाप।
9. विवुध-वैद्य-भव-भीम-रोग के—संसार रूपी भयानक रोग के देववैद्य धन्वन्तरि की तरह।
10. सचिव सुभट-भूपति-विचार के —विचार रूपी राजा के वीर मन्त्री।

11. कामद-घन-दारिद-दवारि के—देवं, आग या पीड़न से पैदा हुई गरीबी के लिए इच्छाफल देनेवाले वादल की तरह।

पृष्ठ 248

1. सेवक-शालि-पाल—सेवक रूपी धान को पालनेवाले।
2. देव-तरुवर—कल्पतरु, जो इन्द्र के नन्दन-वन में है।
3. राम चरित-राकेश, कर सवको शरद सिताभ—रामचन्द्रजी का चरित्र पूर्णचन्द्र की किरणों के समान है, जो सवको शुभ्र और स्निग्ध आभा देती है।
4. अमानी—मान का वोझ लादे न रहनेवाले।

पृष्ठ 249

1. खोर न लगे—चूक न पकड़ी जाय।
2. वरते है—पूजा करते हैं।
3. राम-धामदा—राम का धाम देनेवाली।
4. संसरण—आवागमन।
5. छिया—कमजोर पड़ा, दुर्वल हुआ, क्षीण हुआ
6. दारिद—दानव दारिद्र्य, गरीवी को जलानेवाला।

पृष्ठ 250

1. निर्मद—निर्मल, अमल, मद-हीन।
2. वृष-केतु—बैल की ध्वजा रखनेवाले—शिव।
3. उदधि—समुद्र।
4. मेधा-महिगत—वुद्धि रूपी भूमि पर पड़ा हुआ।
5. चिराया—फटा।
6. सुठ—सुष्ठ।
7. वीचि-विलास—लहरों की लीला।
8. पुरइन—कमल के पत्ते।

पृष्ठ 251

1. अनूपम—उपमा के अनुसार।
2. मकरन्द—फूल की मधु।
3. सुवासित—सुगन्धित।
4. अवरेव—भँवर, पेंच।
5. सुभायन—अच्छे घर रहनेवाले।
6. शम्वुक—घोंघा।

7. सिवार—शैवाल, सेवार, पानी का एक लच्छेदार उद्भिज ।
8. काक-वलाक—कौए और वगले ।

पृष्ठ 252

1. विरूप-माल—विरूपता, वाधा, रुकावट से भरे ।
2. निष्पद—विना घाटवाली, वह जगह, जहाँ ठहरने की जगह नही ।
3. सम्वल—सहारा ।
4. मज्जन—स्नान ।
5. नीत—लायी हुई ।
6. मानस-विनन्दिनी—मानसरोवर की लड़की ।

पृष्ठ 253

1. देवधुनि-धारा—गङ्गा की धारा ।
2. त्रिविध-तापिका—तीनो प्रकार के ताप देनेवाली ।
3. वहुघाती—अनेकों घात लगाये हुए ।
4. वनज—कमल ।
5. परिजन—पड़ोसी ।
6. कथोपकथन—वातचीत ।
7. सरित-तट—नदी का किनारा ।
8. विहित—सही ।
9. सहानुज—भाई के साथ ।
10. अनेक भुज—तरह-तरह के ।
11. अतुल के—न तुलनेवाले, अनुपम के ।
12. शमन—काल ।

पृष्ठ 254

1. पवन-स्वन—हवा की सनसनाहट ।
2. निशाचर-अरिता—राक्षसों की दुश्मनी ।
3. सुरकुल-सालि-सुमङ्गल-करिता—देवताओं के कुल रूपी धान का कल्याण करना ।
4. आर्ति—करुणा भरी पुकार ।
5. तोष-वितोपण—तृप्ति को भी अच्छी तरह तृप्त करनेवाला ।
6. दुरित—दुर्गति ।
7. विगोया—विगाड़ा, गँवाया, गुमाया ।

पृष्ठ 255

1. पंक-रुह—कमल।
2. सुर-साद—देवताओं को प्रसन्न करनेवाली, उत्तम रसपान जिससे होता हो।
3. सवेक—सबुद्धि, छानवीन के साथ।
4. श्रेणी—दर्जा।
5. माधव—विष्णु।
6. वत्सर—साल।
7. टेककर—सानुरोध रोककर।

पृष्ठ 256

1. श्रुति-पुराण-विस्राव—वेद और पुराणों में निकला हुआ, सुनाया हुआ।
2. आकर—प्रकार, खनि।
3. विघुरूम—मधुर।
4. सुखाकर—सुख की खान।
5. अकृश—न कमजोर पड़ी हुई, पुष्ट।

पृष्ठ 257

1. निस्पृह—इच्छा रहित।
2. रति अधिकाई—इच्छा बढ़ी।
3. सुषम—उत्तम समतावाले।
4. छोह—उद्वलता, अतुलता।
5. विधिपर—विधाता के वस।

पृष्ठ 258

1. अविशेषण—जिसकी कोई तारीफ नही।
2. मनोभव-दानव—काम को जलानेवाले।
3. अन्वन्तर—क्षण-क्षण के बाद।
4. मृषा—व्यर्थ, झूठ।
5. ब्रह्मशिरा—ब्रह्मशिरवाले, ब्रह्म ही जिनका मस्तक है।
6. प्रवोध-प्रचारण—सान्त्वना का विचार।
7. अन्तर्यामी—हृदय की बात जाननेवाले।

पृष्ठ 259

1. भुवन-निकाय—भिन्न-भिन्न सम्पूर्ण जगत्।

2. भावी—भवितव्यता, होनहार।
3. सह विवेक श्रम—विचार और मेहनत के साथ।
4. निरत-मन—निविष्ट-चित्त।
5. सुखासन—सुख से बैठे हुए।
6. कर तम पिटता है—उजाले से, प्रकाश से, तम, अँधेरा, पिटता है, दूर होता है।

पृष्ठ 260

1. नत-प्रणाम पर—बहुत झुककर प्रणाम-परायण, नमस्कार करनेवाले।
2. मुनि प्रवीण के सेवित तारा—विचक्षण मुनियों के सेवा पाये ध्रुव तारा जैसे।
3. विधात्री—ब्रह्माणी।
4. इन्दिरा—लक्ष्मी।
5. अज—ब्रह्मा।
6. विदूषण—दोष पानेवाले।

पृष्ठ 261

1. परीक्षण—परिचय, परीक्षा।
2. समुच्चय—सकल।
3. विषाद विशेषण—अधिक दुःख।
4. अविचल-मति—दृढ मनवाले।

पृष्ठ 262

1. पण—प्रतिज्ञा, दाम।
2. अंकुर—उद्भव, उद्गम।
3. कृपासव—कृपा के द्रव, मधु, आसव।
4. महाद्रव—महादयालु।
5. छूंछा—रिक्त।
6. कन—कण मात्र।
7. इतिहास—इतिवृत्त।
8. अखण्ड—न टूटनेवाला।
9. अनाला—बेजड़, नाल-रहित।
10. शोक-सम्भार—शोक-समूह, दुःखातिरेक।

पृष्ठ 263

1. आर्ति-हरण—करुणाभरी पुकार को दूर करनेवाले।

2. संपुट-कर—दोनों हाथ जोड़कर ।
3. नश्वर—नाशवान ।
4. गरल-गेह—गरल का आगार ।
5. गजानन—गणेश, गज का मस्तक ।
6. मग—पथ ।
7. मद-वाहन—उन्मत्त वाहनवाले ।
—वाहन से चलनेवाला [illegible] ।

पृष्ठ 264

1. व्योम-विमान—आकाश के विमान, रथ ।
2. [illegible]—[illegible] की ओर [illegible] हुई, भेजी हुई ।
3. परिताप—जलन ।

पृष्ठ 265

1. [illegible]—[illegible] ।
2. हृदय भर—[illegible] ।
3. [illegible]—[illegible], [illegible] ।
4. अन्यथा—[illegible] ।
5. [illegible]—पीछे से [illegible] ।
6. पद्मयोनि—जिसके [illegible] पर [illegible] है, ब्रह्मा ।
7. [illegible]—[illegible] ।

पृष्ठ 266

1. [illegible]—[illegible] ।

पृष्ठ 268

1. [illegible]—[illegible] ।
2. [illegible]—[illegible] ।

पृष्ठ 269

1. [illegible]—[illegible], [illegible] के [illegible] ।
2. [illegible]—[illegible] ।
3. उमा-निकेतन—पार्वती के घर ।

पृष्ठ 270

1. [illegible]—आनन्द[illegible] ।

2. विनिर्मद—अच्छी तरह मद-हीन।

पृष्ठ 271

1. सप्तर्षीश्वर—ईश्वर रूपी सातो ऋषि।
2. वागीश्वर—वाणी के ईश्वर।
3. भगवत्पद—ईश्वर के पद, स्थानवाले।
4. वशम्वद—वशीभूत।

पृष्ठ 272

1. शिव सम्वोधन से—शिव के कथन से।
2. भक्ति-विवेक-धर्म-रोपण—भक्ति, ज्ञान और धर्म, न्याय्यान्याय कर्म का, ज्ञानपूर्वक परिहार और अनुष्ठान, उसका सन्निवेश।
3. भास्वर—चमकीला।
4. सुनिकेतन—उत्तम गृह।
5. शोभन—फवनेवाला।
6. प्रतिमामयी—मूर्त्तिमती।
7. गिरि-सम्भव—पहाड़ से पैदा हुआ।

पृष्ठ 273

1. उदासीन—वीतराग उड़े-उड़े मनवाला।
2. अनिकेतन—विना घरवाला।
3. कपाली—कपाल, मुर्दे की खोपडी लिये हुए।
4. सलील-गति—बाँकी चालवाले।
5. गुण के न्यासी—गुण के जोड़नेवाले।
6. श्रीपति—लक्ष्मीपति, विष्णु।
7. वैकुण्ठ-निवासी—वैकुण्ठ, वह जगह है, जहाँ कुण्ठा, हिचक नहीं रह जाती, वहाँ के रहनेवाले।
8. कनक-पत्थर का तोड़ा—सोना, पत्थर के तोड़ से, ताव से निकला है।

पृष्ठ 274

1. वरिष्ठता—श्रेष्ठता, भलमंसाहत।
2. कौतुकियो—तमाशा करनेवालो।
3. अम्वा—माता।
4. मुनि-चय—ऋषिवर।
5. सञ्जात—पैदा हुआ।
6. सुविस्तर—वहुत अधिक।

7. रीते—खाली, रिक्त।
8. अजर—जरा, वार्द्धक्य से रहित।
9. दनुज-निधन—दानव का नाश।
10 शम्भु-शुक्र-सम्भूत—शिव के वीर्य से पैदा हुआ।

पृष्ठ 275

1. क्षोभ—उत्तेजन।
2. सोद्यम—प्रयत्न के साथ।
3 बरियाकर—जोर डालकर।
4. विषम-वाण—तीखे तीर चलानेवाले।
5. झष-केतन—कामदेव।
6. शिव-विरोध—शंकर का विरोध।
7. ध्रुव—अवश्यम्भावी।
8. वारिचर—मीन-केतन, काम, मार।
9. श्रुति-सेतु—वेदों की मेंड़ें।
10. विवेक-भट—विचार की सेना।
11. पर्वत-कन्दरों—पहाड़ की गुहाओं में।
12. करतार—हाथ का तन्त्र।
13. सजीव—मूर्त्तिमान।
14. तिर्यक-दृगों—टेढी भौहों, आँखों।
15. जगखरभर पड़ा—ससार में चपलता छा गयी।
16. चर-अचर—चलने और न चलनेवाले।
17. नारि-पुरुष के नाम—नारि और पुरुष कहलानेवाले।

पृष्ठ 276

1. मदन-अभिलाषा—काम की इच्छा।
2. पयोनिधि—समुद्र।
3. मनसिजहरे—काम से हरे, खीचे हुए।
4. उबरे—बचे।
5. सुखाले—सुखी।
6. दुराधर्ष—न गिराये जा सकनेवाले।
7. उपाय-विघाती—उपाय से विघात पैदा करनेवाला।
उपाय—प्रयत्न, विघात-प्रतिघात।
8. ऋतुराज—वसन्त।
9. नव तरु-राजि—नये पेड़ों की कतार।
10. वापी—बावली।

11. तड़ाग चय—तालावों का समूह।
12. दिग्भाग—दिशा खण्ड।
13. नवल-वय—नयी उम्रवाला।
14. मार—काम।
15. मनोभव—काम।
16 वन-सुभगता—अरण्य की सुन्दरता।
17. शीतल-सुगन्ध-सुमन्द—मारुत-मदन-अनल-सखा-सही—ठण्डी, खुशबूदार, वहुत धीरे-धीरे बहती हवा, मतवाली करनेवाली है, वह सही माने आग की साथी है।
18. विकसे कमल वहुरंग, गूँजे पुन्ज, मन्जुल मधुकरा—अनेक रंगों के पद्म खिले, गूंजे, मधु तैयार करनेवाली प्रकृति खुश हुई, मधु-मक्खी खुश हुई।
19. हृदय-निकेत—कामदेव।

पृष्ठ 277

1. निपट-रसाल-विटपवर-शाखा—सही-सही आम का पेड़, अच्छी डालोंवाला।
2. मन माखा—मन से नाखुश।
3. सुमन-चाप पर सर सन्धाने—फूल के धनुहें पर तीर ताने।
4. सविशेप—विशेष रूप से।
5. ईश-मन—शिव के मन में।
6. सौरभ-पल्लव—खुशबूदार पत्तों के वीच सौरभ, सुगन्ध है जिनके पल्लव, पत्ता, किनारा में वह (वहुव्रीहि)।
7. लोकेश्वर—लोकपाल, एक-एक लोक के अधिनायक।
8. क्षार—राख।
9. सुखाशय—सुख की इच्छा रखनेवाले। सुख, माङ्गल्य है आशय, स्थल, इच्छा जिनका वे (वहुव्रीहि)।
10. निष्कण्टक—निरुपद्रव, जिनके काँटे निकल गये हैं।
11. आशुतोप—शीघ्र तुष्ट होनेवाले।
12. व्यापे—फैलेगा।
13. वपु—शरीर।
14. मिलन-प्रसंग—मिलने का हवाला।
15. महाकार—विशाल आकारवाला।
16. महिभार—संसार का भार।
17. चन्द्र-मौलीश्वर—वह प्रभु, जिनके मस्तक पर चन्द्र है।

पृष्ठ 278

1. साँसत—कशमकश, द्विविधा।
2. अङ्गीकार—स्वीकार।
3. स्मर-हर—काम को जलानेवाले, महादेव।
4. दुन्दुभि—भेरी।
5. विजय सरसायी—जीत फैलायी।
6. सिरजा—सर्जन किया, निर्माण किया।
7. अनवद्य—कुछ न लेनेवाला।
8. अज—न पैदा होनेवाला।

पृष्ठ 279

1. मन्मथ—काम।
2. मन्मथ—शिव की तरह बुलाये—मन्मथ और शिव की तरह को, प्रकार को बुलाता है, यानी नाश को ले आता है।
3. सुगत—उत्तम रूप से जाने हुए।
4. मदन-दहन सुनकर न समायी—मदन का जल जाना सुनकर गिरि-पति के हृदय को भरोसा न हुआ।
5. सुचाई—सोचवायी, विचरवायी।
6. वेद-विधि लगन धरायी—वेद के विधान मे लग्न रखवायी।
7. पद-गत—पैर पकड़कर की जानेवाली, पद, स्थान के अनुसार।
8. शम्भु-गणो ने किया—शम्भु के गणों ने बनाया, रचा, तैयार किया।
9. सिगार—शृंगार किया।
10 व्यालाभूषण—साँपो के गहने।
11. केसरि-चर्मासन—सिंह की खाल का आसन।
12. श्री उपवीत-भुजङ्गा—श्री, चारुता, साँपों के जनेऊवाली है।
13. वसह—बैल।
14. सुर-समाज सब भाँति अनूपम—देवताओ का समाज सब तरह की उपमाओ से फबनेवाला है।
15. कुल-बरात, तूल, दूलह दूलम—कुल बारात मे तुलना करने पर दूल्हे की जोड़ नही मिलती, दूलह दूलम है।

पृष्ठ 280

1. दिशि-राज—दिक्पति।
2. वर अनुहर—वर के अनुसार, माफिक।
3. बसते हैं—सुगन्ध देते है।

4. भृङ्गी—नन्दी की तरह शिव का एक गण।
5. शीश-चरण—पैर सर पर रक्खे हुए, जल्दी।
6. वाहिनी—दल, सेना, फौज।
7. रुख—मुख।
8. पीन—मोटा।
9. कलापकर—तमाशा दिखानेवाले।
10. सद्य-शोणित-तन-भरे—निकलते हुए खून से लथपथ।
11. खर—गदहा।
12. श्रृगाल—स्यार।
13. वितान हैं—लता-मण्डप है।

पृष्ठ 281

1. सुपासे—अच्छी तरह रक्खे।
2. तोरण—प्रवेश द्वार।
3. वनिता—स्त्री।
4. आगामन—अगवानी।
5. पराने—भगे।
6. जम की धार—मौत की राह।
7. बौराह—पागल।
8. क्षर—नष्ट, इतर, नीचे।

पृष्ठ 282

1. कंचन—सोना।
2. विकट-वेश—बुरे भेष मे।
3. स्याम-सरोज-नयन—नील-कमलवाली आँखों।
4. बौर—पागल।
5. कल्पतरु—कल्पवृक्ष, इच्छानुसार फल देनेवाला पेड़।
6. तुम-सहित—तुम्हारे साथ।
7. अपजस हो जग—संसार में बुराई भी क्यों न हो?
8. जीवित विवाह न मैं करूँ—जीते जी विवाह मैं न करूँगी।
9. तपो विवाह किया बौरे वर—पागल वर के साथ तपस्याजन्य विवाह कराया।
10. पर-घर-घालक—दूसरे का घर तोड़नेवाले।
11. बाँझ—जिसके लड़का नहीं।
12. प्रसव की पीड़ा—बच्चा जनने का दर्द।
13. सम्प्रति—इस समय।

14. अङ्कविधि—भवितव्यता, विधाता के अक्षर।
15. कलङ्क-निधि—बुराइयाँ, बदनामियाँ।

पृष्ठ 283

1. तुहिन-गिरि—बर्फवाले पर्वत।
2. जग-सम्भव-पालन लयकरणी—संसार में होनेवाले पालन और विनाश को करनेवाली।
3. लीला-वपुवरणी—लीला के लिए, खेल के लिए शरीर धारण करनेवाली।
4. सीता परिच्छद—सीता का वेष।
5. मेना-हिमगिरि आनन्दे—मेना और हिमगिरि प्रसन्न हुए।
6. हाटक-घट कल—बाजारों के सुन्दर कलश।
7. सूपकारता—पाकशास्त्र।

पृष्ठ 284

1. चोंच मढ़ाई सोने—मधुर-मधुर गालियाँ गायी।
2. जग की छवि छोहे—जग की, ससार की, सुघरता को स्नेह-सिक्त करे।
3. सुन्दरता-मर्याद—सुन्दरता, चारुता की सीमा।

पृष्ठ 285

1. तुरग—घोड़ा।
2. नही मानो पर—जिसकी नाप नही।
3. श्वशुर-परितोप—ससुर की प्रसन्नता।

पृष्ठ 286

1. याचक—मँगते।
2. अति-हेतु—बहुत-से कारणोंवाले।
3. वृषकेतु—बैल की ध्वजावाले महादेव (को)।
4. सरित-शैल—सर सब-घर-साजा—सरिताओं, पहाड़ों और सरोवरो को सब घरों में सज्जित किया।
5. आदर-दान-विनय बहु-मानो—समादर, दान, विनती और अनेक प्रकार के सम्मानों से।
6. सुख-खानो—सुख की खानो, आकरों से।
7. सुर-सब ने निज लोक सँवारे—कुछ सुरों ने अपने-अपने लोक को सज्जित किया।
8. जगज्जनक-जननी—संसार के माता-पिता।

9. उनका तभी सिंगार न सिरजा—तभी मैंने उनके शृंगार की लीलाओं की वर्णना न की।
10. षट्वदन—छः मुँहवाले, कार्त्तिकेय।
11. तारक-असुर-समर-मण्डल जित—लड़ाई के मैदान में तारक नाम के असुर को जीतनेवाले।
12. पुरुपार्थ—पुरुपकार, मर्द का काम।
13. चरित-सिन्धु—चरित्र-सागर।
14. रोयें खड़े हुए दृग निर्झर—पुलक से रोमावली खड़ी हो गयी और आँखें झरने हुईं।
15. ज्ञान-दशा-सुख—समझदारी की दशावाला आनन्द जिनको मिला, वे।

पृष्ठ 287

1. वर-नारी—सुन्दर स्त्री।
2. सुतार—अच्छी तरह तार देनेवाले, अच्छे सोपानोंवाला, अच्छी सीढ़ियों-वाला, उत्तम तन्त्रीवाला, सजा हुआ।
3. अहीश्वर—सर्पों के स्वामी, नागराज।
4. हरिहर-स्मरण-शरण—विष्णु और शङ्कर के ध्यान के आश्रय मे।
5. दयिता—स्त्री, नारी।
6. दारु—लकड़ी।
7. कारु—कारीगरी।
8. दायिता-दारु-कारु के—कठपुतली के चलाने के सूत्र-धर, कठपुतली के कारीगरी के मालिक।
9. अविशदविशद—बुरे और अच्छे।
10. सुनिभृत—वहुत एकान्त।
11. तपोधन—तपस्या ही जिनका धन है, ऐसे।
12. सुख-कन्द—आनन्द की जड़।
13. महाच्छद—लम्बी छाँहवाले।
14. तुहिन-मुकुटोज्वल—वर्फ की चोटीवाले मुकुट से उज्ज्वल।
15. नव-तर कर—नयी से नयी किरण।
16. कल-सर-शतदल—सुन्दर मानसरोवर के कमल।

पृष्ठ 288

1. सुग—अच्छे-अच्छे जगनेवाले।
2. भुजग-भूति भूपण—साँप और राख को आभूषण, अलंकार किये हुए।
3. काम-रिपु—शिव।
4. लावण्य-निधि—सुन्दरता की राशि।

5. पति-हिय-हेतु—स्वामी के हृदय का कारण।
6. सुमुख—प्रसन्न।
7. विधान-मान-बहु—विधियों और नापों के अनेक प्रकारवाली।

पृष्ठ 289

1. जपते हो सिर पर रखकर तिन—बहुत छोटे बनकर जपते हो।
2. नारी-विरह विभोर—स्त्री के वियोग में डूबे हुए।
3. अनीह—माया-रहित।
4. श्रुति-सिद्धान्त—वेदों के सिद्ध किये विषय।
5. योषित—स्त्री।
6. आर्ति—कारुण्य।

पृष्ठ 290

1. सलील—लीलाओं से भरे।
2. सुखशील—भले-भले रहनेवाले, जिनके देखे सुख होता है।
3. करुणायतन—करुणा की हद, दया की हद।
4. अति-मानव-कृति—वह काम करनेवाले जो मामूली आदमी से नहीं होता।
5. विशेष विवेक-पौर—खास अक्ल की जगह रखनेवाले।
6. पामर—मन्द, पापी, दुष्ट।
7. इतर—साधारण।
8. पुलक—कम्प, रोम-हर्ष।
9. रज्जु-भुजङ्ग—रस्सी और साँप।
10. दशरथ-अजिर-विहारी—दशरथ के घर और आँगन में रहनेवाले।

पृष्ठ 291

1. श्रवण-रन्ध्र-अहि-भवन—कान के बिल को साँप का घर समझ लिया।
2. आँखों-देखा नही साधुजन, लोचन मोर पंख आलेखन—अपनी आँखों से देखा हो ऐसा साधु नही मिलता अर्थात् सुनी बात सब लोग कहते हैं, इसलिए आँखो को मोर के पंख समझना चाहिए, जिनमें आँखें बनी रहती हैं पर देखने की ताकत नहीं।
3. कटु तूम्बीसम—कड़ुवे कोंहड़े की तूंबी की तरह।
4. दादुर—मेढक।
5. कुलिश कठोर—वज्र की तरह कड़ा।
6. दनुज-विमोहन-शीला—राक्षसों को, दैत्यो को मोहनेवाली।
7. सब दुख हान—कुल कष्टों की इति।

पृष्ठ 292

1. श्रुत—सुनी हुई।
2. मोह-प्रमाद सुनायी—भ्रम और मायाजाल के कारण सुनायी हुई है।
3. अकोविद—अज्ञानी।
4. लम्पट—कामी।
5. मुकुर-मलिन-मन—जंग लगे शीशे की तरह काले मनवाले।
6. नयनहीन—बिना आँखवाले।
7. जल्पें-कल्पें—कहते और सोचते है।
8. विकुण्ठित—बहुत दबा हुआ।
9. बातुल—पागल।
10. दनुजारि—राक्षसो के शत्रु, दैत्यो के दुश्मन।
11. भ्रम-तम-रवि-कर—मोह रूपी अन्धकार के लिए सूर्य की किरण।
12. जोहा—देखा।
13. जल-हिम-उपल—पानी, बर्फ और ओले।
14. तिमिर-पतङ्ग—अन्धकार के लिए सूर्य।

पृष्ठ 293

1. लव—क्षण, अल्प मात्र।
2. मर्ष—क्रोध, पराभव।
3. परावर—परा, श्रेष्ठ विद्या के वर, पति।
4. गगन-घन-पटल—आकाश के बादलों के टुकड़े।
5. झाँपा—ढँका।
6. अविकच—अज्ञ, अप्रस्फुट।
7. नभ-तम-धूल-धूम—आकाश का अँधेरा, धूल और धुआँ।
8. इसी सत्यता से जड़ माया, विश्व भास है, मोह सुहाया—इसी सचाई के कारण माया ही विश्व के रूप से समुद्भासित, प्रकट, जाहिर है। यह माया सुहाती है।

पृष्ठ 294

1. द्रुति—जल्दबाजी से।
2. बास-विशेषण—सुगन्ध की विशेषता, अच्छी-अच्छी खुश्बू।
3. भव-वारिधि गोपद तरते नर—संसार-समुद्र को गौ के खुर के जल की तरह लोग पार कर जाते हैं।
4. भव-भञ्जन-वचना—संसार छुड़ाने की बातचीतवाली।
5. कुतर्क—बुरे वाग्जाल।

6. असम्भावना—अनहोनी।
7. अग्लानि—जिनके प्रतिक्रिया, थकान खुमार नही।
8. शरदातप—शरद काल की धूप।
9. किङ्करी—दासी।
10. त्रिपुरेश्वर—त्रिपुर के पति।

पृष्ठ 295

1. भववारण—संसार को, आवागमन को रोकनेवाले।
2. पराशय—श्रेष्ठ स्थितिवाली।
3. ज्ञानि सुनी विहगपति गरुड़ ने— चिड़ियों के स्वामी ज्ञानवान् गरुड़ ने।

भूमिकाएँ और समर्पण

1. 'कुकुरमुत्ता' के प्रथम संस्करण का समर्पण

श्री कुँवर सुरेश सिंह को

2. 'कुकुरमुत्ता' के प्रथम संस्करण की भूमिका

ज़ियाफ़त

इसमें वही शरीक होंगे, जिन्हें न्योता नहीं भेजा गया, साथ ही जो कंगाल नहीं, न ऐसे बड़े आदमी, जो अपनी जगह गड़े रह गये। मतलब साफ़ है। हम दोनों मतलब के। न हम पैरों पड़ें न वह। मिहनत की कमाई हम भी खाँय और वह भी।

—'निराला'
४-६-४२

3. 'कुकुरमुत्ता' के द्वितीय संस्करण का समर्पण

कुँवर सुरेश सिह को सस्नेह

—'निराला'

4. 'कुकुरमुत्ता' के द्वितीय संस्करण की भूमिका

आवेदन

'कुकुरमुत्ता' का संशोधित संस्करण, आशा है, पाठकों को पसन्द आयेगा। इसके व्यंग्य और इसकी भाषा आधुनिक है। जब यह पहले-पहल 'हंस' मे छपा था, डा. हेमचन्द्र जोशी ने इसकी तारीफ़ की थी, दूसरे वहकावे से लोगो को वचाने की कोशिश की थी। मैं डा. जोशी को धन्यवाद देता हूँ। अर्थ-समस्या मे निरर्थकता को समूल नष्ट करना साहित्य और राजनीति का कार्य है। वाहरी लदाव हटाना ही चाहिए, क्योकि हम जिस माध्यम से वाहर की वातें समझते हैं वह भ्रामक है, ऐसी हालत में 'इतो नष्टस्ततो भ्रष्टः' होना पड़ता है। किसी से मैत्री हो, इसका अर्थ यह नही कि हम वेजड़ और वेजर हैं। अगर हमारा नहीं रहा तो न रहने का कारण है, कार्य इसी पर होना चाहिए। हम हिन्दी-संसार के कृतज्ञ हैं, जिसने अपनी आँख पायी हैं। इस पथ मे अप्रचलित शब्द नही। वाजार आज भी गवाही देता है कि किताव चाव से खरीदी गयी, आवृत्ति हजार कान सुनी गयी और तारीफ़ लाख-मुह होती रही। हो सका तो ऐसी और रचनाएँ लायी जायंगी। इति।

काशी
८-७-४८

—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

5. 'अणिमा' का समर्पण

डॉ० रामविलास शर्मा को

6. 'अणिमा' की भूमिका

भूमिका

'अणिमा' मेरे इधर के पद्यों का सग्रह है। अधिकांश गीत है। कुछ गीत आल-इण्डिया-रेडियो, दिल्ली और लखनऊ, से गाये गये हैं। प्राय: सभी गीतों की भाषा सरल है। भाषा मे भी कई प्रकार हैं। गाने की अनुकूलता और स्वर के सौन्दर्य और श्रुति-मधुरता के विचार से, पुस्तिका के प्रारम्भ के गीत मुझे ज्यादा पसन्द हैं। मेरे कुछ साहित्यिक मित्रों ने बाद के गीतों की तारीफ की है। उनकी भाषा गद्य के अनुसार है। प्रान्तीय भाषाओ में, खासकर उर्दू मे, यह प्रकरण है और ज़ोरों से चल रहा है। मैंने पहले भी इस प्रकार के पद्य लिखे है। कुछ छोटी-बड़ी रचनाएँ प्रसिद्ध जनों पर हैं जो काव्य की दृष्टि से, आलोचकों के अनुसार, अच्छी आयी है। पढ़ने पर पाठकों को प्रसन्नता होगी। मुझे विश्वास है कि शीघ्र नये-नये उद्भावनों से मैं हिन्दी के समुत्साही पाठको की अधिक-से-अधिक सेवा कर सकूँगा। इति।

युग-मन्दिर, उन्नाव
१-८-४३

—"निराला"

7. 'वेला' का समर्पण

आचार्य कविवर जानकीवल्लभ को सस्नेह

8. 'वेला' की भूमिका

आवेदन

'वेला' मेरे नये गीतों का संग्रह है। प्राय: सभी तरह के गेय गीत इसमें है। भाषा सरल तथा मुहावरेदार है। गद्य करने की आवश्यकता नहीं। देशभक्ति के गीत भी हैं। बढ़कर नयी बात यह है कि अलग-अलग बहरों की ग़ज़लें भी हैं जिनमें फारसी के छन्द:शास्त्र का निर्वाह किया गया है। काव्य की कसौटी भी है। पाठकों की हिन्दी मार्जित हो जायगी अगर उन्होंने आधे गीत भी कण्ठाग्र कर लिये; यों आज भी व्रजभाषा के प्रभाव के कारण अधिकांश जन तुतलाते हैं, खड़ीबोली के गीत खुलकर नहीं गा पाते। प्राय: सभी दृष्टियों से उनको फायदा पहुँचाने का विचार रखा है। पढ़ने पर वे आप समझेंगे।

दारागंज; प्रयाग
१५ जनवरी १९४३ [1946]

'निराला'

9. 'नये पत्ते' का समर्पण

कृती-कवि-लेखक

श्री गङ्गा प्रसाद पाण्डेय, एम० ए० को

सस्नेह

10. 'नये पत्ते' की भूमिका

प्रस्तावना

'नये पत्ते' इधर के पद्यों का संग्रह है। सभी तरह के आधुनिक पद्य है, छन्द कई, मात्रिक, सम और असम। हास्य की भी प्रचुरता, भाषा अधिकाश में बोलचालवाली। पढ़ने पर काव्य की कुञ्जो के अलावा ऊँचे-नीचे फ़ारस-के-जैसे टीले भी। अधिक मनोरंजन और बोधन की निगाह रक्खी गयी है कि पाठको का श्रम सार्थक हो और ज्ञान बढ़े। वे अपनी भाषा की रूपरेखाएँ देखें। इति।

प्रयाग
७—३—४६

सविनय
'निराला'

कविताएँ

(1950-1961)

[1]

भव-अर्णव की तरणी तरुणा।
बरसी तुम नयनों से करुणा।

हार हारकर भी जो जीता,
सत्य तुम्हारी गायी गीता,
हुई असित जीवन की सीता,
दाव-दहन की श्रावण-वरुणा,

काटे कटी नही जो कारा
उसकी हुई मुक्ति की धारा,
वार वार से जो जन हारा,
उसकी सहज साधिका अरुणा।

[रचनाकाल : 12 जनवरी, 1950। 'कल्पना', द्वैमासिक, हैदराबाद, फरवरी, 1950, में प्रकाशित। अर्चना मे संकलित]

[2]

तन की, मन की, धन की हो तुम।
नव जागरण, शयन की हो तुम।

काम कामिनी कभी नहीं तुम,
सहज स्वामिनी सदा रही तुम,
स्वर्ग-दामिनी नदी बहीं तुम,
अनयन नयन-नयन की हो तुम।

मोह-पटल-मोचन आरोचन,
जीवन कभी नही जन-शोचन
हास तुम्हारा पाश-विमोचन,
मुनि की मान, मनन की हो तुम।

गहरे गया, तुम्हें तब पाया,
रही अन्यथा कायिक छाया,
सत्य भास की केवल माया,
मेरे श्रवण-वचन की हो तुम।

[रचनाकाल : 12 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[3]

भज भिखारी, विश्वभरणा,
सदा अशरण-शरण-शरणा।

मार्ग है पर नही आश्रय;
चलन है, पर निर्दलन-भय;
सहित-जीवन मरण निश्चय;
कह सतत जय-विजय-रणना।

पतित को सित हाथ गहकर
जो चलाती हैं सुपथ पर,
उन्ही का तू मनन कर कर
पकड़ निश्शर-विश्वतरणा।

पार पारावार कर तू,
मर विभव मे, अमर वर तू,
रे असुन्दर, सुघर घर तू,
एक तेरी तपोवरणा।

[रचनाकाल : 12 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[4]

समझा जीवन की विजया हो।
रथी दोषरत को दलने को,
विरथ व्रती पर सती दया हो।

पता न फिर भी मिला तुम्हारा,
खोज-खोजकर मानव हारा;
फिर भी तुम्हीं एक ध्रुवतारा,
नैश पथिक की पिक अभया हो।

ऋतुओं के आवर्त-विवर्तों,
लिये चलीं जो समतल-गर्तों,
खुलती हुई मर्त्य के पर्तों,
कला सफल तुम विमलतया हो।

[रचनाकाल : 12 जनवरी, 1950। 'संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 26 मार्च, 1950, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[5]

पंक्ति-पंक्ति मे मान तुम्हारा।
मुक्ति-मुक्ति में गान तुम्हारा।

आँख-आँख पर भाव बदलकर,
चमके हो रँग-छवि के पल-भर,
पुनः खोलकर हृदय-कमल कर,
गन्ध बने, अभिधान तुम्हारा।

विपुल-पुलक-व्याकुल अलि के दल,
मानव मधु के लिए समुत्कल
उठे ज्योति के पंख खमण्डल,
अन्तस्तल अभियान तुम्हारा।

वैठे हृदयासन स्वतन्त्र-मन,
किया समाहित रूप-विचिन्तन,
नृम्न मृण्मरण वचे विचक्षण,
ज्ञान-ज्ञान शुभ स्थान तुम्हारा।

[रचनाकाल : 13 जनवरी, 1950। **अर्चना** मे संकलित]

[6]

दुरित दूर करो नाथ,
अशरण हूँ, गहो हाथ।

हार गया जीवन-रण,
छोड़ गये साथी-जन,
एकाकी, नैश - क्षण,
कण्टक-पथ, विगत पाथ।

देखा है, प्रात किरण,
फूटी है मनोरमण,
कहा, तुम्ही को अशरण-
शरण, एक तुम्ही साथ।

जव तक शत मोह जाल
घेर रहे है कराल—
जीवन के विपुल व्याल,
मुक्त करो, विश्वनाथ!

[रचनाकाल : 13 जनवरी, 1950। **अर्चना** मे संकलित]

[7]

भव-सागर से पार करो हे!
गह्वर से उद्धार करो हे!

कृमि से पतित जन्म होता है,
शिशु दुर्गन्ध-विकल रोता है,
ठोकर से जगता-सोता है,
प्रभु उसका निर्वार करो हे!

पशुओं से संकुल सन्तुल जग,
अहङ्कार के बाँध बँधा मग,
नहीं डाल भी जो बैठे खग,
ऐसे तल निस्तार करो हे!

विपुल काम के जाल बिछाकर,
जीते हैं जन जन को खाकर
रहूँ कहाँ मैं ठौर न पाकर,
माया का संहार करो हे!

[रचनाकाल : 13 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[8]

रमण मन के, मान के तन!
तुम्ही जग के जीव-जीवन!

तुम्हीं मे है महामाया,
जुड़ी छुटकर विश्वकाया;
कल्पतरु की कनक-छाया
तुम्हारे आनन्द - कानन।

तुम्हारी स्वर्सरित बहकर
हर रही है ताप दुस्तर;
तुम्हारे उर है अमर-मर,
दिवाकर, शशि, तारकागण।

तुम्हीं से ऋतु घूमती है,
नये कलि - दल चूमती है,
नये आसव झूमती है,
नये गीतों, नये नर्तन!

[रचनाकाल : 14 जनवरी, 1950। **अर्चना** मे संकलित]

[9]

वन जाय भले शुक की उक से,
सुख की दुख से अवनी न वनी;
रुक जाय चली गति जो जग की,
जन से जन-जीवन की न ठनी।

विगडी वनती वन जाय सही,
डगड़ी गड़ती गड़ जाय मही;
कटती पटती पट जाय तही,
तन की मन से तनती न तनी।

सव लोग भले भिड़ जायँ यहाँ,
न चले जो गले छिड़ जायँ यहाँ,
जो चढ़े सिर थे, चिढ़ जायँ यहाँ,
जो गिरा उसकी न गिरी लवनी।

[रचनाकाल : 15 जनवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[10]

लगी लगन, जगे नयन;
हटे दोप, छुटा अयन;

दुर्मिल जो कुछ ऊर्मिल
मिल-मिलकर हुआ अखिल,
घुल-घुलकर कुल पङ्किल
घुला एक रस अशयन।

छुटे सभी विषम वन्ध
विपमय वासना-अन्ध;
संशय की गयी गन्ध,
शय-निश्चय किया चयन।

कामना विलीन हुई,—
सभी अर्थ क्षीण हुई,
उद्धत शिति दीन हुई,
दिखा नवल विश्व-वयन।

[रचनाकाल : 15 जनवरी, 1950। **अर्चना** मे संकलित]

[11]

शिशिर की शर्वरी,
हिंस्र पशुओं भरी।

ऐसी दशा विश्व की विमल लोचनो
देखी, जगा त्रास, हृदय सङ्कोचनों
काँपा कि नाची निराशा दिगम्बरी।

मातः, किरण हाथ प्रातः बढ़ाया
कि भय के हृदय से पकड़कर छुड़ाया,
चपलता पर मिली अपल थल की तरी।

[रचनाकाल : 15 जनवरी, 1950। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, अप्रैल-मई, 1951, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[12]

आशा-आशा मरे
लोग देश के हरे!

देश पड़ा है जहाँ,
सभी झूठ है वहाँ,
भूख-प्यास सत्य,
होठ सूख रहे है अरे!

आस कहाँ से बँधे ?
साँस कहाँ से सधे ?
एक - एक दास,
मनस्काम कहाँ से सरे ?

रूप-नाम है नहीं,
कौन काम तो सही ?
मही - गगन एक,
कौन पैर तो यहाँ धरे ?

[रचनाकाल : 15 जनवरी, 1950 । अर्चना में संकलित]

[13]

गत शत पथ पर
निर्जर रथ पर
तिमिर तीर हर तरुणे !
निःसंशय क्षय,
हँसा पराजय;
रुका काम, भय, करुणे !
आनत दृग की
चितवन मृग की
निर्निमेष नृग की है;
कुसुम हासमय
मुदा मदाशय
खुली महालय की जय !
एवम्विध तुम
जीवन कुङ्कुम
चढ़ी देह द्रुम पर हो;
कीर्ण कारिणी,
शीर्ण सारिणी,
तीर्ण तारणी कर हो !
फिर भी युग पद
वन्दूँ निर्मद
विश्व वशम्वद करणे !

नग्न वाहु द्वय
चरण हार, जय
नत शिर पद है, शरणे !

[सम्भावित रचनाकाल . 15 जनवरी, 1950 । 'संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 23 जनवरी, 1950, में प्रकाशित ('प्रणामा: सन्तु' शीर्षक से) । **आराधना** मे संकलित]

[14]

छाँह न छोड़ी,
तेरे पथ से उसने आस न तोड़ी ।

शाख-शाख पर सुमन खिले,
हवा-हवा से हिले मिले,
उर-उर फिर से भरे, छिले,
लेकिन उसने सुषमे, आँख न मोड़ी ।

कही आव, कही है दुराव,
कही वढ़े चलने का चाव,
पाप-ताप लेने का दाव,
कही वढ़े-वढ़े हाथ घात निगोड़ी ।

[रचनाकाल : 16 जनवरी, 1950 । **अर्चना** मे संकलित]

[15]

साधो मग डगमग पग,
तमस्तरण जागे जग ।

शाप शयन सो - सोकर,
हुए शीर्ण खो - खोकर,
अनवलाप रो - रोकर,
हुए चपल छलकर ठग ।

खोलो जीवन - वन्धन,
तोलो अनमोल नयन,
प्राणों के पथ पावन,
रँगो रेणु के रँग रग।

[रचनाकाल : 16 जनवरी, 1950। **अर्चना** मे संकलित]

[16]

सोयी अखियाँ :
तुम्हें खोजकर वाहर,
हारी सखियाँ।

तिमिरवरण हुई इसलिए,
पलको के द्वार दे दिये,
अन्तर मे अकपट,
है वाहर पखियाँ।

प्रार्थना प्रभाती जैसी,
खुलें तुम्हारे लिए वैसी,
भरें सरस दर्शन से
ये कमरखियाँ।

[रचनाकाल : 17 जनवरी, 1950। **अर्चना** मे संकलित]

[17]

तिमिरदारण मिहिर दरसो।
ज्योति के कर अन्ध कारा-
गार जग का सजग परसो।

खो गया जीवन हमारा,
अन्धता से गत सहारा;
गात के सम्पात पर उत्थान;
देकर प्राण वरसो।

क्षिप्रतर हो गति हमारी,
खिले प्रति-कलि-कुसुम-क्यारी,
सहज सौरभ से समीरण पर
सहस्रों किरण हरसो।

[रचनाकाल : 17 जनवरी, 1950। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, अगस्त, 1951, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[18]

तुम जो सुथरे पथ उतरे हो,
सुमन खिले, पराग बिखरे, ओ !

ज्योतिश्छाय केश - मुखवाली,
तरुणी की सकरुण कलिका ली,
अधर - उरोज - सरोज - वनाली,
अश्रु - ओस की भेंट भरे हो।

पवन - मन्द - मृदु - गन्ध प्रवाहित,
मधु - मकरन्द सुमन - सर - गाहित,
छन्द - छन्द सरि - तरि उत्साहित,
अवनि - अनिल - अम्बर सँवरे हो।

स्वर्ण-रेणु के उदयाचल - रवि,
दुपहर के खरतर ज्योतिश्छवि,
हे उर-उर के मुखर-मधुर कवि,
निःस्व विश्व को तुम्ही वरे हो।

[रचनाकाल : 17 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[19]

जिनकी नहीं मानी कान
रही उनकी भी जी की।

जीवन की आन-बान
तभी दुनिया की फीकी।
राह कभी नहीं भूली तुम्हारी,
आँख से आँख की खायी कटारी,
छोड़ी जो बाँधी अटारी-अटारी
नयी रोशनी, नयी तान;
रही उनकी भी जी की,
जिनकी नहीं मानी कान।

[रचनाकाल : 17 जनवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[20]

दीप जलता रहा,
हवा चलती रही,
नीर पलता रहा,
वर्फ गलती रही।

जिस तरह आग
वन में लगी हुई है—
एकता मे सरस
भास है—दुई है,—
सत्य मे भ्रम हुआ है,—
छुईमुई है,
मान बढ़ता रहा,
उम्र ढलती रही।

समय की वाट पर,
हाट जैसे लगी,—

मोल चलता रहा,
झोल जैसे दगी,—
पलक दल रुक गये,
आँख जैसे लगी,—
काल खलता रहा,
कला फलती रही।

[रचनाकाल : 17 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[21]

आँख लगायी
तुमसे जब से, हमने चैन न पायी।

छल जो, प्राणों का सम्बल हुआ,
प्राणों का सम्बल निष्फल हुआ,
जङ्गल रमने का मङ्गल हुआ,
ज्योति जहाँ वहाँ अँधेरी घिर आयी।

राह रही जहाँ वहाँ पन्थ न सूझा,
चाह रही जहाँ वहाँ एक न बूझा,
ऐसी तलवार चली कुनबा जूझा,
बन आयी वह कि दूर हुई सगाई।

[रचनाकाल : 18 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[22]

दो सदा सत्सङ्ग मुझको।
अनृत से पीछा छुटे,
तन हो अमृत का रङ्ग, मुझको।

अशन - व्यसन तुले हुए हों,
खुले अपने ढङ्ग,
सत्य अभिधा साधना हो,
बाधना हो व्यङ्ग, मुझको।

लगें तुमसे तन-वचन - मन,
दूर रहे अनङ्ग;
बाढ़ के जल बढ़ूँ, निर्मल,
मिलूँ एक उमङ्ग, मुझको।

शान्त हों कुल धातुएँ ये
बहे एक तरङ्ग;
रूप के गुण गगन चढकर,
मिलूँ तुमसे, ब्रह्म, मुझको।

[रचनाकाल : 18 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[23]

चङ्ग चढी थी हमारी,
तुम्हारी डोर न टूटी,
आँख लगी जो हमारी,
तुम्हारी कोर न छूटी।

जीवन था बलिहार,
तुम्हारा पार न आया;
हार हुई थी हमारी,
तुम्हारी जोत न फूटी।

ज्ञान गया ऐ हमारा,
तुम्हारा मान नया था,
हाथ उठा जो हमारा,
तुम्हारी रास न लूटी।

पर बढ़े थे हमारे,
तुम्हारे द्वार खुले थे,
दर्शन चाहा हमारा,
तुम्हारी, जीवन - घूटी।

[रचनाकाल : 18 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[24]

नयन नहाये
जब से उसकी छवि में रूप वहाये।

साथ छुटा स्वजनों का,
पाँख फिर गयी,
चली हुई पहली वह
राह घिर गयी,
उमड़ा उर चलने को
जिस पुर आये।

कण्ठ नये स्वर से क्या
फूटकर खुला!
बदल गयी आँख, विश्व-
रूप वह घुला!
मिथ्या के भास सभी,
कहाँ समाये!

[रचनाकाल : 18 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[25]

रङ्गभरी किस पङ्क भरी हो ?
गातहरी किस हाथ वरी हो ?

जीवन के जागरण - शयन की,
श्याम-अरुण-सित-तरुण-नयन की,
गन्ध - कुसुम - शोभा उपवन की,
मानस - मानस में उतरी हो;
जोवन - जोवन से सँवरी हो।

जैसे मै बाजार मे बिका
कौडी मोल; पूर्ण शून्य दिखा;
बाँह पकडने की साहसिका,
सागर से उत्तीर्ण तरी हो,
अल्पमूल्य की वृद्धिकरी हो।

[रचनाकाल : 19 जनवरी, 1950। **अर्चना** मे संकलित]

[26]

सरल तार, नवल गान,
नव - नव स्वर के वितान।

जैसे नव ऋतु, नव कलि,
आकुल नव-नव अञ्जलि,
गुञ्जित - अलि- कुसुमावलि,
नव - नव - मधु -गन्ध - पान।

नव रस के कलश उठे,
जैसे फल के, असु के,—
नव यौवन के वसु के
नव जीवन के प्रदान।

उठे उत्स, उत्सुक मन,
देखे वह मुक्त गगन,
मुक्त धरा, मुक्तानन,
मिला दे अदिव्य प्राण।

[रचनाकाल : 19 जनवरी, 1950। **अर्चना** मे संकलित]

[27]

पार संसार के,
विश्व के हार के,
दुरित संभार के
नाश हो क्षार के।

सविध हो वैतरण,
सुकृत-कारण - करण,
अरण - वारण - वरण,
शरण सञ्चार के।

तान वह छेड़ दी
सुमन की, पेड़ की,
तीन की, डेढ़ की,
तार के हार के!

वारवनिता विनत,
आ गये तथागत,
अप्रहत, स्नेह - रत,
मुक्ति के द्वार के।

[रचनाकाल : 19 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[28]

प्रथम वन्दूँ पद विनिर्मल,
परा - पथ पाथेय पुष्कल।

गणित अगणित नूपुरों के,
ध्वनित सुन्दर स्वर सुरों के,
सुरञ्जन गुञ्जन पुरों के,
कला निस्तल की समुच्छल।

वासना के विषम शर से
बिंधे को जो छुआ कर से,
शत समुत्सुक उत्स बरसे,
गात गाथा हुई उज्ज्वल।

खुली अन्त:किरण सुन्दर,
दिखे गृह, वन, सरित, सागर,
हँसे खुलकर हार - बाहर,
अजन जन के बने मङ्गल।

[रचनाकाल : 20 जनवरी, 1950। 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 29 जनवरी, 1950, मे प्रकाशित। **अर्चना** मे संकलित]

[29]

पैर उठे, हवा चली।
उर - उर की खिली कली।

शाख - शाख तनी तान,
विपिन - विपिन खिले गान
खिंचे नयन - नयन प्राण,
गन्ध - गन्ध सिंची गली।

पवन - पवन पावन है
जीवन - वन सावन है,
जन - जन मनभावन है,
आशा सुखशयन - पली।

दूर हुआ कलुष - भेद,
कण्टक निस्पन्द छेद,
खुले सर्ग, दिव्य वेद,
माया हो गयी भली।

[रचनाकाल : 20 जनवरी, 1950। **अर्चना** मे संकलित]

[30]

और न अब भरमाओ,
पौर आओ, तुम आओ !

जी की जो तुमसे चटकी है,
वुद्धि - शुद्धि भटकी - भटकी है;
और जनों की लट अटकी है,

ऐसे अकेले वचाओ,
छोड़कर दूर न जाओ !

खाली पूरे हाथ गये है,
ऊपर नये - नये उनये है,
सुख से मिलें जो दुख - दुनये है,

वेर न वीर लगाओ,
बढ़ाकर हाथ वटाओ !

[रचनाकाल : 20 जनवरी, 1950 । अर्चना मे संकलित]

[31]

दे न गये वचने की
साँस, आस ले न गये।

रह - रहकर मारे पर
यौवन के ज्वर के शर
नव-नव कल-कोमल कर।
उठे हुए जो न नये।

फागुन के खुले फाग
पाये जो सिन्धु - राग
दल के दल भरमाये
पातों से धाँ न छये।

गले - गले मिलने की,
कटी हुई सिलने की,
पड़ी हुई झिलने की,
आ बीती खड़े - खड़े।

[रचनाकाल : 21 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[32]

अलि की गूंज चली द्रुम-कुञ्जों।

मधु के फूटे अधर - अधर धर
भरकर मुदे प्रथम गुञ्जित-स्वर,
छाया के प्राणों के ऊपर
पीली ज्वाल पुञ्ज की पुञ्जों।

उल्टी - सीधी बात सँवरकर
काटे आये हाथ उतरकर,
बैठे साहस के, आसन पर
भुज - भुज के गुण गाये गुञ्जों।

[रचनाकाल : 21 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[33]

आज प्रथम गायी पिक पञ्चम।
गूंजा है मरु विपिन मनोरम।

मरुत - प्रवाह, कुसुम - तरु फूले,
बौर - बौर पर भौंरे भूले,
पात - गात के प्रमुदित झूले,
छायी सुरभि चतुर्दिक उत्तम।

आँखों से बरसे ज्योतिःकरण,
परसे उन्मन - उन्मन उपवन,
खुला धरा का पराकृष्ट तन,
फूटा ज्ञान गीतमय सत्तम।

प्रथम वर्ष की पाँख खुली है,
शाख - शाख किसलयों तुली है,
एक और माधुरी घुली है,
गीत - गन्ध - रस - वर्णो अनुपम।

[रचनाकाल : 21 जनवरी, 1950। अर्चना मे सकलित]

[34]

फूटे है आमों मे बौर,
भौंर वन-वन टूटे है।
होली मची ठौर-ठौर,
सभी बन्धन छूटे हैं।

फागुन के रंग राग,
बाग-वन फाग मचा है,
भरगये मोती के झाग,
जनो के मन लूटे है।

माथे अबीर से लाल,
गाल सेंदुर के देखे,
आँखें हुई है गुलाल,
गेरू के ढेले कूटे है।

[रचनाकाल : 21 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[35]

खेलूंगी कभी न होली
उससे जो नही हमजोली।

यह आँख नहीं कुछ बोली,
यह हुई श्याम की तोली,
ऐसी भी रही ठठोली,
गाढ़े - रेशम की चोली—

अपने से अपनी धो लो,
अपना घूँघट तुम खोलो,
अपनी ही बातें बोलो,
मैं बसी परायी टोली।

जिनसे होगा कुछ नाता,
उनसे रह लेगा माथा,
उनसे हैं जोड़ूँ - जाँता,
मैं मोल दूसरे मोली।

[रचनाकाल : 22 जनवरी, 1950। 'प्रकाश', साप्ताहिक, पटना, 25 फरवरी, 1953, में प्रकाशित। अर्चना मे संकलित]

[36]

प्यास लगी है, बुझाओ,
अमृत के घूँट पिलाओ।

समझा है अपना सपना है;
कुटिया मे तपना-तपना है,
निठुर शीत-जल मे कँपना है,
मुरझी आस जिलाओ—
अमृत के घूँट पिलाओ।

छूते कनक-किरन फूटेगी,
कड़ी अँधेरे की टूटेगी,
उर से कठिन भीति छूटेगी,
मूदा कमल खिलाओ—
अमृत के घूँट पिलाओ।

[रचनाकाल : 22 जनवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[37]

केशर की, कलि की पिचकारी :
पात-पात की गात सँवारी।

राग - पराग - कपोल किये है,
लाल - गुलाल अमोल लिये हैं,
तरु-तरु के तन खोल दिये हैं,
आरती जोत - उदोत उतारी—
गन्ध - पवन की धूप धवारी।

गाये खग-कुल-कण्ठ गीत शत,
सङ्ग मृदङ्ग तरङ्ग - तीर - हत,
भजन मनोरञ्जन-रत अविरत,
राग-राग को फलित किया री—
विकल-अङ्ग कल गगन-विहारी।

[रचनाकाल : 22 जनवरी, 1950। 'देशदूत', साप्ताहिक, प्रयाग, 11 फरवरी, 1951, मे प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[38]

बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु !
पूछेगा सारा गाँव, बन्धु !

यह घाट वही जिस पर हँसकर,
वह कभी नहाती थी धँसकर,
आँखें रह जाती थी फँसकर,
कँपते थे दोनों पाँव, बन्धु !

वह हँसी बहुत कुछ कहती थी,
फिर भी अपने में रहती थी,
सबकी सुनती थी, सहती थी,
देती थी सबके दाँव, बन्धु !

[रचनाकाल : 23 जनवरी, 1950। **अर्चना** मे संकलित]

[39]

गिरते जीवन को उठा दिया
तुमने कितना धन लुटा दिया !

सूखी आशा की विषम फाँस,
खोलकर साफ की गाँस-गाँस,
छन-छन, दिन-दिन, फिर मास-मास
मन की उलझन से छुटा दिया।

बैठाला ज्योतिर्मुख करकर,
खोली छवि तमस्तोम हरकर,
मानस को मानस में भरकर,
जन को जगती से खुटा दिया।

पञ्जर के निर्जर के रथ से,
सन्तुलिता को इति से, अथ से,
वरने को, वारण के पथ से,
काले तारे को टुटा दिया।

[रचनाकाल : 23 जनवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[40]

धीरे-धीरे हँसकर आयी,
प्राणों की जर्जर परछाईं।

छाया-पथ घनतर से घनतम,
होता जो गया पङ्क-कर्दम,
ढकता रवि आँखों से सत्तम,
मृत्यु की प्रथम आभा भायी।

क्या गले लगाना है बढ़कर,
क्या अलख जगाना अड़-अड़कर,
क्या लहराना है झड़-झड़कर,
जैसे तुम कहकर मुसकायी।

पिछले कुल खेल समाप्त हुए,
जो नहीं मिले वर प्राप्त हुए,
बीसो विष जैसे व्याप्त हुए,
फिर भी न कही तुम घबरायीं।

[रचनाकाल : 23 जनवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[41]

निविड़ विपिन, पथ अराल;
भरे हिंस्र जन्तु-व्याल।

मारे कर अन्धकार,
बढ़ता है अनिर्वार,
द्रुम-वितान, नही पार,
कैसा है जटिल जाल।

नही कही सुजलाशय,
सुस्थल गृह, देवालय,
जगता है केवल भय,
केवल छाया विशाल।

अन्धकार के दृढ़ कर
बँधा जा रहा जर्जर,
तन उन्मीलन निःस्वर,
मन्द्र-चरण मरण-ताल।

[रचनाकाल : 23 जनवरी, 1950। 'नई धारा', मासिक, पटना, मई, 1950, में प्रकाशित। अर्चना में संकलित]

[42]

सुरतरु वर शाखा
खिली पुष्प भाषा।

मीलित नयनों जपकर
तन से क्षण-क्षण तपकर
तनु के अनुपात प्रखर,
पूरी अभिलाषा।

वरसे नव वारिद वर,
द्रुम पल्लव-कलि-फलभर
आनत है अवनी पर
जैसी तुम आशा।

भावों के दल, ध्वनि, रस
भरे अधर-अधर सुवश,
उभरे, उर-मधुर परस,
हँसी केश-पाशा।

[रचनाकाल : 23 जनवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[43]

तुम ही हुए रखवाल
तो उसका कौन न होगा?
फूली - फली तरु - डाल
तो उसका कौन न होगा?

कान पड़ी है खटाई
तो उसकी कौन मिताई
और हिये जयमाल
तो उसका कौन न होगा?

जिसने किया है किनारा
उसी का दलबल हारा,
और हुए तुम ढाल
तो उसका कौन न होगा?

[रचनाकाल : 23 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[44]

वेदना वनी :
मेरी अवनी।

कठिन - कठिन हुए मृदुल
पद - कमल विपद संकुल
भूमि हुई शयन - तुमुल
कण्टकों घनी।

तुमने जो गही वाँह,
वारिद की हुई छाँह,
नारी से हुई नाह,
सुकृत जीवनी।

पार करो यह सागर
दीन के लिए दुस्तर,
करुणामयि, गहकर कर,
ज्योतिर्धमनी।

[रचनाकाल : 24 जनवरी, 1950। 'नई धारा', मासिक, पटना, मई, 1950, मे प्रकाशित। **अर्चना** मे संकलित]

[45]

आँख वचाते हो
तो क्या आते हो ?

काम हमारा बिगड़ गया
दिखा रूप जव कभी नया;
कहाँ तुम्हारी महा दया ?
क्या क्या समझाते हो ?—
आँख वचाते हो।

लीक छोड़कर कहाँ चलूं ?
दाने के बिना क्या तलूं ?
फूला जब नहीं क्या फलूं ?
क्या हाथ बटाते हो ? —
आँख बचाते हो।

[रचनाकाल : 24 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[46]

हरि का मन से गुणगान करो,
तुम और गुमान करो, न करो।
स्वर-गङ्गा का जल पान करो,
तुम अन्य विधान करो, न करो।

निशिवासर ईश्वर ध्यान करो,
तुम अन्य विमान करो, न करो।
ठग को जग - जीवन - दान करो,
तुम अन्य प्रदान करो, न करो।

दुख को निशि का अवसान करो,
उपमा, उपमान करो, न करो।
प्रिय नाह की बाँह का थान करो,
तुम और वितान करो, न करो।

[रचनाकाल : 24 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[47]

खुलकर गिरती है
जो, उड़ती फिरती है।

ऐसी ही एक वात चलती है,
घात खड़ी-खड़ी हाथ मलती है,
तभी सह - सही दाल गलती है
(जो) तिरती-तिरती है।

काम इशारा नहीं आया तो
जैसी माया हो, छाया हो।
मुसकाया, मन को भाया जो,
उससे सिरती है।

विगलित जो हुआ दाप से दर
प्राणों को मिला शाप से वर;
गिरि के उर से मृदु-मन्द्र-स्वर,
सरिता झिरती है।

[रचनाकाल : 24 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

•

[48]

नव तन कनक-किरण फूटी है।
दुर्जय भय - वाधा छूटी है।

प्रात धवल - कलि गात निरामय
मधु मकरन्द - गन्ध विशदाशय,
सुमन-सुमन, वन-मन अमरण-क्षय,
सिर पर स्वर्गाशिस टूटी है।

वन के तरु की कनक - वान की
वल्ली फैली तरुण - प्राण की,
निर्जल - तरु - उलझे वितान की
गत - युग की गाथा छूटी है।

[रचनाकाल : 24 जनवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[49]

घन तम से आवृत धरणी है;
तुमुल तरङ्गों की तरणी है।

मन्दिर में बन्दी है चारण,
चिघर रहे है वन में वारण,
रोता है बालक निष्कारण,
विना-सरण-सारण भरणी है।

शत संहत आवर्त - विवर्तों
जल पछाड़ खाता है पर्तों
उठते हैं पहाड़, फिर गर्तों
धँसते है, मारण - रजनी है।

जीर्ण - शीर्ण होकर जीती है,
जीवन में रहकर रीती है,
मन की पावनता पीती है,
ऐसी यह अकाम सरणी है।

[रचनाकाल : 24 जनवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[50]

नव जीवन की बीन बजायी।
प्रात रागिनी क्षीण बजायी।

घर - घर नये - नये मुख, नव कर,
भरकर नये - नये गुञ्जित स्वर,
नर को किया नरोत्तम का वर,
मीड़ अनीड़ नवीन बजायी।

वातायन - वातायन के मुख
खोली कला विलोकन - उत्सुक,
लोक - लोक आलोक, दूर दुख,
आगम - रीति प्रवीण बजायी।

[रचनाकाल : 24 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[51]

पाप तुम्हारे पाँव पड़ा था,
हाथ जोड़कर ठाँव खड़ा था।

विगत युगों का जङ्ग लगा था,
पहिया चलता न था, रुका था,
रगड़ कड़ी की थी, सँवरा था,
पथ चलने का काम बड़ा था।

जड़ता की जड़ तक मारी थी,
ऐसी जगने की वारी थी,
मञ्जिल भी थककर हारी थी,
ऐसे अपने नाँव चढ़ा था।

सभी उहार उतार दिये थे,
फिर से पट्टे श्वेत सिये थे,
तीन - तीन के एक किये थे,
किसी एक अपवर्ग मढ़ा था।

[रचनाकाल : 24 जनवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[52]

तन, मन, धन वारे हैं:
परम - रमण, पाप-शमन,
स्थावर - जङ्गम - जीवन;
उद्दीपन, सन्दीपन,
सुनयन रतनारे हैं।

उनके वर रहे अमर
स्वर्ग-धरा पर सञ्चर,
अक्षर - अक्षर अक्षर,
असुर अमित मारे हैं।

दूर हुआ दुरित, दोष
गूँजा है विजय - घोष,
भक्तों के आशुतोष,
नभ - नभ के तारे हैं।

[रचनाकाल : 25 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[53]

वे कह जो गये कल आने को,
सखि, बीत गये कितने कल्पों।
खग-पाँख-मढ़ी मृग-आँख लगी,
अनुराग जगी दुख के तल्पों।

उनकी जो रही, बस की न कही,
रस की रसना अपना न रही,
विपरीत की टेक न एक सही,
दिन बीत चले अल्पों-अल्पों।

उनकी जय उर-उर भय भसका,
उनके मग में जग-जय मसका,
उनके डग से कुछ क्षय धसका,
पर दरस गये जल्पों-जल्पों।

[रचनाकाल : 25 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[54]

क्यों मुझको तुम भूल गये हो ?
काट डाल क्या, मूल गये हो।

रवि की तीव्र किरण में पीकर
जलता था जब विश्व प्रखरतर,
तुम मेरे छाया के तरु पर
डाल पवन से झूल गये हो।

विफल हुई साधना देह की,
असफल आराधना स्नेह की,
बिना दीप की रात गेह की,
उलटे फलकर फूल गये हो।

नहीं ज्ञात, उत्पात हुआ क्यों,
ऐसा निष्ठुर घात हुआ क्यों,
विमल-गात अस्नात हुआ क्यों,
बढ़ने को प्रतिकूल हो गये ?

[रचनाकाल : 25 जनवरी, 1950 । अर्चना में संकलित]

[55]

तुम से जो मिले नयन
दूर हुए दुरित - शयन।

खिले अङ्ग - अङ्ग अमल
नर के प्रातः-शतदल
पावन - पवनोत्कल - पल,
अलक-मन्द - गन्ध-वयन।

खग-कुल-कल - कण्ठ-राग
फूटे नग, नगर बाग,
अधर - विधुर छुटे दाग,
कर-कर सित-सुमन-चयन।

अखिल के न खिले हुए,
खुले हिले - मिले हुए,
एक ताग सिले हुए
आये हो एक अयन।

[रचनाकाल : 25 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[56]

वन-वन के झरे पात,
नग्न हुई विजन-गात,

जैसे छाया के क्षण,
हँसा किसी को उपवन
अव कर-पुट विज्ञापन,
क्षमापन, प्रपन्न प्रात।

करुणा के दान-मान,
फूटे नव पत्र-गान,
उपवन-उपवन समान
नवल-स्वर्ण-रश्मि-जात।

[रचनाकाल : 25 जनवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[57]

मानव का मन शान्त करो हे !
काम, क्रोध, मद, लोभ, दम्भ से
जीवन को एकान्त करो हे !

हिलें वासना-कृष्ण-तृष्ण उर,
खिलें विटप छाया-जल-सुमधुर,
गूँजे अलि-गुञ्जन के नूपुर,
निज-पुर-सीमा-प्रान्त करो हे !

विहग-विहग नव गगन हिला दे,
गान खुले-कण्ठ-स्वर गा दे,
नभ-नभ कानन-कानन छा दे,
ऐसे तुम निष्क्रान्त करो हे !

रूखे - मुख की रेखा सोये,
फूट - फूटकर माया रोये,
मानस-सलिल-मलिनता धोये,
प्रपि मग से आक्रान्त करो हे !

[रचनाकाल : 26 जनवरी, 1950 । **अर्चना में संकलित**]

[58]

जीवन के मधु से भर दो मन,
गन्ध विधुर कर दो नश्वर तन,
मोह मदिर चितवन को चेतन,
आत्मा को प्रकाश से पावन।

अन्धकार के अन्तराल को
दूर करो, तनु आलवाल को
शक्ति सलिल से सींच-सींचकर
फेरो अपनी ओर खींचकर।

जग की दुर्दम बाधाओं से
मुझे बचाओ तुम, नाओं से
जैसे स्रोत - भँवर को तरकर
नाविक खे लाते है अक्षर।

मेरा पथ आलोकित कर दो,
प्राणों मे नव स्पन्दन भर दो।

[सम्भावित रचनाकाल : जनवरी, 1950 का अन्तिम सप्ताह। 'साहित्यकार', मासिक, इलाहाबाद, मई, 1955, मे प्रकाशित । **आराधना में संकलित**]

[59]

तुमने स्वर के आलोक - ढले
गाये हैं गाने गले - गले।

बचकर भव की भंगुरता से
रागों के सुमनों से बागे
रँग-रेणु-गन्ध के वे भाले
मीड़ों के नीड़ों से निकले।

नश्वरता पर सस्वर छाये
जैसे पल्लव के दल आये,
वन के वसन्त के मन भाये
जैसे जन बैठे छाँह-तले।

बोले, अब अपना पथ सूझा,
भूला जीवन-प्रकरण बूझा,
प्रबल से प्रबलतर अरि जूझा,
रोके जो सहसा चक्र चले।

[रचनाकाल : 6 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[60]

लिया-दिया तुमसे मेरा था,
दुनिया सपने का डेरा था।

अपने चक्कर से कुल कट गये,
काम की कला ने हट हट गये,
छापे में तुम्हीं निपट पट गये,
उलटा जो सीधा ढेरा था।

सही आँख तुम्हीं दिखे पहले,
नहले पर तुम्हीं रहे दहले,
बहते थे जितने थे बहले,
किसी जीभ तुमको टेरा था।

तभी किनारे लगा दिया है,
जहाँ करारा गिरा दिया है,
कैसा तुमने तरा दिया है,
गहरा भँवरों का फेरा था।

[रचनाकाल : 6 फरवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[61]

गीत गाने दो मुझे तो,
वेदना को रोकने को।

चोट खाकर राह चलते
होश के भी होश छूटे,
हाथ जो पाथेय थे, ठग-
ठाकुरों ने रात लूटे,
कण्ठ रुकता जा रहा है,
आ रहा है काल देखो।

भर गया है जहर से
संसार जैसे हार खाकर,
देखते है लोग लोगों को
सही परिचय न पाकर,
बुझ गयी है लौ पृथा की,
जल उठो फिर सीचने को।

[रचनाकाल : 6 फरवरी, 1950। अर्चना मे सकलित]

[62]

सहज - सहज कर दो :
सकलश रस भर दो।

ठग ठगकर मन को
लूट गये धन को,
ऐसा असमंजस, धिक
जीवन - यौवन को :
निर्भर हूँ, वर दो।

जगज्जाल छाया,
माया ही माया,
सूझता नही है पथ
. अन्धकार आया;
तिमिर - भेद शर दो।

[रचनाकाल : 6 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[63]

वासना - समासीना
महती जगती दीना।

जलद - पयोधर - भारा,
रवि - शशि - तारक - हारा,
व्योम - मुखच्छविसारा
शतधारा पथ - हीना।

ऋषिकुल - कल - कण्ठस्तुति,
दिव्य - शस्य - सकलाहुति,
निगमागम - शास्त्रश्रुति
रासभ - वासव - वीणा।

[रचनाकाल : 6 फरवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[64]

ये दुख के दिन
काटे है जिसने
गिन - गिनकर
पल - छिन तिन - तिन।
आँसू की लड़ के मोती के
हार पिरोये,
गले डालकर प्रियतम के
लखने को शशिमुख
दु:खनिशा में
उज्ज्वल अमलिन।

[रचनाकाल : 6 फरवरी, 1950। अर्चना मे संकलित।

[65]

कुञ्ज - कुञ्ज कोयल बोली है,
स्वर की मादकता घोली है।

काँपा है घन पल्लव - कानन,
गूँजी गुहा श्रवण - उन्मादन,
तने सहज छादन - आच्छादन,
नस ने रस - वशता तोली है।

गृह - वन जरा - मरण से जीकर
प्राणों का आसव पी - पीकर
झरे पराग - गन्ध - मधु - शीकर,
सुरभित पल्लव की चोली है।

तारक - तनु रवि के कर सञ्चित,
नियमित अभिसारक जीवित सित,
आमद - पद - भर मञ्जु-गुञ्जरित,
अलिका की कलिका डोली है।

[रचनाकाल : 6 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[66]

हार तुममें बनी है जय,
जीत की जो चक्षु में क्षय।

विषम कम्पन वली के उर,
सद्नुमोचन छली के पुर,
कामिनी के अकल नूपुर,
भामिनी के हृदय में भय।

रच गये जो अधर अनरुण,
बच गये जो विरह - सकरुण,
अनसुने जो सच गये सुन,
जो न पाया, मिला आशय।

क्षणिकता चिर-धनिक की है,
पणिकता जग-वणिक की है,
राशि जैसे कणिक की है,
वाम जैसे है निरामय।

[रचनाकाल . 7 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[67]

अट नहीं रही है
आभा फागुन की तन
सट नहीं रही है।

कहीं साँस लेते हो,
घर-घर भर देते हो,
उड़ने को नभ में तुम
पर - पर कर देते हो,
आँख हटाता हूँ तो
हट नहीं रही है।

पत्तों से लदी डाल
कही हरी, कही लाल,
कही पड़ी है उर में
मन्द-गन्ध-पुष्प - माल,
पाट - पाट शोभा-श्री
पट नही रही है।

[रचनाकाल : 7 फरवरी, 1950। अर्चना मे सकलित]

[68]

कौन गुमान करो जिन्दगी का ?
जो कुछ है कुल मान उन्ही का।

बाँधे हुए घर - बार तुम्हारे,
माथे है नील का टीका,
दाग़ - दाग कुल अङ्ग स्याह है,
रङ्ग रहा है फीका—
तुम्हारा कोई न जी का।

एक भरोसा, एक सहारा,
वारा - न्यारा वन्दगी का,
ज्ञान गठा कव, मान हुआ कव,
व्यान गया जव पी का,
वना कव आन किसी का ?

[रचनाकाल : 7 फरवरी, 1950। प्रर्चना मे संकलित]

[69]

छोड़ दो, न छेड़ो टेढ़े,
कव वसे तुम्हारे खेड़े ?

यह राह तुम्हारी कब की,
जिसको समझे हम सब की ?
गम खा जाते है अब की,
तुम खबर करो इस ढब की,
हम नही हाथ के पेड़े।

सब जन आते-जाते है,
हँसते है, बतलाते है,
आपस मे इठलाते है,
अपना मन बहलाते है,
तुमको खेने हैं बेडे।

[रचनाकाल : 7 फरवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[70]

प्रिय के हाथ लगाये जागी,
ऐसी मैं सो गयी अभागी।

हरसिंगार के फूल झर गये,
कनक रश्मि से द्वार भर गये,
चिड़ियो के कल कण्ठ भर गये,
भस्म रमाकर चला विरागी।

शिशु-गण अपने पाठ हुए रत,
गृही निपुण गृह के कर्मो नत,
गृहिणी स्नान-ध्यान को उद्यत,
भिक्षुक ने घर भिक्षा माँगी।

[रचनाकाल : 7 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[71]

तार-तार निकल गये,
देखा जब नये-नये।

तड़के जो गठे बन्द,
काँपा उर मधुर छन्द,
गूँजी ध्वनि मन्द - मन्द,
देह हुई शिथिल अये !

आँखों की खुली गली,
मिली कलित - गन्ध कली,
भीतर जो रही छली,
अङ्ग सुरभि - रङ्ग छये।

बन्द हो गया प्रलाप,
प्रशमित हो गया ताप,
धुला - धुला मिला पाप,
किरण - मुखर मुख उनये।

[रचनाकाल : 10 फरवरी, 1950 । **अर्चना** में संकलित]

[72]

लघु तटिनी, तट छायी कलियाँ;
गूँजी अलियों की आवलियाँ।

तरियों की परियाँ है जल पर,
गाती हैं खग-कुल-कल-कल-स्वर,
तिरती है सुख - सुकर पङ्ख - भर,
रुम घूमकर सुघर मछलियाँ।

जल - थल - नभ आनन्द - भास है,
किसी विश्वमय का विकास है,
सलिल - अनिल ऊर्मिल विलास है,
निस्तल - गीति-प्रीति की तलियाँ।

परिचय से नञ्चित सारा जग,
राग - राग से जीवन जगमग,
सुख के उठते है पुलकित डग,
रह जाती हैं अपल पुतलियाँ।

[रचनाकाल : 10 फरवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[73]

हार गयी मै तुम्हें जगाकर,
धूप चढ़ी प्रखर से प्रखरतर।

वर्जन के जो वज्र - द्वार हैं,
क्या खुलने के भी किवार है?
प्राण पवन से पार - पार हैं,
जैसे दिनकर निष्कर, निश्शर।

पञ्च विपञ्ची से विहीन है;
जैसे जन आयु से क्षीण हैं;
सभी विरोधाभास पीन है,
असमय के जैसे धाराधर।

[रचनाकाल : 10 फरवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[74]

तरणि तार दो
अपर पार को।

खे - खेकर थके हाथ,
कोई भी नहीं साथ,
श्रम-शीकर-भरा माथ,
बीच-धार, ओ!

पार किया तो कानन,
मुरझाया जो आनन,
आओ हे निर्वारण,
विपत वार लो ।

पड़ी भँवर-बीच नाव,
भूले हैं सभी दाँव,
रुकता है नहीं राव—
सलिल-सार, ओ !

[रचनाकाल : 10 फरवरी, 1950 । अर्चना मे संकलित]

[75]

गीत गाये है मधुर - स्वर,
किरण-कर वीणा नवलतर ।

ताकते है लोग, आये
कहाँ तुम, कैसे सुहाये,
अनन्तर अन्तर समाये,
कठिन छिपकर, सहज खुलकर ।

कान्त है कान्तार दुर्मिल,
सुधर स्वर से अनिल ऊर्मिल
भीड से शत - मोह घूर्मिल,
तार से तारक, कलावर ।

छा गया जैसे अखिल भव,
द्रुमों से जागा यथा दव,
ऋतु-कुसुम से गन्ध, आसव,
उषा से जैसे कनक - कर ।

[रचनाकाल : 10 फरवरी, 1950 । 'संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 2 जुलाई, 1950, में प्रकाशित । अर्चना में संकलित]

[76]

हँसो अधर - धरी हँसी,
बसो प्राण - प्राण - बसी।

करुणा के रस उर्वर
कर दो ऊसर - ऊसर,
दुख की सन्ध्या धूसर
हीरक - तारको - कसी।

मोह छोह से भर दो,
दिशा देश के स्वर दो,
परास्पर्श दो पर को,
शरण वरण - लास - लसी।

चरण मरण - शयन - शीर्ण,
नयन ज्ञान - किरण - कीर्ण,
स्नेह देह - दहन - दीर्ण,
रहन विश्व - वास - फँसी।

[रचनाकाल : 10 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[77]

कठिन यह संसार, कैसे विनिस्तार?
ऊर्मि का पाथार कैसे करे पार?

अयुत भंगुर तरङ्गों टूटता सिन्धु,
तुमुल-जल-बल-भार, क्षार-तल, कुल विन्दु,
तट-विटप लुप्त, केवल सलिल-संहार।

ऋतु-वलय सकल शय नाचते है यहाँ,
देख पड़ता नहीं, आँचते हैं यहाँ,
सत्य में झूठ, कुहरा-भरा संभार।

[रचनाकाल : 10 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[78]

नील जलधि जल,
नील गगन - तल
नील कमल - दल
नील नयन द्वय।

नील मृत्ति पर,
नील मृत्यु - शर,
नील अनिल - कर,
नील निलय - लय।

नील मोर के
नील नृत्य रे,
नील कृत्य से
नील शवाशय।

नील कुसुम-मग,
नील नग्न-नग,
नील शील-जग,
नील कराभय।

[रचनाकाल : 11 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[79]

क्या सुनाया गीत, कोयल!
समय के समधीत, कोयल!

मञ्जरित है कुञ्ज, कानन,
जानपद के पुञ्ज - आनन,
वर्ष के कर हर्ष के शर
विंध गया है शीत, कोयल!

कामना के नयन वञ्चित,
रुचिर रचनाकरों - सञ्चित,
मधुर मधु का तथ्य, अथवा
पथ्य है नवनीत, कोयल !

[रचनाकाल : 11 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[80]

भजन कर हरि के चरण, मन !
पार कर मायावरण, मन !

कलुष के कर मे गिरे हैं
देह - क्रम तेरे फिरे हैं,
विपथ के रथ से उतरकर
वन शरण का उपकरण, मन !

अन्यथा है वन्य कारा
प्रवल पावस, मध्य धारा,
टूटते तन से पछड़कर
उखड़ जायेगा तरण, मन !

[रचनाकाल : 11 फरवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[81]

अनमिल - अनमिल मिलते
प्राण, गीत तो खिलते।

उड़ती है छुट - छुटकर
आँखें मन के नभ पर
और किसी मणि के घर
झिलमिल सुख से हिलते।

किससे मैं कहूँ व्यथा—
अपनी जित-विजित कथा?
होगी भी अनन्यथा
छन की लौ के झिलते?

[रचनाकाल : 11 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[82]

मुदे नयन, मिले प्राण,
हो गया निशावसान।

जगते-जग के कलरव
सोये, उर के उत्सव
मन्द हुए स्पन्दित जव,
मिले कण्ठ-कण्ठ गान।

एक हुए दोनों वर,
ईश्वर के अविनश्वर,
पार हुए घर-प्रान्तर,
अन्तर में निरवमान!

ज्ञान-सूत्र मे मिलकर,
स्वर्ग से चढ़े ऊपर,
जहाँ नही नर, न अमर—
सुन्दरता का विधान।

[रचनाकाल : 12 फरवरी, 1950। **अर्चना** मे संकलित]

[83]

जननि, मोह की रजनी
पार कर गयी अवनी।

तोरण - तोरण साजे,
मङ्गल - वाजे वाजे,
जन - गण - जीवन राजे,
महिलाएँ वनीठनीं।

साड़ी के खिले मोर
रेशम के हिले छोर,
शिञ्जित है वोर - वोर,
चमकी है कनी - कनी।

क्षिति पर है लौह - यान,
गगन विकल है विमान,
थल पर है उथल - पुथल,
जल पर तैरी तरणी।

[रचनाकाल : 12 फरवरी, 1950। 'नई धारा', मासिक, पटना, अक्तूबर, 1950, मे प्रकाशित। **अर्चना** मे संकलित]

[84]

उनसे ससार,
भव - वैभव - द्वार।

समझो वर निर्जर रण;
करो वार वार स्मरण,
निराकार करण - हरण,
शरण, मरण पार।

रवि की छवि के प्रभात,
ज्योति के अदृश्य गात,
गन्ध - मन्द - पवन - जात,
उर - उर के हार।

[रचनाकाल : 12 फरवरी, 1950। 'नई धारा', मासिक, पटना, अक्तूबर, 1950, मे प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[85]

मधुर स्वर तुमने बुलाया,
छद्म से जो मरण आया।

बो गयी विष वायु पच्छिम,
मेघ के मद हुई रिमझिम,
रागिनी में मृत्युः द्रिमद्रिम,
तान मे अवसान छाया।

चरण की गति मे विरत लय,
साँस में अवकाश का क्षय,
सुषमता मे असम सञ्चय,
वरण में निश्शरण गाया।

[रचनाकाल : 12 फरवरी, 1950। 'नई धारा', मासिक, पटना, जून, 1951, मे प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[86]

गवना न करा।
खाली पैरों रास्ता न चला।

कँकरीली राहे न कटेंगी,
बेपर की बातें न पटेंगी,
काली मेघनियाँ न फटेंगी,
ऐसे-ऐसे तू डग न भरा।

कुछ भी न बता तू रहा पता,
सपने - सपने दे रहा धता,
जो पूरा - पूरा माल - मता,
मुरझा न जायगा बाग़ हरा।

[रचनाकाल : 12 फरवरी, 1950। **अर्चना** मे संकलित]

[87]

कैसे हुई हार तेरी निराकार,
गगन के तारकों बन्द हैं कुल द्वार?

दुर्ग दुर्धर्ष यह तोड़ता है कौन?
प्रश्न के पत्र, उत्तर प्रकृति है मौन;
पवन इङ्गित कर रहा है—निकल पार।

सलिल की ऊर्मियों हथेली मारकर
सरिता तुझे कह रही है कि कारगर
विपत से वारकर जब पकड़ पतवार।

क्षिति के चले सीत कहते विनत भाव—
जीवन बिना अन्न के है विपन्नाव;
कैसे दुसह द्वार से करे निर्वार?

[रचनाकाल : 13 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[88]

तुम आये, कनकाचल छाये,
ऐ नव-नव किसलय फैलाये।
शतशत वल्लरियाँ नत-मस्तक,
झुककर पुष्पाधर मुसकाये।

परिणय अगणन यौवन-उपवन,
संकुल फल के गुञ्जन भाये;
मधु के पावन सावन सरसे,
परसे जीवन-वन मुरझाये।

रवि-शशि-मण्डल, तारा-ग्रह-दल
फिरते पल-पल दृग-दृग छाये,
मूर्छित गिरकर जो अनृत अकर,
सुषमा के वर सर लहराये।

[रचनाकाल : 13 फरवरी, 1950। 'नई धारा', मासिक, पटना, जून, 1951, मे प्रकाशित। अर्चना मे संकलित]

[89]

खोले अमलिन जिस दिन
नयन विश्वजन के,
दिखी भारती की छवि,
बिके लोग धन के।

तन की छुट गयी सुरत,
रुके चरण मायामत,
रोग - शोक - लोक वितत
उठे नये रण के।

तटिनी के तीर खड़े
खम्भे थे, वीर बड़े,
मेरु के करार चढ़े,
श्रम के यौवन के।

[रचनाकाल : 13 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[90]

तू दिगम्बर, विश्व है घर
ज्ञान तेरा सहज वर कर।
शोकसारण करणकारण,
तरणतारण विष्णु-शङ्कर।

अमित सित के असित चित के,
त्वरित हित के राम वा नर,
लक्षणासन सङ्ग लक्ष्मण
वासनारण - प्रहर - खर - शर।

गति अनाहत, तू सखा मत,
सहज संयत, रे अकातर,
ध्यान के सम्मान मे रत
ज्ञान के शतपथ - चराचर।

[रचनाकाल : 13 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[91]

कौन फिर तुझको वरेगा
तू न जब उस पथ मरेगा ?

निखिल के शर शत्रु हनकर,
क्षत भले कर क्षत्र बनकर,
तू चला जब तक न तनकर,—
धर्म का ध्वज कर न लेगा।

देश के अवशेष के रण
शमन के प्रहरण दिया तन
तो हुआ तू शरणशारण,
विश्व तेरे यश भरेगा।

मिलेंगे जन अशङ्कित मन
खिलेंगे निश्शेष - चेतन,
विषद - वासों के विभूषण,
चरण के तल, तू तरेगा।

[रचनाकाल : 14 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[92]

हरिण-नयन हरि ने छीने हैं।
पावन रँग रग-रग भीने है।

जिती न-चहती माया महती,
बनी भावना सहती - सहती,
भीतर धँसी साधना बहती,
सिले छेद जो तन सीने है।

जाने जन जो मरे जिये थे,
फिरे सुकृत जो लिये दिये थे,
हुए हिये जो मान किये थे,
पटे सुहसन, वसन झीने है।

[रचनाकाल : 14 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[93]

हुए पार द्वार-द्वार
कहीं मिला नहीं तार।

विश्व के समाराधन
हँसे देखकर उस क्षण,
चेतन जनगण अचेत
समझे क्या जीत हार ?

काँटों से विक्षत पद,
सभी लोग अवशम्वद,
सूख गया जैसे नद
सुफलभार सुजलधार।

केवल है जन्तु-कवल
गयी तन्तु नवल-धवल
छुटा छोर का सम्बल,
टूटा उर-सुघर हार।

[रचनाकाल : 14 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[94]

पथ पर वेमौत न मर,
श्रम कर तू विश्रम-कर।

उठा उठा करद हाथ,
दे दे तू वरद साथ,
जग के इस सजग प्रात
पात-पात किरनें भर।

वढ़ा वढ़ा कर के तन,
जगा जगा निश्चेतन,
भगा भीरु जीवन-रण
सर-सर से उभर सुघर।

चलते चलते छुटकर
द्रुम की मधुलता उतर
विधुर स्पर्श कर पथ पर
युवा-युवतियों के सर।

[रचनाकाल : 14 फरवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[95]

कनक कसौटी पर कढ़ आया
स्वच्छ सलिल पर कर की छाया।

मान गये जैसे सुनकर जन
मन के मान अवश्रित प्रवचन,
जो रणमद पद के उत्तोलन,
मिलते ही काया से काया।

चले सुपथ सत्य को सँवरकर
उचित बचा लेने को टक्कर,
तजने को जीवित अनिश्वर,
मिलती जो माया से माया।

वाद - विवाद गाँठकर गहरे
वार्ये सदा छोड़कर बहरे,
कथा व्यथा के, गाँव न ठहरे,
सत् होकर जो आया, पाया।

[रचनाकाल : 14 फरवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[96]

साध पुरी, फिरी धुरी।
छुटी गैल-छैल-छुरी।

अपने वश हैं सपने,
सुकर बने जो न बने,
सीधे हैं कड़े चने,
मिली एक एक कुरी।

सबकी आँखों उतरे
साख-साख से सुथरे,
सुए के हुए खुथरे
ऊपर से चली छुरी।

सज-धजकर चले-चले
भले-भले गले-गले
थे जो इकले-दुकले
बातें थीं भली-बुरी।

[रचनाकाल : 14 फरवरी, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[97]

पतित हुआ हूँ भव से तार;
दुस्तर दव से कर उद्धार।

तू इङ्गित से विश्व अपरिमित,
रच-रचकर करती है अवसित,
किस काया से किस छायाश्रित,
मैं बस होता हूँ बलिहार।

समझ में न आया तेरा कर
भर देगा या ले लेगा हर,
सीस झुकाकर उन चरणों पर,
रहता हूँ भय से इस पार।

रुक जाती है वाणी मेरी,
दिखती है नादानी मेरी,
फिर भी मति दीवानी मेरी,
कहती है, तू ठेका उतार।

[रचनाकाल : 16 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[98]

पतित पावनी, गंगे!
निर्मल-जल-कल-रंगे!

कनकाचल-विमल धुली,
शत-जनपद-प्रगद-खुली,
मदन-मद्द न कभी तुली
लता-वारि-भ्रू - भंगे!

सुर-नर-मुनि-असुर-प्रसर
स्तव रव-बहु गीत-विहर
जल-धारा - धाराधर—
मुखर, मुकर-कर-अंगे!

[रचनाकाल : 16 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[99]

चरण गहे थे, मौन रहे थे,
विनय वचन बहु-रचन कहे थे।

भक्ति-आँसुओं पद पखारकर,
नयन-ज्योति आरति उतारकर,
तन-मन-धन सर्वस्व वारकर,
अमर-विचाराधार बहे थे।

आस लगी है जी की जैसी
खण्डित हुई तपस्या वैसी,
विरति सुरति मे आयी कैसी,
कौन मान-उपमान लहे थे।

ठोकर गली गली की खायी
जगती से न कभी बन आयी,
रहे तुम्हारी एक सगायी,
इसीलिए कुल ताप सहे थे।

[रचनाकाल : 17 फरवरी, 1950 । अर्चना में संकलित]

[100]

विपद-भय-निवारण करेगा वही सुन,
उसी का ज्ञान है, ध्यान है मान-गुन।

वेग-चल, वेग चल, आयु घटती हुई,
प्रमुद-पद की सुखद वायु कटती हुई;
जल्पना छोड़ दे जोड़ दे ललित धुन।

सलिल मे मीन है मग्न, मनु अनिल में
सीखने के लिए ज्ञान है अखिल मे,
विमल अनवद्य की भावना सद्य चुन।

अन्यथा सकल आराधना शून्य है,
मृत्तिका भाप है, पाप भी पुण्य है,
भेद की आग में व्यर्थ अब तो न भुन।

[रचनाकाल : 17 फरवरी, 1950। अर्चना मे संकलित]

[101]

श्याम-श्यामा के युगल पद
कोकनद मन के विनिर्मद।

हृदय के चन्दन सुखाशय,
नयन के वन्दन निरामय,
निश्शरण के निर्गमन के
गगन-छाया-तल सदाश्रय,
उषा की लाली लगे दुख के,
जगे के योग के गद।

नन्द के आनन्द के घन,
बाधना के साध्य-साधन,
शेष के अवशेष के फल
ज्योति के सम्वलित जीवन,
प्राण के आदान के बल,
मान के मन के वशम्वद।

[रचनाकाल : 17 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[102]

काम के छवि-धाम
शमन प्रशमन राम !

सिन्धुरा के सीस
सिन्दूर, जगदीश,
मानव सहित-कीश,
सीता - सती - नाम।

अरि-दल-दलन-कारि,
शंकर, समनुसारि
पद-युगल-तट - वारि
सरिता, सकल याम।

शेष के तल्प कल
शयन अवशेष-पल,
चयन-कलि-गन्ध- दल
विश्व के आराम।

[रचनाकाल : 17 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[103]

हे जननि, तुम तपश्चरिता,
जगत की गति, सुमति भरिता।

कामना के हाथ थककर
रह गये मुख विमुख बककर,
निःस्व के उर विश्व के सुर
बह चली हो तमस्तरिता।

विवश होकर मिले शङ्कर,
कर तुम्हारे है विजय वर,
चरण पर मस्तक झुकाकर
शरण हूँ, तुम मरण सरिता।

[रचनाकाल : 17 फरवरी, 1950। अर्चना में संकलित]

[104]

किरणों की परियाँ मुसका दी।
ज्योति हरी छाया पर छा दी।

परिचय के उर गूँजे नूपुर
थिर चितवन से चिर मिलनातुर
विष की शत वाणी से विच्छुर
गाँस गाँस की फाँस हिला दीं।

प्राणों की अञ्जलि से उड़कर
छा-छा कर ज्योतिर्मय अम्बर
बादल से ऋतु समय बदलकर
बूंदों से वेदना बिछा दीं।

पादप-पादप को चेतनतर
कर के फहराया केतनवर,
ऐसा गाया गीत अनश्वर,
कण के तन की प्यास बुझा दी।

[सम्भावित रचनाकाल : 1950 का पूर्वार्ध। 'संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 11 जून, 1950, मे प्रकाशित। अर्चना मे संकलित]

[105]

तुम्हारी छाँह है, छल है;
तुम्हारे बाल हैं, बल है।

दृगों में ज्योति है, शय है,
हृदय में स्पन्द है, भय है।
गले मे गीत है, लय है,
तुम्हारी डाल है, फल है।

उरोरुह राग है, रति है,
प्रभा है, सहज परिणति है,
सुतनुता छन्द है, यति है,
कमल है जाल है, जल है।

[सम्भावित रचनाकाल : फरवरी-अगस्त, 1950। अर्चना में संकलित]

[106]

माँ, अपने आलोक निखारो,
नर को नरक-त्रास से वारो।

विपुल दिशावधि शून्य वर्गजन,
व्याधि-शयन जर्जर मानवमन,
ज्ञान-गगन से निर्जर जीवन
करुणाकरों उतारो, तारो।

पल्लव में रस, सुरभि सुमन मे,
फल में दल, कलरव उपवन में,
लाओ चारु-चयन चितवन मे,
स्वर्ग धरा के कर तुम धारो।

[सम्भावित रचनाकाल : फरवरी-अगस्त, 1950। 'संगम', साप्ताहिक, इलाहाबाद, 18 मार्च, 1951, मे प्रकाशित। **अर्चना** मे सकलित]

[107]

चली निशि में तुम, आयी प्रात;
नवल वीक्षण, नवकर सम्पात।

नूपुर के निक्वण कूजे खग,
हिले हीरकाभरण, पुष्प मग,
साँस समीरण, पुलकाकुल जग,
हिलते पग जलजात।

[सम्भावित रचनाकाल : फरवरी-अगस्त, 1950। **अर्चना** मे संकलित]

[108]

तपी आतप से जो सित गात,
गगन गरजे घन, विद्युत पात।

पलटकर अपना पहला ओर,
वही पूर्वा छू-छू कर छोर;
हुए शीकर से निश्शर कोर,
स्निग्ध शशि जैसे मुख अवदात।

[सम्भावित रचनाकाल : फरवरी-अगस्त, 1950। **अर्चना** में संकलित]

[109]

मुक्तादल जल बरसो, बादल,
सरिसर कलकल सरसो, बादल !

शिखि के विशिख चपल नर्तन वन,
भरे कुञ्जद्रुम षटपद गुञ्जन,
कोकिल काकलि जित कल कूजन,
सावन पावन परसो, बादल !

अनियारे दृग के तारे द्वय,
गगन-धरा पर खुले असंशय,
स्वर्ग उतर आया था निर्भय,
छवि छवि से यों दरसो, बादल !

बदले क्षिति से नभ, नभ से क्षिति,
अमित रूपजल के सुख मुख मिति,
जीवन की जित-जीवन संचिति,
उत्सुक दुख-दुख हरसो, बादल !

[रचनाकाल : 14 अगस्त, 1950। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, जनवरी, 1951, में प्रकाशित। **अर्चना** मे सकलित]

[110]

गगन गगन है गान तुम्हारा
घन घन जीवनयान तुम्हारा।

नयन नयन खोले है यौवन,
यौवन यौवन बाँधे सुनयन,
तन तन मन साधे मन मन तन,
मानव मानव मान तुम्हारा।

क्षिति को जल, जल को सित उत्पल,
उत्पल को रवि, ज्योतिर्मण्डल,
रवि को नील गगनतल पुष्कल,
विद्यमान है दान तुम्हारा।

वालों को क्रीडाप्रवाल हैं,
युवकों को तनु, कुसुम-माल है,
वृद्धों को तप, आलवाल है,
छुटा-मिला जप-ध्यान तुम्हारा।

[रचनाकाल : 14 अगस्त, 1950। 'संगम', साप्ताहिक, इलाहावाद, 3 सितम्वर, 1950, मे प्रकाशित। **अर्चना** मे संकलित]

[111]

वीन वारण के वरण घन
जो वजी वर्षित तुम्हारी,
तार तनु की नाचती उतरी
परी, अप्सरकुमारी।

लूटती रेणुओं की निधि।
देखती निज देश वारिधि,
वह चली सलिला अनवसित
ऊर्मिला, जैसे उतारी।

चतुर्दिक छन-छन छनन-छन,
विना नूपुर के रणन-रण,
वीचि के फिर शिखर पर,
फिर गर्त पर, फिर सुध विसारी।

[रचनाकाल : 14 अगस्त, 1950। 'संगम', साप्ताहिक, इलाहावाद, 3 सितम्वर, 1950, में प्रकाशित। **अर्चना** में संकलित]

[114]

निर्झर केशर के शर के हैं,
मरकर जीवन के वर के हैं।

उभर - उभरकर पंखों वाली,
कलि-कलि से भर दी है डाली,
विश्व प्रकृति ने प्याला प्याली
खोली किरणों के कर से एँ !

अकल दृष्टि है, अपना वैभव
देख रहे हैं सकल कलासव,
ढलते - ढलते हुए नित्य नव,
छुटे न छुटे हुए पर के हैं।

[रचनाकाल : जनवरी, 1951। आराधना मे संकलित]

[115]

फूल खिले	···	नयन मिले
हृदय हिले	···	तरुणों के
पवन वही	···	सही-सही
सभी कही	···	यों झोंके
किसलय के	···	परिणय से
राग झरें	···	किरणों से
खगकुल ने	···	गाये हैं
कड़ियो मे	···	गानों के।

['प्रदीप', मासिक, शिमला, 10 फरवरी, 1951 ('मदनोत्सव नाच-गीत' शीर्षक से)। असंकलित कविताएँ मे संकलित]

[116]

गोरे अधर मुसकायी
हमारी वसन्त विदाई।

अङ्ग-अङ्ग वलखायी
हमारी वसन्त विदाई।

परिमल के निर्झर जो वहे ये,
नयन खुले कहते ही रहे ये—
जग के निष्ठुर घात सहे ये,
वात न कुछ वन पायी,
कहाँ से कहाँ चली आयी।

भाल लगा ऊपा का टीका,
चमका सहज सँदेसा पीका,
छूटा भय पतिपावन जी का,
फूटी तरुण अरुणाई,
कि छुट गयी और सगाई।

[रचनाकाल : मार्च, 1951। आराधना मे सकलित]

[117]

कैसी सुहायी जुन्हाई
निशा मे दिवा फिर आयी।

ऊँची कटारी अकास, चाँद मुख,
गोरे विभास लोग भूले दुख,
वह - वह आते हैं सौरभ - सुख,
फीके शीत क्षिति छायी—
हुई - न - हुई जो सगाई।

जी की धुन गूँजी वन - उपवन,
सूने सुख से सिहरे कानन,
खुले सपरिचय आनन-आनन,
जोत से जोत जगायी!
प्रीति की रीति रमायी।

['नई धारा', मासिक, पटना, अप्रैल-मई, 1951 ('होली' शीर्षक से)। असंकलित]

[118]

मुस्कुरा दी रातरानी
खुली जैसे विश्ववाणी

ले चली है पवन चेरी
गन्ध की निरुपमित ढेरी
दिग्दिगन्तों अन्व करती
श्रमिक लोगो की निवेरी
कह रही है देश के
उद्देश की कर्षक कहानी

विश्व की वह गन्ध दुर्दम
कौन जो होगी यहाँ सम
आ गयी फिर भी यहाँ जल—
ज्वार का जैसे समुद्गम
चढ़ाकर अपना उतारो
उपवनों से पान-पानी ।

['संगम,' साप्ताहिक, इलाहाबाद, 28 अक्तूबर, 1951 । **असंकलित कविताएँ** में संकलित]

[119]

सभी तुम्हारे जीते, हारे।

बालपन, चपलता की गोद
किये तरह-तरह के विनोद,
छये सुखशर के आमोद
लाखो आँखों के तारे।

वेदना - नदी में दिन - रात
मारे बेचारों ने हाथ
पार किये जाने को साथ
विद्या के पाथ पसारे।

आज नदी जग्न वल घटता है
पौरुष का पुरुष पलटता है
ज्ञान मान-मानों वटता है
विसरे गुण विना विसारे।

['संगम', साप्ताहिक, इलाहावाद, 11 नवम्वर, 1951। आराधना में संकलित]

[120]

दे सकाल, काल, देश
दिशावधि अशेष, शेष।

सोये जो कमल सलिल
कर सुहास - वास, अखिल,
खिलकर खोले दुर्मिल
मेल - मोल के सुकेश।

विन्दु - वदन बने इन्दु
लहरे सुख - मुखर सिन्धु
इन्द्र एक केन्द्र - विन्दु
प्रात के विभात देश।

[रचनाकाल : 1951। आराधना में संकलित]

[121]

पद्मा के पद को पाकर हो
सविते, कविता को यह वर दो।
वारिज के दृग रवि के पदनख
निरख-निरखकर लहें अलख सुख,
चूर्ण - ऊर्मि - चेतन जीवन रख
हृदय - निकेतन स्वरमय कर दो।

एक दिवस के जीवन में जय
जरा - मरण - क्षय हो निस्संशय,
जागे करुणा, अक्षतपश्चय,
काल एक को सुकराकर हो।
मेरी अलक धूलिपग पोछे,
श्रम शरीर का पलक अँगोछे,
उठें ऊर्ध्व मन से जो ओछे,
मिलें निलय मे एक प्रकर दो।

[रचनाकाल : 24 अगस्त, 1952। 'नई धारा', मासिक, पटना, अक्तूबर, 1952, में प्रकाशित। आराधना मे संकलित]

[122]

दुख के सुख जियो, पियो ज्वाला,
शङ्कर की स्मर - शर की हाला।

शशि के लाञ्छन हो सुन्दरतर,
अभिशाप समुत्कल जीवन - वर
वाणी कल्याणी अविनश्वर
शरणो की जीवन - पण माला।

उद्वेल हो उठो भाटे से,
बढ़ जाओ घाटे - घाटे से।
ऐंठो कस आटे - आटे से,
भर दो जीकर छाला - छाला।

[रचनाकाल : 25 अगस्त, 1952। आराधना मे संकलित]

[123]

धाये धाराधर धावन हे!
गगन - गगन गाजे सावन हे!

प्यासे उत्पल के पलकों पर
बरसे जल धर-धर-धर-धर-धर,
शीकर - शीकर से श्रम पीकर,
नयन - नयन आये पावन हे!

श्याम दिगन्त दाम - छवि छायी,
वही अनुत्कुण्ठित पुरवाई,
शीतलता - शीतलता आयी,
प्रियतम जीवन - मन भावन हे!

[रचनाकाल : 25 अगस्त, 1952। आराधना मे संकलित]

[124]

आयी कल जैसी पल
खिचे-खिचे रहे सकल।

स्यन्दन नभ से उतरा,
हुआ स्पन्द और खरा,
निखरी जो दृष्टि परा,
दिखे दिव्य नयनोत्पल।

काँपे दिग्वास तरुण,
लहरा निश्वास अरुण,
हुई धरा करुण - करुण,
जागा यौवन, मङ्गल।

[रचनाकाल : 25 अगस्त, 1952। आराधना मे संकलित]

[125]

कमल - कमल युगपदतल,
नील सरोवर जल, थल।

ऊर्मिल मृदु गन्ध हास,
भू पर फैला प्रकाश,
छाया दिङ्मधुर वास,
प्रतिपल कलकल कलकल।

खुली हुई केशराशि,
दृष्टि राम-श्याम भासि,
जीवन की मरण - पाशि,
समाश्वासि काशी कल।

[रचनाकाल : 26 अगस्त, 1952। आराधना में संकलित]

[126]

मरा हूँ हजार मरण
पायी तव चरण - शरण।

फैला जो तिमिर - जाल
कट - कटकर रहा काल,
आँसुओं के अंशुमाल,
पड़े अमित सिताभरण।

जल - कलकल - नाद बढ़ा,
अन्तर्हित हर्ष कढ़ा,
विश्व उसी को उमड़ा,
हुए चारु-करण सरण,

[रचनाकाल : 26 अगस्त, 1952। आराधना मे संकलित]

[127]

अरघान की फैल,
मैली हुई मालिनी की मृदुल शैल।

नाले पड़े हैं,
हजारों जवानों कि जानों लड़े हैं;
कहीं चोट खायी कि कोसों बढ़े हैं,
उड़ी आसमाँ को खुरीधूल की गैल—
अरघान की फैल।

काटे कटी काटते ही रहे तो,
पड़े उम्रभर पाटते ही रहे तो,
अधूरी कथाओ,
करारी व्यथाओं,
फिरा दी जवानें कि ज्यों बाल में बैल।

[रचनाकाल : 26 अगस्त, 1952। आराधना में संकलित]

[128]

रँग रँग से यह गागर भर दो,
निष्प्राणों को रसमय कर दो।

माँ, मानस के सित शतदल को
रेणु - गन्ध के पङ्ख खिला दो,
जग को मङ्गल मङ्गल के पग
पार लगा दो, प्राण मिला दो;
तरु को तरुण पत्र - मर्मर दो।

खग को ज्योतिःपुञ्ज प्रात दो
जग - ठग को प्रेयसी रात दो,
मुझको कविता का प्रपात दो,
अविरत मारण - मरण हाथ दो,
बँधे परों के उड़ते वर दो!

[रचनाकाल : 26 अगस्त, 1952। 'पाटल', मासिक, पटना, नवम्बर, 1952, में प्रकाशित। आराधना मे संकलित]

[129]

छेड़ दे तार तू पुनर्वार
फिर हो अरण्य में चरणचार।

फिर घाटी-घाटी से बंधकर
वातुल घूमें झूमकर भँवर,
प्राणों की पावनता भरकर
खोले स्वर की सुन्दर विचार।

जङ्गम को जड़, जड़ को जङ्गम
कर दे, भर दे सम और विषम,
उठते गिरते स्वर के निरुपम
सरिगम तोड़ें दुर्दम चहार।

[रचनाकाल : 26 अगस्त, 1952। **आराधना** में संकलित]

[130]

आज मन पावन हुआ है,
जेठ मे सावन हुआ है।

अभी तक दृग वन्द थे ये,
खुले उर के छन्द थे ये,
सजल होकर वन्द थे ये,
राम अहिरावण हुआ है।

कटा था जो पटा रहकर,
फटा था जो सटा रहकर,
डटा था जो हटा रहकर,
अचल था, धावन हुआ है।

[रचनाकाल : 26 अगस्त, 1952। 'अवन्तिका', मासिक, पटना, नवम्बर, 1952, में प्रकाशित। **आराधना** मे संकलित]

[131]

सुख के दिन भी याद तुम्हारी
की है, ली है राह उतारी।

उपवन मे यौवन के निरलस
बैठी थी, तनमन विरस-विरस,
आये लाख बार वासे, बस
हुई दशा सारी की सारी।

मेरे मानस को उभारकर
अन्तर्धान हो गये सत्वर,
उठी अचानक मैं जैसे स्वर,
कोकिल की काकली सँवारी।

[रचनाकाल : 7 सितम्बर, 1952। 'पाटल', मासिक, पटना, जनवरी, 1953, में प्रकाशित। आराधना मे संकलित]

[132]

कृष्ण कृष्ण राम राम,
जपे हैं हजार नाम।

जीवन के लड़े समर,
डटे रहे, हारे स्तर,
स्मर के शर के मर्मर,
गये, पुनः जिते धाम।

ऐसे उत्थान - पतन,
भरा हुआ है उपवन,
प्राणो का गमागमन,
है प्रमाण से प्रणाम।

दिखे दित्य सभी लोक
शोकहर विटप अशोक,
नैश चन्द्र और कोक,
आकर्षण या विराम।

[रचनाकाल : 13 सितम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[133]

ऊर्ध्व चन्द्र, अधर चन्द्र,
माझ मान मेघ मन्द्र।

क्षण-क्षण विद्युत् प्रकाश,
गुरु गर्जन मधुर भास,
कुज्झटिका अट्टहास,
अन्तर्दृग विनिस्तन्द्र।

विश्व अखिल मुकुल-बन्ध,
जैसे यतिहीन छन्द,
सुख की गति और मन्द,
भरे एक - एक रन्ध्र।

[रचनाकाल : 13 सितम्बर, 1952। आराधना मे संकलित]

[134]

कामरूप, हरो काम;
जपूँ नाम, राम, राम।

शवरी, गज, गणिकादिक,
हुए कृष्ट प्रासारिक,
पारिक, मैं सांसारिक,
अविद्या हो व्यंग्यदाम।

गणता मेरी न गयी,
आयी फिर ज्योति नयी,
तरी दिव्यता उनई,
तेरी मेरी प्रकाम।

[रचनाकाल : 13 सितम्बर, 1952। 'प्रकाश', साप्ताहिक, पटना, 11 फरवरी, 1953, में प्रकाशित। आराधना मे संकलित]

[135]

हार गया,
ज्यों मैं उस पार गया।

जाना था नही, वह रहस्य क्या,
वहाँ कहीं अपना भी वश्य क्या,
भोजन को भूमि कहाँ, शस्य क्या?
कोई मुझको यहाँ उबार गया—
मार गया,
हार गया।

[रचनाकाल : 13 सितम्बर, 1952। 'योगी', साप्ताहिक, पटना, 2 नवम्बर, 1957, मे प्रकाशित। आराधना मे संकलित]

[136]

द्वार पर तुम्हारे,
खड़ा हुआ विश्व
कर पसारे।

ऐसी दयनीयता हुई है क्या,
फूली है, भीतरी रुई है क्या,
दुनिया में लड़े तो दुई है क्या,
विसरा यह नही रे विसारे।

समझौते समझौते चले गये,
सोचा है, तो हम कब छले गये,
उल्टा तो बिगड़े के भले गये,
हार गया परा जो न रे पारे।

[रचनाकाल : 15 सितम्बर, 1952। 'योगी, साप्ताहिक, पटना, 2 नवम्बर, 1957, में प्रकाशित। आराधना मे संकलित]

[137]

नील नील पड़ गये प्राण वे
जहाँ उठे थे शुभ्र गान वे।

जीवन की विजया से चढ़कर,
उड़े पताक सहित गढ़-गढ़ पर,
आज प्रहत निर्वात अपढ़ कर,
शिथिल हुए जो तान-मान वे !

तङ्ग हुआ पतङ्ग जलता है,
मानवदेव हाथ मलता है,
कैसा यह विरोध पलता है,
मौन हो रहे ज्ञान-ध्यान वे !

[रचनाकाल : 15 सितम्बर, 1952। आराधना मे संकलित]

[138]

छोटा है तो जी छोटा कर,
कट गया समूह बड़ा सत्वर।

आखों के तिल मे दिखा गगन,
वैसे कुल समा रहा है मन,
तू छोटा बन, बस छोटा बन,
गागर मे आयेगा सागर।

जब भाप उड़ेगी उस जल की,
उस नभ की सागर है गगरी,
तू चला चले पकड़े डगरी,
यह पारावार कि य' परावर।

[रचनाकाल : 15 सितम्बर, 1952। 'योगी', साप्ताहिक, पटना, 2 नवम्बर, 1957, में प्रकाशित। आराधना मे संकलित]

[139]

साँझ के माझ के प्राण-धन वारिए,
पार को सार कर करके सँवारिए।
अपनी विभूति को राख यदि कर सके,
भाव-विभव तर सके, उत्तम सँवर सके,
जीवन-अरण्य मे निर्भय विचर सके,
हर सके शोक, इतरो को उतारिये।
जन विपज्जन्य होकर अगर आपके;
शाप के, पाप के, ताप के, दाप के;
होगे न वे कभी हृदय की नाप के,
उनसे समझकर उबरिए, उबारिए।

[रचनाकाल : 18 सितम्बर, 1952। 'पाटल', मासिक, पटना, दिसम्बर, 1952, मे प्रकाशित। आराधना मे संकलित]

[140]

राम के हुए तो बने काम,
सँवरे सारे धन, धान, धाम।

पूछा जग ने, वह राम कौन ?
बोली विशुद्धि जो रही मौन,
वह जिसके दून, न ड्योढ़-पौन,
जो वेदों में है सत्य, साम।

वह सूर्य्यवंश सम्भूत तभी,
जीवन की जय का सूत तभी,
कृष्णार्जुन हारण पूत तभी,
जो चरण विचारण विना दाम।

[रचनाकाल : 18 सितम्बर, 1952। आराधना मे संकलित]

[141]

विपदा हरण हार हरि हे करो पार।
प्रणव से जो कुछ चराचर तुम्हीं सार।

तुम्ही अविनाशी विहग व्योम के देश,
परिमित अपरिमाण मे तुम हुए शेष,
सृष्टि में दृश्य रसरूप भोजन-वेश
फैलकर सिमटकर तुम्ही हो निर्धार।

बहुविध तुम्हारा उपाख्यान गाया
फिर भी कहा अन्त अब भी न पाया,
मूर्त हो या स्फूर्त तुम कुछ न आया,
पदों पर दण्डप्रणाम के सम्भार।

[रचनाकाल : 18 सितम्बर, 1952। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, दिसम्बर, 1952, में प्रकाशित। आराधना मे संकलित]

[142]

दुखता रहता है अब जीवन;
पतझड़ का जैसा वन-उपवन।

झर-झरकर जितने पत्र नवल
कर गये रिक्त तनु का तरुदल,
हैं चिह्न शेष केवल सम्बल,
जिनसे लहराया था कानन।

डालियाँ बहुत-सी सूख गयीं,
उनकी न पत्रता हुई नयी,
आधे से ज्यादा घटा विटप
बीज को चला है ज्यों क्षण-क्षण।

यह वायु वसन्ती आयी है
कोयल कुछ क्षण कुछ गायी है,
स्वर में क्या भरी बुढ़ाई है,
दोनों ढलते जाते उन्मन।

[रचनाकाल : 19 सितम्बर, 1952। 'राका-4', मुजफ्फरपुर, 1953, मे प्रकाशित। आराधना में संकलित]

[143]

ओस पड़ी, शरद् आयी।
हरसिंगार मुसकायी।

बादल वे बदल गये,
कटे-छटे नये-नये,
नभ में आये, उनये,
बन्द हुई पुरवाई।

जुही आन-बान भरी,
चमेली जवान परी,
मालती खिली, निखरी,
शीत हवा सरसायी।

नद के उद्गार घटे,
निकले तट कटे-छटे;
गीले औ' कीचपटे,
फैली हल-चलवाई।

[रचनाकाल : 19 सितम्बर, 1952। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ, नवम्बर, 1953, मे प्रकाशित। आराधना मे संकलित]

[144]

मेरी सेवा ग्रहण करो हे!

शुद्ध सत्व से क्षण-क्षण यह
काष्ठा से रहित शरीर भरो हे!

वारित करो भ्रमित मानव-मन,
स्थिर जैसे सुगन्धवासित तन,
तुम्ही रहो वहते रहते कण,
तरे विश्व इस तरह तरो हे।

वहुत तुम्हारे मारे-मारे
फिरते हैं हारे वेचारे,
चेतन मधु-गन्ध के सहारे
उन्हें प्राण दो, मुझे हरो हे!

[रचनाकाल : 19 सितम्बर, 1952। **आराधना में संकलित**]

[145]

जब तू रचना में हँस दी
तूल-तूल के फूल खिले
पल्लव डोले--चिड़िया चहकी।

क्या गली-गली गुथ गयी रेणु,
ग्वाल के वाल की बजी वेणु,
हौली-हौली वढ़ गयी धेनु,
चोली हमजोली की मसकी।

कुम्हलायी डाली हरियाई,
खुल-खुलकर तरु कोयल गायी,
वल खाती विपुल हवा आयी,
सौरभ-सौरभ धरती कसकी।

[रचनाकाल : 14 नवम्बर, 1952। **आराधना में संकलित**।

[146]

हिम के आतप के तप झुलसो,
नाम-वारि के वारिद हुलसो।

भीगे कठिन धरा निष्पावन,
चले चतुर्दिक हल अभिभावन,
बोये बीज सीझकर उलसो।

बढ़ें नये पौधे लह लहकर,
पुरवाई के झोंके सहकर,
थके नयन सावन-घन गहकर,
जीवन के शावन तुम सुलसो।

[रचनाकाल : 14 नवम्बर, 1952। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 1 अगस्त, 1954, में प्रकाशित। आराधना में संकलित]

[147]

नहीं रहते प्राणों में प्राण,
फूट पड़ते हैं निर्झर-गान।

कहाँ की चाप, कहाँ की भाप,
कहाँ का ताप, कहाँ का दाप,
कहाँ के जीवन के परिमाप,
नहीं रे ज्ञात कहाँ का ज्ञान।

सरित के बोल खुले अनमोल,
उन्हीं में मुक्ता-जल-कल्लोल,
एक सन्दीपन का हिन्दोल,
एक जीती प्रतिमा वहमान।

[रचनाकाल : 14 नवम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[148]

दुख हर दे, जल-शीतल सर दे !
वरदे ! पावन उर को कर दे !

शून्य कोष ओसों से भर दे,
तरु को रश्मि, पत्र - मर्मर दे,
मौन तूलि को मूर्ति मुखर दे,
पग-पग को जग के डग तर दे !

पारण को गोधूम - चूर्ण, घृत,
सुरभि सुचारण को सौरभ-सृत,
निर्धारण को नाम अलंकृत,
मारण को कलि-कल्मष, वर दे !

[रचनाकाल : 14 नवम्बर, 1952। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 8 नवम्बर, 1953, मे प्रकाशित। **आराधना** मे संकलित]

[149]

सुख का दिन डूबे डूब जाय।
तुमसे न सहज मन ऊब जाय।

खुल जाय न मिली गाँठ मन की,
लुट जाय न उठी राशि धन की,
धुल जाय न आन शुभानन की,
सारा जग रूठे रूठ जाय।

उलटी गति सीधी हो न भले,
प्रति जन की दाल गले न गले,
टाले न बान यह कभी टले,
यह जान जाय तो खूब जाय।

[रचनाकाल : 14 नवम्बर 1952। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 14 दिसम्बर, 1952, मे प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[150]

छलके छल के पैमाने क्या !
आये बेमाने माने क्या !

हलके-हलके हल के न हुए,
दलके-दलके दल के न हुए,
उफले-उफले फल के न हुए,
वेदाने थे तो दाने क्या ?

कट रहा जमाना कहाँ पटा ?
हट रहा पैर जो कहाँ सटा ?
पूरा कब है जब लगा बटा
रुपया न रहा तो आने क्या ?

[रचनाकाल : 14 नवम्बर, 1952। **आराधना मे संकलित**]

[151]

सूने है साज आज
विना तुम्हारे विराज।

तूलि-तूलि के सुस्वर
गीत धूलि मे धूसर,
वाणीमय, मरु, प्रान्तर,
छई है विषण्ण लाज।

दिग्वधू निराश, दीन
अम्बर पीवर, सुपीन,
नारि-नयन-ज्योति क्षीण
क्षिति पर जैसे जहाज।

[रचनाकाल : 15 नवम्बर, 1952। **आराधना में संकलित**]

[152]

(जब) हाय समायी है,
कह, कौन बन आयी है?

बने को बिगाड़ा सौ माखों,
हाथ - माथ बैठे है लाखों,
काम कभी सुधरा भी साखों,
बदली छायी है।

उठने वाले डग कुछ और हैं,
जैसे खाने वाले कौर है,
ऐसे वैसे ही सिरमौर है,
बुरी रसाई है।

[रचनाकाल : 15 नवम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[153]

हे मानस के सकाल!
छाया के अन्तराल!

रवि के, शशि के प्रकाश,
अम्बर के नील भास,
शारद-घन गहन-हास,
जगती के अंशुमाल।

मानव के रूप सुघर,
मन के अतिरेक अमर,
निःस्व विश्व के सुन्दर,
माया के तमोजाल।

[रचनाकाल : 15 नवम्बर, 1952। आराधना मे संकलित]

[154]

मारकर हाथ भव-वारिधि तरो, प्राण !
गगन मे गूँजकर ऐच्छिक करो गान !

दूर हो दुरित, सुख-सुरित फूटे, वहे,
एक अनुभव अनूद्व हृदय मे रहे,
कामना - काम प्रतियाम मानव सहे,
विश्व होकर रहे स्वर्ग का सुस्थान।

अनुद्वेलित हुआ चित्सिन्धु जहाँ है,
मिल रहे है जहाँ, सृष्टि के सभी शय,
विना जिसके नही स्थिति, रहा है विलय,
वही हो सही इस देह का अभियान।

[रचनाकाल : 15 नवम्बर, 1952। आराधना मे संकलित]

[155]

सत्य पाया जहाँ जग ने, दान तेरा ही वहाँ है।
जहाँ भी पूजा चढ़ी है, मान तेरा ही वहाँ है।

जहाँ है शत पथ निरादर, देखकर जन जीव कादर,
कृत्य में अन्तर्निहित अभिमान तेरा ही वहाँ है।
तूलि के रँग खुली कलियाँ, गूँजती षटपदावलियाँ,
महकती-गलियाँ, सुरभि का गान तेरा ही वहाँ है।

जिस प्रवर्षण भूमि उर्वर, जिस तपन मरु धूम्र-धूसर,
जिस पवन लहरा दिगन्तर, ज्ञान तेरा ही वहाँ है।

[रचनाकाल : 15 नवम्बर, 1952। आराधना मे संकलित]

[156]

बाँधो रस के निर्झर
अम्बर के सर सुस्तर।

फूटे किल कनक-भास—
रवि-शशि - उडुगण-प्रकाश,
विद्युच्छवि मन्द हास,
पृथ्वी पर पट-विस्तर।

क्षिति-जल-तल ताल सुकर,
गान प्रभञ्जन सुर-स्वर,
खग-कुल-कल-तान मुखर,
सङ्ग रङ्ग मे जलचर।

[रचनाकाल : 15 नवम्बर, 1952। 'पाटल', मासिक, पटना, जनवरी, 1954, मे प्रकाशित। आराधना में संकलित]

[157]

मेरा फूल न कुम्हला पाये,
जल उलीचकर, मूल सींचकर
लौटे तुम तरु-तरु के साये।

तले मोर नाचे, डाली पर
चहके खग प्राणों से खुलकर,—
नभ-चारण के स्वर मडलाये।

लौटी ग्राम - वधू पनघट से,
लगा चितेरा अपने पट से,
बँधी नाव हिलती हैं तट से,
कवि के अग्नि-प्राण उकताये।

[रचनाकाल : 16 नवम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[158]

पालो तुम सकल शकल।
हो धरा सजल श्यामल।

भरो धान भरो मान,
करो लोक का विधान,
तानो नूतन वितान,
प्राणों को करो सफल।

किरण खड़ी हो इकटक,
पातो के पड़ें पलक,
मिले ऋद्धि, शक्ति अथक,
पुरे विश्व के सम्वल।

[रचनाकाल : 16 नवम्बर, 1952। आराधना मे संकलित]

[159]

तप के बन्धन बाँधो, बाँधो!
मन के साधन साधो, साधो!

वस्तु तुम्हारी ध्यान रहे यह,
विषय विष बना ज्ञान रहे यह,
गेह देह है मान रहे यह,
ऐसे तन आराधो, साधो!

कठिन रज्जु, जड़ की चेतन की,
वसुधा बँधी विजय-केतन की,
काम करो, न वात वेतन की,
ऐसे जुए न नाधो, साधो!

[रचनाकाल : 16 नवम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[160]

जावक-जय चरणों पर छायी।
पलक-पलास डाल कलियायी।

थोक अशोक—कोकनद फूले,
मधु के मद भौंरे दिक् भूले,
मानव के मन जीवन तूले,
ऋत की ऋतु अवनी भर आयी।

पावक-पाश दिगन्त बँधा है,
अग-जग जैसे अडग सधा है,
सुषमा में सुख-रूप बँधा है,
नभ में नयन-मुक्ति मडलायी।

[रचनाकाल : 16 नवम्बर, 1952। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 10 फरवरी, 1957, मे प्रकाशित। आराधना में संकलित]

[161]

पल - प्रकाश को शाश्वत कर !
हरित् हृदय पर मन्द उतर !

आँखों में चितवन, चित मे सित
अमृत, अधर में सुधा-धार-स्मित,
पग में गति, जय-जीवन वाञ्छित;
अलख अकिञ्चन कर डम्बर !

निखिल पलक देखें अस्मित-तन,
दृग भावों के वारि - विमोचन;
हृदय - हृदय में नन्दन - स्पन्दन;
हर नश्वर, दे सत्व अमर !

[रचनाकाल : 17 नवम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[162]

पार - पारावार जो है
स्नेह मे मुझको दिखा दो,
रीति क्या, कैसे नियम,
निर्देश कर करके सिखा दो।

कौन से जन, कौन जीवन,
कौन से गृह, कौन आँगन,
किन तनों की छाँह के तन,
मान मानस में लिखा दो।

पठित या निष्पठित वे नर,
देव या गन्धर्व किन्नर,
लाल, पीले, कृष्ण, धूसर;
भजन क्या भोजन चिखा दो।

[रचनाकाल : 17 नवम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[163]

बात न की तो क्या बन आती ?
नूपुर की कब रिन - रन आती ?

बन्द हुई जब उर की भाषा,
समर-विजय की तब क्या आशा,
बढ़ी नित्यप्रति और निराशा,
बिना डाल कलि क्या तन आती ?

बलीवर्द के बिना जुआ है,
मुख न रहा तो असुख, मुआ है,
कलप - कलपकर कलुष हुआ है,
दो नही मिले, क्या ठन आती ?

[रचनाकाल : 17 नवम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[164]

मानव के तन केतन फहरे।
विजय तुम्हारी नभ में लहरे।

छल के बल-सम्बल सब हारें,
तुम पर जन तन-मन-धन वारें,
असुरो को जी जीकर पारें,
अन्धकार का मानस घहरे।

जो न हुआ वह गुजरे होकर,
जो न गया वह लौटे रोकर,
जो न खुला खोलो तुम धोकर,
टेक तुम्हारी मन मे ठहरे।

[रचनाकाल : 17 नवम्बर, 1952। आराधना मे संकलित]

[165]

नील नयन, नील पलक;
नील वदन, नील झलक।

नील - कमल - अमल-हास,
केवल रवि - रजत भास,
नील - नील आस - पास,
वारिद - नव - नील छलक।

नील - नीर - पान - निरत
जगती के जन अविरत,
नील नाल से आनत,
तिर्यक-अति - नील अलक।

[रचनाकाल : 17 नवम्बर, 1952। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 8 मार्च, 1953, में प्रकाशित। आराधना मे संकलित]

[166]

मन का समाहार
करो विश्वाधार।

गहन कण्टक - जटिल
मग चले पग निखिल,
गया है हृदय हिल,
लो थके को वार।

कोई नही और,
एक तुम हो ठौर,
दूर सब जन, पौर,
भव से करो पार।

[रचनाकाल : 17 नवम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[167]

हँसो मेरे नयन,
वसो मेरे अयन।

हरो मेरे हरण,
भरो मेरे भरण,
चलो मेरे चरण,
पलो मेरे शयन।

गहो मेरे द्विकर,
अहो, मेरे प्रवर,
बहो मेरे इतर,
चहो मेरे चयन।

[रचनाकाल : 17 नवम्बर, 1952। आराधना मे संकलित]

[168]

अशरण - शरण राम,
काम के छवि - धाम।

ऋषि - मुनि - मनोहंस,
रवि - वंश - अवतंस,
कर्मरत निश्शंस,
पूरो मनस्काम।

जानकी - मनोरम,
नायक सुचारुतम,
प्राण के समुद्यम,
धर्म धारण श्याम।

[रचनाकाल : 18 नवम्बर, 1952। आराधना मे संकलित]

[169]

जीकर जो प्राण न मार सके
मरकर क्या जीतोगे जीवन?
तरकर जो पार न की सरिता
बूड़े क्या जाओगे उस तन!

जब खुले हाथ पाये न कमा
बैठी भी घर आयी न रमा,
यह कौन चला, यह कौन थमा
कुछ कह न सके, क्या हुई जतन!

ऐसे छल कपट न पटे प्राण,
फूटा न कण्ठ, निकला न गान,
सूखी झरकर रह गयी बान,
मधुऋतु में कुम्हलाया उपवन।

[रचनाकाल : 26 नवम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[170]

तुम से लाग लगी जो मन की
जग की हुई वासना वासी।
गङ्गा की निर्मल धारा की
मिली मुक्ति, मानस की काशी।

हारे सकल कर्म बल खोकर,
लौटी माया स्वर से रोकर,
खोले नयन आँसुओं धोकर,
चेतन परम दिखे अविनाशी।

निःस्पृह, निःस्व, निरामय निर्मम,
निराकाङ्क्ष, निर्लेप, निरुद्गम,
निर्भय, निराकार, निःसम, शम,
माया आदि पदों की दासी।

[रचनाकाल : 26 नवम्बर, 1952। आराधना मे संकलित]

[171]

हरि - भजन करो भू - भार हरो,
भव सागर निज उद्धार तरो।
गुरु जन की आशिष सीस धरो,
सन्मार्ग अभय होकर विचरो।

परकाल कराल सम्हाल करो,
यह लोक न शोक हरे, सँवरो,
भ्रम के भुज भूल न पाँव धरो,
अभया-पद - आसन साँस भरो।

सुख के अनुरञ्जन दुःख महा,
दुख से सुख है यह सत्य कहा,
तन मानव क्या, हत ज्ञान रहा,
सुरलोक - विधान-विमान वरो।

[रचनाकाल : 28 नवम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[172]

दुख भी सुख का वन्धु वना—,
पहले की वदली रचना—।

परम प्रेयसी आज श्रेयसी,
भीति अचानक गीति गेय की,
हेय हुई जो उपादेय थी,
कठिन, कमल-कोमल वचना—।

ऊँचा स्तर नीचे आया है,
तरु के तल फैली छाया है,
ऊपर उपवन फल लाया है,
छल से छुटकर मन अपना—।

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1952। 'कल्पना', मासिक, हैदराबाद, जनवरी, 1953, मे प्रकाशित। आराधना में संकलित]

[173]

काल स्रोत में मेरे प्रियजन
वहे हुए पायें उत्तम तन।

उनकी सेवा शेष मानसिक,
आराधना ध्यान हो कायिक,
निर्मल हो धुलकर मन मायिक,
खुलें ज्ञान से दिव्य दो नयन।

देखूं वे तुम हो प्रिय मेरे,
निःस्व प्राण विचरें उस घेरे,
रहे साँस यह उसी सवेरे,
उस मानस से मिले मलिन मन।

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1952। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ, फरवरी, 1954, मे प्रकाशित। आराधना मे संकलित]

[174]

ज्योति प्रात, ज्योति रात,
ज्योति नयन, ज्योति गात।
ज्योति चरण, ज्योति चाल,
ज्योति विटप, आलवाल,
ज्योति सलिल, ज्योति ताल,
ज्योति कलश, ज्योति पात।
ज्योति प्रथम प्रिय-दर्शन,
ज्योति कम्प, आकर्षण,
ज्योति मिलन, श्रम वर्षण,
ज्योति नियम, ज्योति जात।

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[175]

नाचो हे, रुद्रताल;
आँचो जग ऋजु-अराल।
झरे जीव जीर्ण-शीर्ण,
उद्भव हो नव-प्रकीर्ण,
करने को पुनः तीर्ण,
हों गहरे अन्तराल।

फिर नूतन तन लहरे,
मुकुल-गन्ध वन छहरे,
उर तरु-तरु का हहरे,
नव मन, सायं-सकाल।

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1952। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ, अगस्त, 1953, में प्रकाशित। आराधना मे संकलित]

[176]

नहीं घर - घर गेह अब तक—
समाराधन - देह अब तक।

न जाना, मैंने किया क्या,
कहाँ से मैंने लिया क्या,
विश्व को मैंने दिया क्या,
लगा है अवलेह अब तक।

जागते हैं लोग सोकर,
पा रहे हैं भोग खोकर,
हँस रहे हैं असुख रोकर,
ग्रीष्म के हैं मेह अब तक।

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1952। 'नई धारा', मासिक, पटना, अक्तूबर, 1953, मे प्रकाशित। आराधना में संकलित]

[177]

सीधी राह मुझे चलने दो।
अपने ही जीवन फलने दो।

जो उत्पात, घात आये है,
और निम्न मुझको लाये है,
अपने ही उत्ताप बुरे फल,
उठे फफोलों से - गलने दो।

जहाँ चिन्त्य है जीवन के क्षण,
कहाँ निरामयता, सञ्चेतन?
अपने रोग, भोग से रहकर,
निर्यातन के कर मलने दो।

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1952। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ नवम्बर, 1955, में प्रकाशित। आराधना में संकलित]

[178]

अभय शङ्ख बजा तुम्हारा विश्व में
प्रथम रवि की किरण की किल जब खिली
कली के गोरे अधर को चूमकर
अनिल मे पल्लव - हिंडोला झूलती।

सरल आँखो मे हँसी ससृति बसी
कामना अनजान उर में खोलकर
पंख, उड़ने को प्रियच्छवि की दिशा
मधुरतर से मधुरतम होती हुई
रूप से गुण, पुष्प से मधु की तरह
साथ, शातक्रतव के पाथेय का।

[रचनाकाल : 7 दिसम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[179]

कुञ्जों की रात प्रभात हुई;
कूजित, अलसायी गात हुई।

पलकें मुद गयी, खुली रेखा,
तिर्यक, सित किरणों में देखा,
लिख गयी नवल-जीवन-लेखा,
ज्योति के पत्र की ज्ञात हुई।

दिन की नभ नील बनी रजनी,
प्रहरी-नयनो सोयी सजनी,
क्या गोर रहा, क्या भी गजनी,
किरनों की सरि सम्पात हुई।

[रचनाकाल : 8 दिसम्बर, 1952। आराधना मे संकलित]

[180]

चल समीर, चल कलिदल,
चल पल्लव, चल अञ्चल।

चल सौरभ, चल चितवन,
चल वन, उपवन, जीवन,
चल यौवन, चल कल मन,
चल सुरसरि, जल निर्मल।

चल रवि, शशि, तारादल,
चल ग्रह, उपग्रह चञ्चल,
पृथ्वी, जल, अनिल, अनल,
अग, जग, जड़ जीव, चपल।

[रचनाकाल : 8 दिसम्बर, 1952। 'अजंता', मासिक, हैदराबाद, जनवरी, 1954, मे प्रकाशित। **आराधना मे संकलित**]

[181]

वही चरण शरण बने।
कटे कलुष गहन घने।

लगे हे तुम्ही से मन,
उर - नूपुर-मधुर-रणन,
तुम्हारे अजिर, आँगन,
मङ्गल के गीत गने।

उठे ठाट जब जग से,
पड़े बाट इस मग से,
खुले हाट अग डग से,
तुम्हारे वितान तने।

[रचनाकाल : 8 दिसम्बर, 1952। **आराधना में संकलित**]

[182]

लो रूप, लो नाम,
दो अमल विश्राम।

श्रम हरो भव जन्य,
यश धवल बहु मन्य,
बदलो नयन वन्य,
धन्य कर दो धाम।

हो शङ्खनाद, जय,
दूर अपवाद, भय,
रोग, अवसाद, क्षय,
खो जाय खल काम।

[रचनाकाल : 8 दिसम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[183]

भग्न तन, रुग्ण मन,
जीवन विषण्ण वन।

क्षीण क्षण-क्षण देह,
जीर्ण सज्जित गेह,
घिर गये हैं मेह,
प्रलय के प्रवर्षण।

चलता नही हाथ,
कोई नहीं साथ,
उन्नत, विनत माथ,
दो शरण, दोषरण।

[रचनाकाल : 8 दिसम्बर, 1952। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1956, मे प्रकाशित। आराधना मे संकलित]

[184]

वन - उपवन खिल आयी कलियाँ,
रवि - छवि दर्शन की आवलियाँ।

मारुत ने श्वेत अधर चूमे,
मद से लदकर भौंरे झूमे,
तल प्रियतम - युगल विमल घूमे,
भर-भर आयी अलियाँ - गलियाँ।

सौरभ के फौवारे छूटे,
विहगो के दल के दल टूटे,
खुल - खुलकर कानन मन लूटे,
गाये गाने, भर दी फलियाँ।

[रचनाकाल : 8 दिसम्बर, 1952 । आराधना मे संकलित]

[185]

रँगे जग के फलक
सित मुख, असित अलक।

नील - घन सिन्धु जल,
शुभ्र शशि गगन - तल,
रक्त पाटल - पटल,
हरित तृण की पलक।

पीत सायं - किरण,
पतित-पत, धान्य - घन; —
वासन्तिका - वसन,
शकल गो - घृत - तलक।

[रचनाकाल : 9 दिसम्बर, 1952 । आराधना मे संकलित]

[186]

भवन, भुवन हो गया।
दुःख—ताप खो गया।

परिधि में घिरा हुआ,
सुमुख से फिरा हुआ,
आधि का चिरा हुआ,
भर-भरकर रो गया।

अपना जपना रहा,
सत्य कल्पना रहा,
यौवन सपना रहा,
ज्ञान वही धो गया।

[रचनाकाल : 9 दिसम्बर, 1952। 'नई धारा', मासिक, पटना, अप्रैल, 1953, में प्रकाशित। आराधना में संकलित]

[187]

छोटी तरणी;
सोने की सन्ध्या,
किरणों की वरनी।
वजती है गौरी,
युवती के कर वीणा,
पूरब को बहती है
नाव, एक मीना
देता है ताल
तालियों की सरनी।
युवक एक गायक भी,
सुनने वाले;
बैठे हैं कई,
उभय रूप सँभाले,
बहती है नाव;
मधुर गति, मन हरनी।

[रचनाकाल : 9 दिसम्बर, 1952। 'प्रकाश', साप्ताहिक, पटना, 10 फरवरी, 1954, में प्रकाशित ('शब्दचित्र' शीर्षक से)। आराधना में संकलित]

[188]

जय अजेय, अप्रमेय
जय जग के परम पार।
जय जीवों के जप के,
तप के, तनु - सूत्रधार।
गरल - कण्ठ हे अकुण्ठ,
वैठक वैकुण्ठ - धाम;
जय शिव, जय विष्णु, जिष्णु,
शङ्कर, जय कृष्ण, राम;
शतविध नमानुबन्ध
वान्धव हे निराकार—
जय अजेय, अप्रमेय,
जय जग के परम पार।

[रचनाकाल : 9 दिसम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[189]

रहते दिन दीनशरण भज ले।
जो तारक सत वह पद-रज ले।

दे चित अपने ऊपर के हित,
अन्तर के बाहर के अवसित,
उसको जो तेरे नही सहित,
यों सज तू, कर सत की धज ले।

जब फले न फल, तू हो न विकल,
करके ठग करतब को कर कल;
इस जग के मग तू ऐसे चल,
नूपुर जैसे उर मे वज ले।

[रचनाकाल : 9 दिसम्बर, 1952। आराधना मे संकलित]

[190]

तिमिर हरण तरणितरण किरण हरण हे—तुम.।
जित दानव मानवगण चरण शरण हे—तुम.।

कला - सकल करतल गत,
अविगत, अविनत, अविरत,
आनन आनत शत - शत

मरण-मरण हे—तुम.।

जब तक नर - मन अविकल,
रहो सकल फल, सम्वल,
विचले के क्षमा गरल

जग-ठग-रण के—तुम.।

[रचनाकाल : 15 दिसम्वर, 1952। आराधना मे संकलित]

[191]

बाँसुरी जो बजी
लाज कुल की तजी।

यमुना पुलिन अजन,
आँजे नयन, सजन
तन, बसे फूल, जन
मन देखकर लजी।

वैर के वेर वन
वो गये कृष्ण घन,
शेष के देश की
दशा दुख की भगी।

[रचनाकाल : 15 दिसम्वर, 1952। आराधना में संकलित]

[192]

सजी क्या तन तुम्हारे लिए हे प्रमन;
अप्सरा, अङ्ग के सङ्ग के उपशमन।
देह - अभिमान किसने धवल धो दिया,
बीज वीक्षण-अमल दृष्टि मे बो दिया,
ज्ञान की खोज में ओज कुल खो दिया,
सत्य की नित्य आराधना, अवनमन।
नयन आनत बने फूल तरु के खिले,
हाथ उठते हुए सत्य से क्या तुले,
चरण के पर विरति पंथ पर जो खुले,
वचन कर चले रचना-रुचिर चारु-मन।

[रचनाकाल : 15 दिसम्बर, 1952। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, नवम्बर, 1953, में प्रकाशित। **आराधना** में सकलित]

[193]

ऊँट - बैल का साथ हुआ है;
कुत्ता पकडे हुए जुआ है।

यह संसार सभी बदला है;
फिर भी नीर वही गदला है,
जिससे सिंचकर ठण्ढा हो तन,
उस चित-जल का नहीं सुआ है।

रूखा होकर ठिठुर गया है।
जीवन लकड़ी का लड़का है।
खोले कोंपल, फले फूलकर
तरु - तल वैसा नही कुआँ है।

[रचनाकाल : 15 दिसम्बर, 1952। 'प्रकाश', साप्ताहिक, पटना, 18 मार्च, 1953, में प्रकाशित। **आराधना** में संकलित]

[194]

मानव जहाँ बैल-घोड़ा है,
कैसा तन-मन का जोड़ा है ?

किस साधन का स्वाँग रचा यह,
किस बाधा की बनी त्वचा यह,
देख रहा है विश्व आधुनिक
वन्य भाव का यह कोड़ा है।

इस पर से विश्वास उठ गया,
विद्या से जब मेल छुट गया,
पक-पककर ऐसा फूटा है,
जैसा सावन का फोड़ा है।

[रचनाकाल : 16 दिसम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[195]

खेत जोतकर घर आये हैं।

बैलों के कन्धों पर माची,
माची पर उलटा हल रक्खा;
बढ़ी हाट, अधेड़ पिता जी,
माता जी, सिर गट्ठल पक्का;
पिता गये गौवों के गोड़े,
माता घर, लड़के धाये हैं।

आम और जामुन के फल हैं,
कुछ गूलड़, कुछ गुल्लू कच्चे;
लड़के चुनते हुए विकल हैं,
पेड़-पेड़ पर वे हैं. सच्चे;
पुए लगाकर बड़ी बहू ने,
मन्नी से पर पकवाये हैं।

[रचनाकाल : 16 दिसम्बर, 1952। 'कल्पना', मासिक, हैदराबाद, अक्तूबर, 1953, मे प्रकाशित ('शब्दचित्र' शीर्षक से)। आराधना में संकलित]

[196]

महकी साड़ी
जैसी फुलवाड़ी।

रत्नो के फूल जडे,
लता चढी जड़ पकड़े,
लहरी पछियाई,
नहरों की खाड़ी।

कद्दू, कुंहड़े फैले,
खरबूजे मटमैले,
ककड़ी की क्यारी से
लहकी बाड़ी।

[रचनाकाल : 16 दिसम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[197]

जैसे जोवन,
दुहरे - दुहरे वदन।

आँखों मे साख भरी,
लाखो पर राख पडी,
अनहारी खड़ी लडी
हाथ के जतन।

माख न माना मुखड़ा,
दूर हो गया दुखड़ा,
देखते न जी उखड़ा
नीम के सदन।

[रचनाकाल : 16 दिसम्वर, 1952। आराधना में संकलित]

[198]

वान कूटता है,
मुगरी लेकर मुग्व का
राज लूटता है।

मूज के फाले - छाले
अच्छे वाधोंवाले;
ऐसे वैठे ठाले
काज टूटता है।

कहीं रँगे - रँगे, ढले
विनने के लिए भले,
लड़की वैठे अगले,
सुआ फूटता है।

[रचनाकाल : 16 दिसम्बर, 1952। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 25 जनवरी, 1953, में प्रकाशित। आराधना मे संकलित]

[199]

भरी तन की भरन
जगत उस कुए की,
परी उतरी तरन।

दो घड़े, कांख, कर,
कन्धे पड़ी रसर,
चली अपनी डगर,
देखने की सरन।

देहली नाघ कर,
दहलीज के उधर,
घनौची पर सुघर
घड़े रक्खे वरन।

[रचनाकाल : 16 दिसम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[200]

रमणी न रमणीय,
कामना कमनीय।

विश्व यह दूसरा
जहाँ भोजन भरा,
रूप की प्रतिकरा
हुई दुर्दमनीय।

यहाँ इसकी विजय
देह जब तक न क्षय,
उस पार जो उदय
ज्ञान वह नमनीय।

[रचनाकाल : 16 दिसम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[201]

खिरनी के पेड़ के तले,
बैठी थीं तुम भले-भले।

आँखों से चिड़ियाँ उड़ती थीं,
उससे कुल पिड़ियाँ जुड़ती थीं,

पहने साड़ी सफेद,
भावों से गया भेद;
लोगों ने रूप पी लिया गले-गले।

धूप उठ रही थी, नभ सोना
झरता था सर पर, सुख बोना,

धीरे-धीरे चल दी,
सारी दुनियाँ छल दी,

पीछे भाई के, हरहों के डगले।

[रचनाकाल : 17 दिसम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[202]

आँखें जहाँ प्रेमिका की थी,
पाँखें वहाँ तुम्हारी ही थी।

अधर सुधा के स्वर जो घोले,
निकले वे वाणी के तोले,
रानी कल्याणी भी होले,
ऐसी क्या आशाएँ भी थीं।

कहीं न मुझको स्थान एक तिल,
जहाँ भी गया दूभर, झिलमिल,
दयादृष्टि ही जो उभरा दिल,
छोड़ीं वे जो कड़ियाँ ली थी।

[रचनाकाल : 18 दिसम्बर, 1952। आराधना मे संकलित]

[203]

मन न मिले न मिले हरि के पद।
अंश हुए न, हुए न वशम्वद।

गलती रही वासना जो तन,
न बना यौवन, न बना जीवन,
भरे हुए उपवन मे अनमन
मानव रहा अमान, भरा-मद।

ज्ञान गया तो प्रायः पशु है,
वसु न हुआ तो निर्बल असु है,
वसुन्धरा मे अन्ध दस्यु है;
अपने पन में अपण, न आच्छद।

[रचनाकाल : 18 दिसम्बर, 1952। आराधना में संकलित]

[204]

क्षीण भी छाँह तुमने छीनी।
हर ली सुगन्ध रति की भीनी।

किस नभ ले जाना मन भाया,
समझे भी कुछ न समझ पाया,
ऐसे निष्काम हुई काया,
जैसे कोई साड़ी - झीनी।

बदले वे गदले केश - वेश
जैसे अपना पथ हुआ शेष,
अमरता, अमृत कुछ नहीं लेश,
बेलाग पड़ी मदिरा पीनी।

[रचनाकाल : 29 दिसम्बर, 1952। आराधना मे संकलित]

[205]

आँख-अधर रँग भर गये है,
पिचकारी चली लली के अँग, आँगन।
सुघर हुई मुख की, रवि की छवि,
उकसी हँसी किरणों के रजत-तन।

जान नयी उनई आनत - नभ,
नयन बसे बासे रव, सौरभ,
सुख की महिमा की छवि, अभिनव,
महकी आम की माजर मधुवन।

एक गऊ कुछ दूर रँभायी,
पनहारी पनघट से आयी,
मनचीते कुछ, पर मुसकायी,
सहज सगाई वधू के विधुर मन।

[रचनाकाल : 14 फरवरी, 1953। आराधना में संकलित]

[206]

रँग गये साँवले नयन अली के;
छाये छाँह पर शयन, फली के।

विम्ब - पके अधरों के ऊपर
चूने लगे रँग रस के शीकर;
अँग की अँगिया चिपक - चिपककर
बोली वय के वयन लली के।

आँखों खगो की पाखें लग गयीं,
भू पर नभ की साखें जग गयी,
लोगों के मन की माखें तग गयी,
जैसे गोले पर चयन गली के।

[रचनाकाल : 24 फरवरी, 1953। आराधना में संकलित]

[207]

बुझी दिल की न लगी मेरी
तो क्या तेरी बात बनी।
चली कोई न चलायी चाल
तो क्या तेरी घात बनी।

भर दी करनी से बुरी जो,
तरी डगमग कर दी,
अपने पूरे वल पार
किनारे न जो तर दी।

बुझी दिल की न लगी मेरी
तो क्या तेरी बात बनी।

[रचनाकाल : 19 अप्रैल, 1953। गीत-गुंज में संकलित]

[208]

पारस, मदन हिलोर न दे तन,
बरसे झूम - झूमकर सावन।

वन द्रुमराजि साज सब साजे,
बसन हरे उर उड़े, विराजे,
अलियों, जूही की कलियों की
मधु की गलियों नूपुर बाजे;

घर बिछड़े आये मन - भावन।

[रचनाकाल : 12 अगस्त, 1953। गीत-गुंज में संकलित]

[209]

शाप तुम्हारा : गरज उठे सौ-सौ बादल;
ताप न वारा, काँपे पृथ्वी के तरुदल।

हर - हर हरती समीर,
जीवन - यौवन अधीर,
चले तीक्ष्ण - तीक्ष्ण तीर,
छूटे गृह - वन के सम्बल।

नीचे - ऊपर अपार
सलिल राशि विसम्भार,
मुहुर्मुहुः वज्रहार,
संसृति के संहत चञ्चल।

आओ अनिमेष नयन,
करो निरामय वर्षण,
सञ्चय हे संघर्षण!
कलित साधना के शुभफल।

[रचनाकाल : 8 जनवरी, 1954। गीत-गुंज मे संकलित]

[210]

वरद हुईं शारदाजी हमारी,
पहनी वसन्त की माला सँवारी।

लोक विशोक हुए, आँखों से
उमडे गगन लाखों पाँखो से,
कोयलें मञ्जरी की शाखो से,
गायी सुमङ्गल होली तुम्हारी।

नाचे मयूर प्रात के फूटे
पात के मेघ तले, सुख लूटे,
कामिनी के मन मूठ से छूटे,
मिलने खिलने को ललकी निवारी।

[रचनाकाल : 5 फरवरी, 1954। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 28 फरवरी, 1954, मे प्रकाशित। **गीत-गुंज** मे संकलित]

[211]

फेर दी आँख जी आया
जैसे रसाल बौराया।

रहकर मेरे दवते मन
फूटे सौ-सौ मधु गुञ्जन,
तन की छवियाँ नत लोचन,
उमड़ी, मानस लहराया।

सूखी समीर नव-गन्धित,
वह चली छन्द से नन्दित,
उग आया सलिल कमल सित,
कोमल सुगन्ध नभ छाया!

[रचनाकाल : 5 फरवरी, 1954। 'नई धारा', मासिक, पटना, मार्च, 1954, मे प्रकाशित। **गीत-गुंज** मे संकलित]

[212]

बौरे आम कि भौरे बोले।
प्रात कि गात पात के तोले।

सरसायी समीर मधुवन की,
आँखों छवि आयी आनन की,
आलस दूर हुआ, मन भाया,
चिड़ियों ने सुख के मुख खोले।

कैसी ज्योति छाँह से छलकी,
दुर्बल ने हद कर दी बल की,
आज के साज भूल गये सब जन,
कल के जीवन जो रस घोले।

[रचनाकाल : 26 फरवरी, 1954। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 30 जनवरी, 1955, में प्रकाशित। **गीत-गुंज** में संकलित]

[213]

कूची तुम्हारी फिरी कानन मे,
फूलों के आनन आनन मे।

फूटे रग वसन्ती, गुलाबी,
लाल पलास, लिये सुख, स्वाबी;
नील, श्वेत शतदल सर के जल,
चमके हैं केशर पञ्चानन में।

[रचनाकाल : 26 फरवरी, 1954। **गीत-गुंज** में संकलित]

प्राण तुम पावन - सावन गात;
जलज जीवन - यौवन अवदात।

मृदु बूंदों चितवन की लड़ियाँ,
केश, मेघ, मुख पलक अँखड़ियाँ,
प्रमन चारु चिन्तन की घड़ियाँ,
जलभर भूमि सुजात, प्राण तुम०।

हरी ज्वार की परियाँ झूमी,
अरहर अब चूमी तब चूमीं,
उडद वदलकर फैली घूमी,
लिये मूंग ने पात, प्राण तुम०।

[रचनाकाल : 2 अगस्त, 1954। गीत-गुंज मे संकलित]

[215]

श्याम - गगन नव - घन मँडलाये।
कानन - गिरि - वन - आनन छाये।

लादे वाग आमों के परसे,
धानों के खेतो पर बरसे,
युवती निकली अपने घर मे,
पुरवाई के झोके खाये।

कमल ताल के जल वल खाये,
नाले उमड़ - उमड़कर आये,
नद जल के मद आकुल धाये,
तट के नीम हिंडोले भाये।

[रचनाकाल : 15 अगस्त, 1954। गीत-गुंज में संकलित]

[216]

बढ़ - बढ़कर बहती पुरवाई;
धुन मलार-कजली की छायी।

रँगे चीर घर-घर से निकले,
उड़े दुकूल पेंग से सिकले,
चले गले क्या कोई पिक ले ?
वेले की सुगन्ध सरसायी।

जीवन पर जीवन बल खाया,
श्याम नील की फैली माया,
हरा - भरा नीचे लहराया,
बिजली की बिजली दिखलायी।

[रचनाकाल : 15 अगस्त, 1954। 'नई धारा', मासिक, पटना, सितम्बर, 1954, मे प्रकाशित। गीत-गुंज मे संकलित]

[217]

जिधर देखिये, श्याम विराजे।
श्याम कुञ्ज, वन, यमुना श्यामा,
श्याम गगन, घन - वारिद गाजे।
श्याम धरा, तृण - गुल्म श्याम है
श्याम सुरभि - अंचल दल साजे;
श्याम बलाका, शालि श्याम है,
श्याम - विजय - बाजे नभ बाजे।
श्याम मयूर, कोकिला श्यामा,
कूजन, नृत्य श्याम मृदु माजे;
श्याम काम, रवि श्याम मध्य दिन,
श्याम नयन काजल के आँजे।
श्रुति के अक्षर श्याम देखिये,
दीप - शिखा पर श्याम निवाजे;
श्याम तामरस, श्याम सरोवर
श्याम अनिल, छवि श्याम सँवाजे।

[रचनाकाल : 15 अगस्त, 1954। गीत-गुंज मे संकलित]

[218]

बादल रे, जी तड़पे।

किये उपाय सैकडो तन के
मन के, चरण मिले सज्जन के,
व्यर्थ प्रार्थना जैसे अब है,
पञ्जर पिञ्जर करके।

अब अँधियाली ही बढ़ती है,
छाया छाया पर चढ़ती है,
प्राणों के घन श्याम-गगन से
बूंदों कभी न बरसे।

छिप जाती है छवि बिजली में,
सरसर से दबती है ही मे,
बूंदों की छन-छन से उन्मन
प्राण न मेरे हरसे।

[रचनाकाल : 17 अगस्त, 1954। गीत-गुंज में संकलित]

[219]

आओ, आओ वारिद वन्दन,
बरसो सुख, बरसो आनन्दन्।

आशिष वायु गुल्म-तृण परसो,
जन-जन के प्राणो में सरसो,
दृग अंचल बरसो हे बरसो,
स्नेह स्नेह के आँगन स्पन्दन।

हरियाली के झूले झूले,
ग्राम वधू सुख से दुख भूले,
गहरे गड़ें मधुर जो मूलें,
करषो हे समीर के स्यन्दन।

[रचनाकाल : 17 अगस्त, 1954। गीत-गुंज में संकलित]

[220]

गगन मेघ छये
नये नयन नये।

प्राण धन के श्याम घन ये,
तापजल शीतल प्रवण ये,
पुण्य के शुभ प्रस्रवण ये,
हृदय द्वार गये।

यामिनी की कामिनी दिन,
कल्पना सुख तल्प अनगिन,
सहज रिमझिम बाद रिन रिन,
अनवसादन रे।

[रचनाकाल : 17 अगस्त, 1954। गीत-गुंज मे संकलित]

[221]

केश के मेचक मेघ छुटे
पलक-पल्लव पगतलों लुटे।

सुख की इतरायी आँखो मे,
लगे फूल जैसे शाखों में,
मडलायी सुगन्ध से नभ—
रम्भा के रंग उठे।

खिची खसी साड़ी की मुख छवि,
कभी कही जो दिखा उगा रवि,
गद्गद नद की भँवर-भँवर में,
दुख के पौर टुटे।

[रचनाकाल : 21 अगस्त, 1954। गीत-गुंज मे संकलित]

[222]

जी में न लगी जो विकल प्यास,
आँखों न देखने आना तुम।
भरकर न रही जो छवि उदास
तो कभी न उस घर जाना तुम।

कहते - कहते जग हार जाय,
रहते - रहते मन मार जाय,
जो उड़े न अम्बर हरे वास
तो अपने भाव न लाना तुम।

कलियों के हारों बहु प्रकार,
उर लहरे गन्ध, बहे बयार,
यदि मिला न तुमसे हृदय छन्द,
तो एक गीत मत गाना तुम।

[रचनाकाल : 21 अगस्त, 1954। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 3 अक्तूबर, 1954, मे प्रकाशित। गीत-गुंज मे संकलित]

[223]

पड़ी चमेली की माला कल।
गमक उठा निशि का नभ मण्डल।

कूजे कण्ठ, उठे आनत-मुख,
मिले लोग अपने व्याकुल सुख,
स्वर्गाभास हुआ जग का दुख,
तारों के नभ, हारो के गल।

मीड़ मधुरतम विधुर इमन की,
गगन-गीति की रति-गति रन की
खुली रीति विपरीत सुमन की,
रात प्रात-किरणों के उत्पल।

[रचनाकाल : 24 अक्तूबर, 1954। गीत-गुंज मे संकलित]

[224]

रूपक के रथ रूप तुम्हारा,
शारद विभावरी, नभ, तारा।

खिली चमेली देह-गन्ध मृदु,
अन्धकार सुचि केश कुटिल ऋजु,
सहन-शीत-सित यौवन अविचल,
मानव के मन की चिर-कारा।

मुक्ति-नयन-उन्मीलन क्षण-क्षण,
पलक-पात व्याकुल खल-बन्धन,
चरण चार उपचार व्याधि के,
विमल साध की, सुधि की धारा।

[रचनाकाल : 24 नवम्बर, 1954। गीत-गुंज मे संकलित]

[225]

नख सिख लिखे-लिखे।
तन रतनार दिखे।

नवल सरोज उरोज, नाल कर,
वीणा के वादित वाहित स्वर;
दशनपंक्ति कुन्दावकलित, हर
हसित विमोह सिखे।
नयन आनयन के, स्फारित, अति
शय की शयित, किशोर मन्दगति,
सुख-शीला अमला कमला—मति,
जीवन विहित विके।

[रचनाकाल : 30 दिसम्बर, 1954। गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[226]

स्वर में छायानट भर दो;
पावन प्राणों को कर दो।

अनियारे दृग चपल उपान्तों
झरी रेणुएँ, क्लान्तो प्रान्तों,
खसे खेल उपवन के, शान्तो
सीमाओं को नव वर दो।

आलिंगित बान्धवता आये,
वैभव विपुल पराङ्मुख जाये,
जीवन को यौवन नहलाये,
कोई अविनश्वर सर दो।

[रचनाकाल : 5 मार्च, 1955। 'धर्मयुग', साप्ताहिक, वम्बई, 5 जून, 1955, में प्रकाशित। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) मे संकलित]

[227]

धिक मनस्सव, मान, गरजे बदरवा।
झूले झिले, गान सरजे दरवा।

चीर के धनुष के तीर छूटे, छटे,
बूंद के वारि के वसन बूटे बटे,
गले के चले गायन, चरायन पटे,
पेड़ के तल, अतल, लरजे बदरवा।

घुसे कामद शिखर, शिखर-गिरि फैलकर,
घन प्रवहमान, वन, शैल से शैल पर;
गायन ध्वनित ग्राम-ग्राम से नगर-घर
नागरी - नागरी; बरजे बदरवा।

[रचनाकाल : 21 जुलाई, 1955। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ, सितम्बर, 1956, में प्रकाशित। **गीत-गुंज** (द्वितीय सस्करण) मे संकलित]

[228]

फिर नभ घन घहराये।
छाये, बादल छाये।

कौंधी चपला अलक-बन्ध की
परी प्रिया के मुख की छवि-सी,
बूँदों सुख के आँसू ढलकर
पृथ्वी के उर आये।

दिवस निशा का सुखद स्वप्न है
ज्योतिश्छाया देश लग्न है,
आतप के कुम्हलाये खु कर
मुख-प्रसून भाये।

उगी दूब की अति हरियाली
गली-गली सुख-सेज बिछा ली,
प्रकृति - सुन्दरी ने शोभा के
रँग, कर दिखलाये।

[रचनाकाल : 21 जुलाई, 1955। 'साहित्यकार', मासिक, इलाहाबाद, अगस्त, 1957, मे प्रकाशित। गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[229]

खेल सिखी अखियाँ।
सरवर की सखियाँ।

बिजली की बलकायी कौंधन,
श्याम पुतलियों पर छन-पलकन
सजल भाव की भरकर छलकन;
पखियों की पखियाँ।

हहरायी पातों की पत, लत,
पुरवाई के डोले पर गत,
भावो के भावों से अवगत,
समकी कमरखियाँ।

[रचनाकाल : 21 जुलाई, 1955। गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[230]

फिर उपवन मे खिली चमेली।
मन्द पवन गन्ध की अकेली।

छीन लिये सुख साज आज के,
रूपवती युवती समाज के—
बादल के दल के दल के बल
कोमल कमल विलास सहेली।

अपराजिता, नयन की सुनियत,
अपने ही यौवन से विनत,
जुही, मालती आदिक सखियाँ
हँसती, करती है रँगरेली।

[सम्भावित रचनाकाल : अगस्त, 1955। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 4 सितम्बर, 1955, मे प्रकाशित। गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) मे संकलित]

[231]

शुभ्र शरत् आयी अम्बर पर;
बड़ी रास कमलों की सर-सर।

हरसिंगार के फूल प्रात को
बिछे रश्मि से लजी - गात, ओ!
शीर्ण हो चली नदियाँ, झरने,
बदले वेश जनों ने घर - घर।

शान्त हो चली निशा और कुछ,
रवि की खेती बढ़ी, पौर कुछ
गांव - गांव साठी को काटे
खुश होते है बातें कर - कर।

खञ्जन देख पडे, आये है,
ढेख, महोख, सघन छाये हैं,
तरुणी की पक्ष्मल आँखों की
लहरायी छवि सुन्दर - सुन्दर।

[रचनाकाल : 8 नवम्बर, 1955। गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[232]

मालती खिली, कृष्ण मेघ की।

छायाकुल हो गयी धरा,
कर - पीड़न से मधुरतरा—
विपुल पल्लवित मनोहरा,
दृगों से मिली।

स्निग्ध हो गया निदाघ-दाह,
मन्द - मन्द गन्ध का प्रवाह,
गली - गली गीला उत्साह,
पत्रिका हिली।

उग आये अंकुर जीवन,
धान, ज्वार, अरहर औ' सन,
वही पुनः गन्ध से पवन
पके आम की।

[रचनाकाल : 26 जुलाई, 1956। **गीत-गुंज** (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[233]

भर गया जुही के गन्ध पवन।
उमड़ा उपवन, वारिद वर्षण।

तोड़े-तोड़े खिल गये फूल,
छाये गंगा के कूल-कूल;
महके तरुणी के नव दुकूल,
गजरों से भर दी गयी रवन।

दूनी विभात हो गयी रात,
सिहरे मानव के मधुर गात,
संगीत-पुञ्ज-गुञ्जित विघात
बाजे मृदंग-सारंग-स्रवण।

नाची नटियाँ, पद-पात सुघर,
हिलती कटि, घूम रहे युग कर;
वैसी ही छबि डाल पर निडर,
निर्भर समीर के साथ प्रमन।

[रचनाकाल : 26 जुलाई, 1956। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 9 सितम्बर, 1956, में प्रकाशित। गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[234]

प्यासे तुमसे भरकर हरसे।
सावन घन प्राणों में बरसे।

उनयी आँखों मे श्याम घटा,
विद्युत की नस-नस नयी छटा,
फैली हरियाली अटा-अटा
अंगों के रंगों के परसे।

अविरत रिमझिम वीणा द्रिमद्रिम,
प्रति छन रेलती पवन पश्चिम,
मृदंग वादन, गति अविकृत्रिम
जी के भीतर मे, बाहर से।

[रचनाकाल : 30 जुलाई, 1956। गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[235]

सरसि सलिल कहता, "खिल,
अमल कमल, मिल, मिल, मिल !
"छल, छल, छल, सद्म, पद्म,
खोल अखिल वही अनिल !
"रविकर खर, दिवस प्रसर,
किरण निकर, जल ऊर्मिल !

"तीर तरल कर सौरभ,
भर, गौरव हर पंकिल!
"भ्रमर-भीर कर अधीर,
गन्ध - सरण, मधु - लोभिल!
"क्षणिक प्राण, अमित दान,
अनवसान, सुख - रोमिल!"

[रचनाकाल : 3 अगस्त, 1956। गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[236]

मधुर मधुर, मृत्यु मधुर।
सफल जन्म, कम्पित उर।

तुम्हीं अलकनन्दन-वन छूटे,
दिग्दिगन्त-चुम्बित कर फूटे,
गन्ध - समीरण टूटे, लूटे
तन्वी - तन्वी के अन्तःपुर।

बदला जीवन जग का; गदला;
बहा, देख, देखते कहाँ गया!
विद्या की आँखों नूतन कला,

नये गीत, नये वाद विच्छुर,
नये यान, यात्री उनये नये,
नये प्राण, नयी रेल-पेल के;
वैज्ञानिक साधन सबके लिए।

[रचनाकाल : 20 अगस्त, 1956। गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[237]

प्यार की थाती यह पाती
प्रिया आंखो से बरसाती।

यही सृष्टि अलका की उत्तम,
कालिदास जैसे कवि - सत्तम,
वाल्मीकि - व्यासादि महत्तम;
छवि - छवि सिखलाती।

बंधा इसी से, सुकृत साज वह,
चला इधर, उत्तम समाज वह,
हुआ विरोध, यथार्थ व्याज वह,
गति उसमे लाती।

मान जहां बंध रहा रोध से,
समझे हम वह सभी शोध से,
समझौता हो गया बोध से,
गदिता कविता ही।

[रचनाकाल : 8 सितम्बर, 1956। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ, जून, 1957, मे प्रकाशित। गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) मे संकलित]

[238]

शरत की शुभ्र गन्ध फैली;
खुली ज्योत्स्ना की सित शैली।

काले बादल धीरे - धीरे
मिटे गगन को चीरे-चीरे,
पीर गयी उर आये पी रे,
बदली द्युति मैली।

शीतावास खगों ने पकड़े,
चहचह से पेड़ों को जकड़े,
यौवन से वन-उपवन अकड़े,
ज्वारों की लटकी है थैली।

[रचनाकाल : 29 नवम्बर, 1956। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ, सितम्बर-अक्तूबर, 1957, में प्रकाशित। गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[239]

समझे, मनोहारि वरण जो हो सके,
उपजे विना वारि के तिन न ठूह से।

सर नही सरोरुह, जीवन न देह मे;
गेह मे दधि, दुग्ध; जल नही मेह में,
रसना अरस, ठिठुर कर मृत्यु मे परस,
हरि के हुए सरस तुम स्नेह से हँसे।

विश्व यह गतिशील अन्यथा नाश को,
अथवा पुनर्व्यथा, फिर जन्म-पाश को,
फिर कलुष, काल-कवलित निराश्वास को
विपरीत-गति धरा, हरि करों से धसे।

[रचनाकाल : 31 जनवरी, 1957। 'नया पथ', मासिक, लखनऊ, अप्रैल-मई, 1957 में प्रकाशित ('विश्व यह गतिशील' शीर्षक से)। गीत-गुंज (द्वितीय संस्करण) में संकलित]

[240]

यह जी न भरा तुमसे मेरा,
फिर-फिर तृष्णा ने आ घेरा।

दहके लूके लहके लहके,
फिर-फिर उपवन महके महके,
बालू के बृन्दावन बहके,
सावन घन ने वर्षण फेरा।

वह कौन प्यास बुझकर न रही,
वह कौन साँस जो चली सही,
वह किस फँसने की रही कली—
खुलकर न रही, मधु ने टेरा।

[रचनाकाल : 12 जनवरी, 1958। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, अप्रैल, 1958, में प्रकाशित। सान्ध्य-काकली मे संकलित]

[241]

रहो तुम

बैठा हुआ देखता हूँ—
स्वप्नहीन जीवन है।
एक दिन मग्न था मैं,
गिनता हुआ गगन-कुसुम
खिले हैं जो कविता की क्यारियों मे
पुष्प जैसे, प्राकृत परिणाम के,
जीवन-मरण-शील,
गन्ध से दिगन्त को अन्ध कर देनेवाले,
भौंरो के रूप मे झुके हुए युवक-वृन्द
तृप्त होकर लौटे जो।
गृह की छाया में, बड़ी पक्ष्मल आँखोंवाली
गौरी वनिता के साथ विद्या-विनोद मे
सारी रात काट दी
संगीत कौशल मे।
पण्डित है पुत्र आज,
मैं अपत्र महीरुह,
स्वल्प-रस जीवन मे,
स्वप्न-शेप भोर-जैसे
घोर जरा, सम्मुख की
काष्ठा मे बैठा हुआ,
यदि सर्व स्वप्न शेप
जीवन निर्मरण हो;
रहो तुम एक-मात्र
सर्व गात्र अहोरात्र।

[रचनाकाल : 12 जनवरी, 1958। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, जून, 1960, मे प्रकाशित। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[242]

सभी लोगों मे योग - ध्यान वने वैठे हैं,
ज्ञानी के ज्ञान हैं, अज्ञान वने वैठे हैं।
मिले है तुमसे द्विजोत्तम वनकर मन्दिर में,
अभी मसजिद मे मुसलमान वने वैठे है।

[सम्भावित रचनाकाल : 15 जनवरी, 1958 के आसपास। सान्ध्य-काकली मे संकलित]

[243]

नयी ज्योतियाँ पायी, तभी जाना तुम आयी।
कुल किरणे मुरझायी, तभी जाना तुम आयी।
नाद - ढके वकवाद सभी के, छन मे रंग सभी के फीके,
हो गये सत्य कहीं के कही के, वीणा मे तानें लहरायी।
खुले द्वार वे और जनो के, जके - थके रह गये तनों के,
देखे तोल पुराण - धनों के, राशि - राशि भर आयीं।
गीत - वाद के उमड़े सागर, वने नयन के नागर-नागर,
वीणा - पुस्तक - जीवन - आगर, नागरियां मुसकायी।
छुटी चाल पहली चपला की, चली धीर मति-गति विमला की
वदले उर के स्पन्दन वाकी, सरिताएँ सरसायी।

[रचनाकाल : 21 जनवरी, 1958। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, मार्च, 1958, में प्रकाशित ('होली' शीर्षक से)। सान्ध्य-काकली मे संकलित]

[244]

कैसे नये तने, तुम्हारे वन्दनवार वने।
पतझर पर कितने, तुम्हारे वन्दनवार वने।

खड़े गणित के चक्र - चक्र परं,
पठित युवक - युवतियाँ मनोहर
देख रहे हैं प्रात - गगन पर
रँग - रँग ललित तने।

कहीं लता-तरु-गुल्म हरित छवि
कही पीत परिपक्व क्षेत्र रवि,
कही नील-नभ अनवकाश कवि
स्तर - स्तर सुघर घने।

वेद - पाठ - रत पण्डरिकागन
जैसे स्तावकजन स्तुति - गायन,
पुष्प - पुष्प पर मधुलिह गुञ्जन,
सन्मन मुखर रने।

[रचनाकाल : 21 जनवरी, 1958। **सान्ध्य-काकली** मे संकलित]

[245]

तेरी पानी भरन जानी है, मग्नी है।
वेला हारो मे लासानी है, सानी है।
जगमग जो यह रानी है, पानी है;
खोयी हुई जैसी वाणी है, यानी है!
मेहरावी लन्तरानी है, तानी है!
लहरों चढ़ी जो धानी है, रानी है।
खूबसूरत ऐसी मानी है, आनी है;
दुनियाँ की दी निशानी है, लानी है।

[सम्भावित रचनाकाल : जनवरी-जुलाई, 1958। **सान्ध्य-काकली** मे संकलित]

[246]

ये वालों के वादल छाये
फिर फिर घिर घिरकर मँडलाये।

बिजली की नयन ज्योति चमकी,
गति पावों की थमकी - थमकी,
स्वर्गीया देवी के श्रम की
दुर्लभ दर्शन जैसे पाये।

पायल की बूंदों में रुनझुन
क्या भरे घड़े के मिले सगुन,
बोली नूतनता, सुन सुन सुन
नवरसता के तल सरसाये।

[रचनाकाल : 19 जुलाई, 1958। सान्ध्य-काकली मे संकलित]

[247]

बरसो मेरे आँगन, बादल,
जल-जल से भर दो सर, उत्पल।

करो विकम्पित अवनी का उर
भरो आम्र पल्लव में नव सुर,
रँगो अधर तरुणी के आतुर,
सीचो युवक जनों के हृत्तल।

नयी शक्ति, अनुरक्ति जगा दो,
विकृत भाव से भक्ति भगा दो,
उत्पादन के मार्ग लगा दो
साहित्यिक - वैज्ञानिक के बल।

लहरें सत्य - धर्म - निष्ठा की
जगें, न कुछ रह जाय व्यथा की,
कलके बोझिल, हल्के; बाकी
रहे न कुछ जीवन का सम्बल।

[रचनाकाल : 28 जुलाई, 1958। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, अगस्त, 1958, मे प्रकाशित। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[248]

फिर वेले मे कलियाँ आयीं।
डालों की अलियाँ मुसकायीं।

सीचे विना रहे जो जीते,
स्फीत हुए सहसा रस पीते;
नस-नस दौड़ गयी है खुशियाँ
नैहर की ललियाँ लहरायीं।

सावन, कजली, वारहमासे
उड़ - उड़कर पूर्वा मे भासे;
प्राणो के पलटे है पासे,
पात - पात की साँसें छायीं।

आमो की सुगन्ध से खिचकर
वैदेशिक जन आये हैं घर;
वन्दनवार वँधे हैं सुन्दर,
सरिताएँ उमड़ी, उतरायीं।

[रचनाकाल: 28 जुलाई, 1958। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, अगस्त, 1958, मे प्रकाशित। सान्ध्य-काकली मे संकलित]

[249]

जय तुम्हारी देख भी ली
रूप की गुण की, रसीली।

वृद्ध हूँ मैं, ऋद्धि की क्या,
साधना की, सिद्धि की क्या,

खिल चुका है फूल मेरा,
पखड़ियाँ हो चली ढीली।

चढ़ी थी जो आँख मेरी,
वज रही थी जहाँ मेरी,

वहाँ सिकुड़न पड़ चुकी है।
जीर्ण है वह आज तीली।

आग सारी फुक चुकी है,
रागिनी वह रुक चुकी है,

स्मरण में है आज जीवन,
मृत्यु की है रेख नीली।

[रचनाकाल : 24 अगस्त, 1958। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, अक्तूबर, 1958, में प्रकाशित। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[250]

सुख के सारे साज तुम्हारे;
क्षण में अक्षम ही को वारे।

भूमि - गर्भ तरु मे रो - रोकर
फिरी गन्ध वन्दी हो - होकर;
दिया कमल को प्रभा-स्नात वर,
वेले को शशि, सुन्दर तारे।

खोले दल के पटल, विश्व जन
आमोदित हो गये स्वस्थ-मन;
जोड़े कर, स्तुति पढ़ी, विनन्दन
किया तुम्हारा, मन से हारे।

[रचनाकाल : 14 अगस्त, 1958। सान्ध्य-काकली मे संकलित]

[251]

वारि वन वनवारि,
वनवारि वनवारि।

वारिज विपुलवारि
पुलवारि कुलवारि
द्रुमलता तुलवारि,
कूलकलि कुलवारि;
आकुल मुकुल वारि,
विहग सङ्कुल वारि।

[सम्भावित रचनाकाल : अगस्त-सितम्बर, 1958। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[252]

तुम्हारी हवा से सोये,
तुम्हारी हवा से जागे।
तुम्हारे रव सुने, सूने
सदन में चरण अनुरागे।

नयन - तारक दिखे उज्ज्वल,
हँसी से प्रभाकर झलमल;
तुम्हारे रूप से निखरे
निकर जग चराचर लागे।

पराजय लाख, लाखों जय,
तुम्हारे चरण के संचय;
कुतोभय जगह पाकर
मृण्मयी के खड़े हैं आगे।

[रचनाकाल : 6 सितम्बर, 1958। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 5 अक्तूबर, 1958, मे प्रकाशित। सान्ध्य-काकली मे संकलित]

[253]

काँपे जीवन के जीर्ण याम,
आये तुम प्राची-रवि समान।

सिहरे रोओं के लता - पुंज,
पिकध्वनि भासित भैरवी गुंज,
पनघट नागरी, वितान कुंज
मलयानिलवाह सुकर सुठाम। काँपे०

जग उठा दूसरा विश्व, चला;
पग-पग छाया कुल भला-भला,
सन्देश शुद्ध मुख से निकला
दृग बन्द करो, लो राम नाम। काँपे०

[रचनाकाल : 1 जनवरी, 1959। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, मार्च, 1959, में प्रकाशित। सान्ध्य-काकली मे संकलित]

[254]

गूँजे नभ - नभ घन के गर्जन;
लहरे तरु - तृण जल प्रावर्षण।

पके बाग आमो के गमके,
टपके झरते हैं थम - थम के,
पड़े पाट मखमल रेशम के,
भरा तरुणियों में आमर्षण।

भरे ताल, नूतन जल, लहरें,
जैसे जय पताक ये फहरें,
पुरुष परुष गरवीले, घहरें,
खिला तरुणियों के तन कर्षण।

फूले बेले, शतदल फूले;
भौंरे उपवन - उपवन भूले;
पुरवी युवती जैसे छूले,
आया पौधों मे संस्पर्शन।

[रचनाकाल : 1 सितम्बर, 1959। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, अक्तूबर, 1959, में प्रकाशित। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[255]

गहरी विभावरी शीत की,
काँपी पाले से अरहर की
डाली गुनागरी, शीत की०

मटर, चने कुछ काम न आये,
जौ, गेहूँ लडते अरगाये,
माचे पर किसान का कूकर
कुँकहाया, सिहरी, शीत की०

प्रात: पातगात झुलसायी,
खडी रही जैसे परछाईं,
नीली रेखा मुख पर छायी,
सुध सारी बिसरी, शीत की०

सूख गया किसान एकाकी
रोया, रहा न लेखा बाकी,
कर्म धर्म को करके साखी,
दुहरी डगर भरी, शीत की०

[रचनाकाल : 24 दिसम्बर, 1959। 'धर्मयुग', साप्ताहिक, बम्बई, 28 फरवरी, 1960, मे प्रकाशित। सान्ध्य-काकली मे सकलित]

[256]

तुम्हारे काम, तुम्हारे नाम।
तुम्हारे लिए सही संग्राम।

तुम्ही जीवन की घाटी पर
विजय की तरणी खेते हो;
तुम्हीं अपनी पाटी भरकर
लिखाते हो, लिख लेते हो,
तुम्ही जीवन में पूर्ण विराम।

तुम्हारे लिए जहाँ नागा,
नील का बँधा वहीं धागा,
जहाँ पीछा है वह आगा,
वहाँ जागा मानव सोया,
नही रस वहाँ, नही है ताम।

[रचनाकाल : 24 दिसम्वर, 1959। 'सा. हिन्दुस्तान', नयी दिल्ली, 24 जनवरी, 1960, में प्रकाशित। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[257]

घट बाँहो के उलटे, ढलके,
प्रिय-सम्वल के, छल के छलके।
जीवन-पल के, ज्योतिस्तल के,
पल्लव-दल, फूलों के, फल के।
पल्लव-जल के, चल-उत्पल के;
उत्कल उच्छल, कल्मष कल के।
पत्रो सरित हरित - सित हरसे
वर्ष - स्पर्श सरसीरुह सरसे,
पारसगात, मधुर रस वरसे;
किरण निकर शशधर शाद्वल के।

[रचनाकाल : 14 मार्च, 1960। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, अप्रैल, 1960, में प्रकाशित। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[258]

चाहो जितना, करो करद तुम।
निःसम्बल को वरो वरद तुम।

हेमहार डालो किरणों का,
दिवस प्रसार करो हिरनो का;
शशधर को लाञ्छन से सुन्दर
करो निशा को शुभ्र शरद तुम।

कलमष को साधन से धोओ,
बीज गणित गुण वहु-वहु बोओ,
शंका की पंकिलता खोओ,
शक्ति समास विभास जरद तुम।

[सम्भावित रचनाकाल : मार्च, 1960—फरवरी, 1961। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[259]

सरल न हुए न छुए वे चरण,
जो भवतारणतरण वरण घन।

श्याम-सुरभि रम्भारुण उज्ज्वल,
विकच मनोमरु पर सर कलकल,
तीर तरुण-तरुणी-विहरणस्थल,
पुलिन-पुलिन शीतल वन उपवन।

गहन तुम्हारा रँग न दिखा जो
खोयी तो, कोई शोभा हो,
सबको अपनी ताल सिखा दो,
अपने गीत गवा दो अगणन।

[सम्भावित रचनाकाल : मार्च, 1960—फरवरी, 1961। सान्ध्य-काकली मे संकलित]

[260]

शीत की गहरी विभावरी
शिशिर की बूँदों पत्र भरी।

कांपे तन तरुणी-तरुणों के,
प्रातः खुले अधर अरुणो के
पुष्ट प्राण पलते ढक-ढककर
कृष्ण नगर नगरी—शीत की०

सायं शोभन क्रीड़ोपरान्त,
सभ्य सकल बँगलों के उपान्त
ताप रहे विद्युत-कण्डी, छड़,
बैठीं परी - परी—शीत की०

[रचनाकाल : 7 फरवरी, 1961। 'कादम्बिनी', मासिक, नयी दिल्ली, मार्च, 1961, में प्रकाशित। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[261]

इमन वजा
स, रि, ग, म, प, ध, नि, स सजा सजा।

एक पहर बीती रजनी,
मृदंग की धुन गिनीगनी;
सारँग आरोचित अवनी;
पग नूपुर गति गयी लजा।

स्वर सुकण्ठ, उच्छ्‌वास मुखर;
मुक्त भास, विश्वास प्रखर;
मूर्च्छन उतरी, चढ़ी नितर;
त्रिगुण रोह - अवरोह मजा।

[रचनाकाल : सौर फाल्गुन 25, संवत 2017 वि. (9 मार्च, 1961)। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[262]

उन्मेप, देश, जन,
तरल, तारक प्रमन।

मूर्त विग्रह, साध अहरह विसंवाद,
सत्य की साख के मुद्गर गजोन्माद;
दूर कर नाशमुख जागतिक व्यापार;
विश्वसंसार को नयी गति दे नमन।

हो कि संसार यह खो गया सदा को;
प्राचीन जनो की अगामीयता हो;
बचाने को रची विपुल उद्भावना,
सँवरने को बढ़े भाव पर की जमन।

[रचनाकाल : सौर फाल्गुन 25, संवत् 2017 वि. (9 मार्च, 1961)। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[263]

डमड डम डमम डम,
डमरू निनाद है।
ताण्डव नचे शिव,
प्रवाद उन्माद है।

विकल जल, मत्स्य चल;
अनल - व्याकुल विरल
अनिल वहमान, वहु
फेनिल फसाद है।

घूर्मित तिमिङ्गलो,
घूर्णि नभ के तलो;
संहारिणी बड़ी
उठती अवाध है।

गर्जित पयोधि जल,
नक्र, झप, व्याल
शंख, कौड़ियों के चल
दल का दलाद है।

सीप के सुभग क्षण,
जल हस्तिगण अगण,
सूस - विहरण प्रबल
यान कल - छाद है।

[सम्भावित रचनाकाल : मार्च-जून, 1961। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[264]

फूलों के दीपों की माला
यह उकसे वालो की बाला।
वेसुध की हाला की हाला,
कालीकी लिपि, गोरी काला।

डाली के माली की पाली,
जीवन-जीवन के वनवाली,
जीने की, मरने की ताली,
कानों के कानों की ताला।

चितवन के चीते को वसकर,
गोरे तारों से कस-कसकर,
हँसकर अन्तरतर भर-भरकर,
कर दी कुल आले से आला।

[सम्भावित रचनाकाल : मार्च-जून, 1961। 'ज्योत्स्ना', मासिक, पटना, जुलाई, 1961, में प्रकाशित। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[265]

तुम आओ, सुहाओ, हमारी गली;
उजली कर दो तरु-तरु की कली।

सब गन्ध समीरण मन्द करो;
कविता कवि विद्रुम छन्द हरो;
अभिवन्दन से रहे नन्दन री;
मर जाय व्यथा, भर जाय तली।

दिक् कुंकुम के पर मारे परी,
वह वासे वसी, अतिशय निखरी;
नत नयनों की अमिताभ अरी,
अभिनन्दन के पलने प' पली।

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[266]

तुम्हारे आँगन में छाये—
वर्ण - गन्ध पाये।

अमरों कर आकलित फलित हैं,
सित लोहित अति असित हरित हैं;
उद्गारों के फल विकसित हैं
पङ्कज नहलाये।

पाद्य अर्घ्य चन्दन से चर्चित,
स्तव से स्तवकों के, अभ्यर्थित,
अञ्जलि से चरणों पर सर्जित,
उन्मन विकसाये।

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[267]

वाँध दो वाँध तटिनी के तट,
तरु-तरु पर गाओ छाया-नट।

बंसी फिर वही वजाये गति,
जन-जन की बढ़े जानकी-रति,
सम्पाती के पर की सम्पति
साह्लाद खुले गद्‌गद-उर-घट।

जिह्वा छोड़ दे अपर गायन,
तक्र से तर्क जैसे सायन,
दूसरी खड़ी हो रामायण,
कृष्णायण का रसाल पनघट।

फिर गीता गीत और वाजे,
रथ पर अर्जुन जैसा राजे,
चमके सुख के मुख दुख साजे,
दूसरे यमन की फैले रट।

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961। **सान्ध्य-काकली में संकलित**]

[268]

तुम्हारी छाँह, तुम्हारी वाँह,
तुम्ही गोपी, गोपी के नाह।

वर्ष वर्षा के गगन - उछाह,
शीत के पोपक विद्रुम-वाह,
ग्रीष्म के शोषक दारुण-दाह,
वदलते हुए माह के माह।

तुम्ही से दिन की सुघर घड़ी,
आँख के काँटे काँप रही,
और कव कुछ भी सही-सही,
दिशा में विदिशा का निर्वाह।

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961। **सान्ध्य-काकली में संकलित**]

तुम्हारे आसरे, हारे हुए जीते हुए आये।
तुम्हारे वासते अन्धे हृदय की आँख से भाये।

तुम्हारे साथ से छोड़ा
असज्जन सङ्ग जो जोड़ा;
सुकृत के कृत्य मुँह मोड़ा
प्रथमता से, तुम्हें पाये।

जगत के जन्मगत अधिकार
आये बन्ध के इस पार,
छुटा ध्वच्छ* कारागार,
उर की आँख मुसकाये।

* यह मूल मे 'ध्वन्ध' भी पढ़ा जा सकता है।

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[270]

हुआ जो काव्य का सिञ्चन,
नही है भूख षड्रस की।
बढ़ा कवि ड्योढ़ से, दे कर,
तुम्ही को दूध की लस की।

य' अविनाशी ह' अवनाशी ?
य' काशी की कटी साक्षी ?—
त्रिशूलावास विश्वासी;
कहाँ है आपके बस की ?

भरा है अन्न मगते मे,
विरोधाभास जगते में;
य' जैसे भक्ति भगते मे;
चिरन्तनता अचिर, मसकी।

खिलाते हो इसी से तुम;
कली, फिर फूल की कुकुम;
अधर उभरे हुए, विद्रुम;
भरी नव यौवना कसकी।

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[271]

पहले के गीत जानूं,
पहले की तान मानूं।

स-रि-री के साथ शोभन
जो कुछ, बहुत विलोभन;
क्यों, पूछते हुओ मन,
मनसिज कहाँ वखानूं?

सर से सरोज निकला,
तो कौन भाव इकला?
ऊपर उठा है सिकला
तो कौन तान तानूं।

भ्रम से भरा हुआ है
पढ़कर मरा हुआ है;
डूबा तरा हुआ है,
मैं कौन प्राण आनूं?

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961। सान्ध्य-काकली मे संकलित]

[272]

छाया के दृश्यों से उतरे,
तन को, मन को जो सौम्य करे।

पातों के प्राणों का कम्पन
जैसे अधरों पर है नर्तन—
नयनों की ज्योति का, सन्तरण
इस तर को उस पार हे हरे।

मर्यादा के बाँध सागरिक
बाँधे, साधे साधु नागरिक,
सत्य उक्ति से फले साम-ऋक्
घर-घर पावन स्तव पवन भरे।

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[273]

कैसे आँखों को परिसर दे ?
कैसे ज्योतिष्को को भर दे ?

जब इसी देश मे पड़ा बहुत,
जो और-न-जाना, बड़ा बहुत,
जो भगा हुआ वह खड़ा बहुत,
तब उस तर के कैसे कर ले ?

यह हवा पछाँह पूरवी क्यो ?
बहती होती यह ज्यों की त्यों;
अवनी भी होती अपनी ज्यों;
क्यों किसी अधूरे को वर ले ?

जिससे ज्यादा न दिखा तुमको,
क्या समझे कभी बुद्धि कम हो ?
उसके कारण मे दिये न रो ?
तब क्या कोई टेढ़े हर ले ?

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-जुलाई, 1961। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[274]

किसी के सामने आये तो क्या आये हो तुम।
दोनों आँखों से एक आँख ही भाये हो तुम।

दीन है, तो सही दुनियाँ भी साथ साथ ही है,
बैठे भी जैसे गले से खुले, गाये हो तुम।

दूर तक छाया हुआ सुर न पार परदे के,
घर में अकेले, डगर के हाथ सताये हो तुम।

साँस में साँस नहीं जैसे, है विश्वास फ़क़त,
पाये हो या रहा जो कुछ भी गँवाये हो तुम।

धोखा है जान जहाँ, कौन जानकारी है?
ठण्डे से अन्न रहे तभी तपाये हो तुम।

[सम्भावित रचनाकाल : अप्रैल-अगस्त, 1961। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[275]

शङ्कर शुभङ्कर हुए जो न, तो क्या?
अन्नपूर्णा विना लो क्या व दो क्या?
काशी विना शान्ति का वास भी है?
क्षिति नही तो अचल विश्वास भी है?
अवशेष भी किसी देश में हो क्या?
खण्ड घेरे खमण्डल वारिदों को,
ऐसे अकेले कहो स्थान क्यों हो?
नहीं जो वीज तो खेत में वो क्या?
विश्व-संसार है तभी है माया,
धर्म-कर्मादि हैं गुण, रूप, काया;
नही तो किसी को दो क्या व लो क्या?

[सम्भावित रचनाकाल : अगस्त-अक्तूबर, 1961। सान्ध्य-काकली में संकलित]

[276]

छन-छन छल-छल जीवन प्रतिपल
वहता निर्मल, गङ्गा का जल।
सौरभ जैसे समीर मलय से,
विश्व विजय के से लेखन-फल।
ऊपर नर्तन निस्वन निस्वन
किरणों की गति ताल चलाचल।
पेड़ों का झुकना उठना फिर
पत्रों का अविचल वादन कल।
विहगों - परिनों का मृदु गायन,
कामायन संसार अमल वल,
समझे जन गण यह दिग्भूपण
घूम - घूमकर ज्योतिर्मण्डल।

[सम्भावित रचनाकाल : अगस्त-अक्तूबर, 1961 । सान्ध्य-काकली में संकलित]

[277]

सहज फूले फले उपवन।
गन्ध मोदित मरुद् घन-घन।

विजय के मद मेदिनी ज्यों,
समाती तन मे नहीं; यों,
पवन के सञ्चरण ही हो
स्निग्ध करते हुए मन-मन।

मल्ल के गल मल्लिका-सी,
विपुल सौरभ भरी काशी,
पश्चतन-भय अविश्वासी
खड़े पढ़ते स्तोत्र-गायन।

भरे सव सन्दर्भ ऐसे
अरण्यों के उपवनों के,
मन्द गुञ्जित कुञ्ज जैसे
अजानित वन्दी-विरद जन।

[सम्भावित रचनाकाल : अगस्त-अक्तूबर, 1961 । सान्ध्य-काकली मे संकलित]

[278]

मेटिनी वाली वारी दे वारी धना;
मुझे तार दे ताली से तारी घना।
तुझे गुल की खवर, मेरा वुलवुल समर—
आया डाली से डाली के नीचे उतर।
तेरे काँपे मे आकर फसाये है पर,
कहीं कोई तो होता जो ऐसा वना।
नाची क्या अप्सरा कोई जैसा कि तू,
भाव के हाथ-पावों के चाले तलू,
चली गरदन कमर कैसी, कैसी भी रू,
कोई रह न गया न हुआ जो सना।
वंसी वाजी, विराजी जो तू स्टेज पर,
तवले ठेके-परन के सुढर से सुढर,
साज ने वाज मे और छोड़ा न घर,
गीत मे गाया तूने जो, क्या वन्दना।

[सम्भावित रचनाकाल : अगस्त-अक्तूबर, 1961। सान्ध्य-काकली मे संकलित]

[279]

हाथ वीणा, समासीना;
विशद-वादन-रत प्रवीणा।

घिरे वादल गगन - मण्डल,
तरल-तारक-नयन अविचल,
तार के झंकृत सुकोमल
कराहत कर का सुखीना।

राग - सावन मनोभावन,
भामिनी के भवन पावन,
दीप्ति नयनों की सुहावन,
नाक का हिल रहा मीना।

[सम्भावित रचनाकाल : अगस्त-अक्तूबर, 1961। 'सरस्वती', मासिक, प्रयाग, नवम्वर, 1961, में प्रकाशित। सान्ध्य-काकली में संकलित]

पत्रोत्कण्ठित, जीवन का विष बुझा हुआ है
आशा का प्रदीप जलता है हृदय-कुंज में,
अन्धकार पथ एक रश्मि से सुझा हुआ है
दिङ्निर्णय ध्रुव से जैसे नक्षत्र-पुंज में।
लीला का सम्वरण-समय फूलों का जैसे
फलों फले या झरे अफल, पातों के ऊपर
सिद्ध योगियों जैसे या साधारण मानव,
ताक रहा है भीष्म शरों की कठिन सेज पर।
स्निग्ध हो चुका है निदाघ, वर्षा भी कर्षित,
कल शारद कल्य की, हैम लोमों आच्छादित,
शिशिर भिद्य, बौरा वसन्त आमों आमोदित;
बीत चुका है दिक्‌चुम्बित चतुरंग, काव्य, गति,
यतिवाला, ध्वनि, अलंकार, रस, राग बन्ध के
वाद्य-छन्द के रणित गणित छुट चुके हाथ से—
क्रीड़ाएँ व्रीणा में परिणत। मल्ल भल्ल की
मारें मूर्छित हुई। निशाने चूक गये हैं।
झूल चुकी है खाल—ढाल की तरह तनी थी।
पुनः सवेरा एक और फेरा है जी का।

[सम्भावित रचनाकाल : अगस्त-अक्तूबर, 1961। सान्ध्य-काकली में संकलित]

परिशिष्ट

मौलिक कविताएँ

[3]

जगने दिया जो न दिया जगने मग मे मगने को गने ही रहो।
अलिपात की गात विसातन वाहुलता के वितान तने ही रहो॥
छवि सावन के सुख झूले में झूले रंगों के सनेह घने ही रहो।
यहाँ जैसे कसाले के वैसे कराले रिसाले के साले वने ही रहो॥

[रचनाकाल : 16 दिसम्बर, 1958। सान्ध्य-काकली की भूमिका में उद्धृत]

[4]

निपट कपट तुम श्याम, हाँ हाँ,
लाजि - मान हरि, जमुना में डारी,
वारि वारि करि पियासों पुकारी,
चोरे चित-मन चोरे, कैसे निवारी,
कलेजे कटारी, हरि लिये तेरो नाम।

[सम्भावित रचनाकाल: 1959-1961 ई.। सान्ध्य-काकली की भूमिका में उद्धृत]

[5]

पनघटवा गारि दै वजुरमारे।
सास ससुर की कान न मानी
ठानी तुझसे प्रीति रीति की,
पिया विदेस सौतिन घर सोये,
जुगुत जुगुत पारि दै, वजुरमारे।

[सम्भावित रचनाकाल : 1959-1961 ई.। सान्ध्य-काकली की भूमिका में उद्धृत]

खेलत रहलूं अगनवाँ, सखी संग साथी हो।
आइ गवन निगचाई, भवन निगचाई, वदन भैले धूमिल हो।
पहिले गवनवाँ ऐलूं, पनिया के भेजलन हो,
देखि कुआ मोर भइल भारी, त गागरि फूटलि हो।
कवन उतर घर देचि, हाथ दोनो छूंछे हो,
घर मोरी सासु रिसानि, त ननदी हठीली हो।
केहिसे कहवि दुख आपनि, संगो न साथी हो,
ठाढ़ि मोहरि धनि सुसके, मने पछतवली हो।

[सम्भावित रचनाकाल : 1959-1961 ई.। **सान्ध्य-काकली** की भूमिका में उद्धृत]

भूमिका

1. 'अर्चना' की भूमिका

स्वयोक्ति

प्रचलित कुल तालों से समन्वित 'अर्चना' नामक आधुनिक गीतों का संग्रह, ईश्वर की इच्छा से प्रस्तुत होकर, पाठक-पाठिकाओं के सम्मुख उपस्थित है; परीक्षण में उत्तीर्ण होने पर हम श्रम को सार्थक समझेंगे। यह पुस्तिका के बहिरंग की व्यापारिक बात हुई, जिस पर आश्रम-जीवन की दिनचर्या, भोजन-पान आदि निर्भर है, अन्तरङ्ग विषय यौवन से अतिक्रान्त कवि के परलोक से सम्बद्ध है, इसलिए यहाँ सम्मति का फल निष्काम में ही होगा। रससिद्धि की परताल कीजिएगा तो कहना होगा कि हिन्दी के भाषा-साहित्य मे ज्ञानी और भक्त कवियो की पंक्ति बैठी हुई है, जिनकी रचनाएँ साधारण जनों के जिह्वाग्र से अमृत की धारा बहा चुकी हैं, ऐसी अवस्था में लोकप्रियता की सफलता दुराशामात्र है। अत: यहाँ प्राचीन परम्परा से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि—

भाव कुभाव अनख आलसहू;
राम जपत मंगल दिशि दसहू।

गीत के साथ गले का सम्बन्ध पहला है। प्रस्तुत गीतों की तद्वत् सफलता के न होने का कारण खड़ी बोली का पाठ; इसलिए गले से सफलतापूर्वक न उतर जाना है। साधारणजन देहातों में यह भाषा नहीं बोलते। उनके गले और आधुनिक शरीर की नेमि अभी तक मज-कर मिश्रित नही हुई। खड़ी बोली की गाड़ी के और चलते रहने की आवश्यकता है; ये गीत जैसे उसी की पूर्ति करते हैं। यथाशक्ति सुरचित शब्दों की शृंखला रखी गयी है जो सहज ही उच्चरित हो जाय, जिससे आधुनिक गीतों की मेडें और स्वर-कम्पन प्राचीन शब्दोच्चारण की दीवारों को पार करके अपनी सत्यता पर समासीन हों। दो-एक उदाहरण मुखोच्चारणवाले हम देते हैं—

तुम्हारे छाँह है, छल है;
तुम्हारे बाल है, बल है;
× × ×
बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु;
पूछेगा सारा गाँव बन्धु!

व्रजभाषा-संगीत में 'सा' और 'ना' के भिन्न उच्चारण नहीं। खड़ी बोली में इसकी भी विपुलता है। 'भव-अर्णव की तरणी तरुणा' पद्य के 'ण' को 'न' उच्चारित करने पर खड़ी बोली का सिंगार बिगड़ जायगा, मगर व्रजभाषा का संगीत-मय रूप खड़ा हो जायगा। चूंकि खड़ी बोली देश-भर की साहित्यिक भाषा बन चुकी है, इसलिए व्रज-भाषा अनुकूलता की पूर्वी-उच्चारण-पद्धति ही ग्राह्य नही। पंजाब आदि प्रान्त 'न' के उच्चारण मे 'ण' की प्रधानता रखते है, इसलिए गीतों की एक-देशिकता नही रह सकी। उर्दू की गजलो मे 'ण' का एकान्त अभाव है। अंग्रेजी मे भी इसका उच्चारण नही है। उच्चारण-विज्ञान मे तत्तद् भाषाओ की यह कमी है। हमारा अंग्रेजी से घनिष्ठ सम्बन्ध था, जिसका परिचय, पढ़ाई की कोताही से जितना छिपाया गया था कविता के प्रकारण-प्रकाशन से उतना ही बताया गया। हम यहाँ केवल उच्चारण-विज्ञान की एक बात पर कह रहे है। हमारे अंग्रेजी के प्रशंसक कलकत्ता, मद्रास, बम्बई, लखनऊ आदि के विद्वान् मित्र अन्तर्जातीय अंग्रेजी के सम्बन्ध में पूर्ववत् हिमायती समझने की कृपा करें, साथ ही इतना जोड़े रहें कि हमारा हिन्दी के साथ, सस्कृत आदि उसकी बहनों, माओ और मातामहियो से भी परिचय और श्रद्धाभाव है।

इस सत्योक्ति को विशालता न देकर रसानुग्रहणलिप्सुओ से हमारा कालिदासवाला भ्रमर-वेदन ही है; वे उसी तरह गीत पुष्पाधरों से लगें। शृङ्गार के लिए क्षमा—

"चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीम्
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधुरम्,
वयं शान्त्वान्वेषाणमधुकर हतास्त्वं खलु कृती।"

कला मन्दिर
दारागंज, प्रयाग।
26-8-50

—निराला

○○○